एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र
Subheading
एक योगी की प्रेमकथा
प्रेमयोगी वज्र

एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र

एक योगी की प्रेमकथा

लेखक: प्रेमयोगी वज्र

२०१७

पुस्तक-परिचय~

प्रेमयोगी वज्र एक आध्यात्मिक रहस्यों से भरा हुआ व्यक्ति है। वह आत्मज्ञानी (enlightened) है, व उसकी कुण्डलिनी भी जागृत हो चुकी है। उसने प्राकृतिक रूप से भी योगसिद्धि प्राप्त की है, व कृत्रिमविधि अर्थात कुण्डलिनीयोग के अभ्यास से भी। उसके आध्यात्मिक अनुभवों को लेखक ने पुस्तक में, उत्तम प्रकार से कलमबद्ध किया है। इस पुस्तक में प्रेमयोगी वज्र ने अपने अद्वितीय आध्यात्मिक व तांत्रिक अनुभवों के साथ अपनी सम्बन्धित जीवनी पर भी थोड़ा प्रकाश डाला है। इसमें जिज्ञासु व प्रारम्भिक साधकों के लिए भी आधारभूत व साधारण कुण्डलिनीयोग-तकनीक का वर्णन किया गया है। आधारभूत यौनयोग पर भी सामाजिकता के साथ सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है। प्रेमयोगी वज्र ने इसमें अपने क्षणिकात्मज्ञान (glimpse enlightenment) व सम्बंधित परिस्थितियों का भी बखूबी वर्णन किया है जो लोग योग के पीछे छिपे हुए मनोविज्ञान को समझना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक किसी वरदान से कम नहीं है। इस पुस्तक में स्त्री-पुरुष संबंधों का आधारभूत सैद्धांतिक रहस्य भी छिपा हुआ है। यदि कोई प्रेमामृत का पान करना चाहता है, तो इस पुस्तक से बढ़िया कोई भी उपाय प्रतीत नहीं होता। इस पुस्तक में सामाजिकता व अद्वैतवाद के पीछे छिपे हुए रहस्यों को भी उजागर किया गया है। वास्तव में यह पुस्तक सभी क्षेत्रों का स्पर्श करती है। अगर कोई हिन्दुवाद को गहराई से समझना चाहे, तो इस पुस्तक के समान कोई दूसरी पुस्तक प्रतीत नहीं होती। यदि दुर्भाग्यवश किसी का पारिवारिक या सामाजिक जीवन समस्याग्रस्त है, तो भी इस पुस्तक का कोई मुकाबला नजर नहीं आता। यह पुस्तक साधारण लोगों (यहाँ तक कि तथाकथित उत्पथगामी व साधनाहीन भी) से लेकर उच्च कोटि के साधकों तक, सभी श्रेणी के लोगों के लिए उपयुक्त व लाभदायक है। इसको पढ़कर पाठक गण अवश्य ही अपने अन्दर एक सकारात्मक परिवर्तन महसूस करेंगे। इस पुस्तक को शरीरविज्ञान दर्शन~ एक आधुनिक कुंडलिनी तंत्र [एक योगी की प्रेमकथा] नामक मूल पुस्तक से लिया गया है। कुछेक पाठकों ने कहा कि इस पुस्तक में बहुत से विषय एकसाथ हैं, इसलिए कुछ भ्रम सा पैदा होता है। कई लोग लंबी पुस्तक नहीं पढ़ना चाहते, और कई किसी एक ही विषय पर केन्द्रित रहना चाहते हैं।

हमने मूल पुस्तक से छेड़छाड़ करना अच्छा नहीं समझा, क्योंकि उसे प्रेमयोगी वज्र ने अपनी अकस्मात व क्षणिक कुंडलिनी जागरण के एकदम बाद लिखा था, जिससे उसमें कुछ दिव्य प्रेरणा और दिव्य शक्ति हो सकती थी। इसीलिए हमने वैसे पाठकों के लिए उसके मात्र कुंडलिनी तंत्र वाले भाग को ही नए रूप में प्रस्तुत किया। ऐसी ही, शरीरविज्ञान दर्शन नाम की एक अन्य पुस्तक भी है, जो इसी मूल पुस्तक से निकली है। इसमें शरीर के दार्शनिक पहलू पर ही मुख्यतः गौर किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुस्तक में मानव जीवन का सार व रहस्य छिपा हुआ है। आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक पाठकों की अपेक्षाओं पर बहुत खरा उतरेगी।

लेखक परिचय~

प्रेमयोगी वज्र का जन्म वर्ष 1975 में भारत के हिमाचल प्रान्त की वादियों में बसे एक छोटे से गाँव में हुआ था। वह स्वाभाविक रूप से लेखन, दर्शन, आध्यात्मिकता, योग, लोक-व्यवहार, व्यावहारिक विज्ञान और पर्यटन के शौक़ीन हैं। उन्होंने पशुपालन व पशु चिकित्सा के क्षेत्र में भी प्रशंसनीय काम किया है। वह पोलीहाऊस खेती, जैविक खेती, वैज्ञानिक और पानी की बचत युक्त सिंचाई, वर्षाजल संग्रहण, किचन गार्डनिंग, गाय पालन, वर्मीकम्पोस्टिंग, वैबसाईट डिवेलपमेंट, स्वयंप्रकाशन, संगीत (विशेषतः बांसुरी वादन) और गायन के भी शौक़ीन हैं। लगभग इन सभी विषयों पर उन्होंने दस के करीब पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनका वर्णन एमाजोन ऑथर सेन्ट्रल, ऑथर पेज, प्रेमयोगी वज्र पर उपलब्ध है। इन पुस्तकों का वर्णन उनकी निजी वैबसाईट demystifyingkundalini.com पर भी उपलब्ध है। वे थोड़े समय के लिए एक वैदिक पुजारी भी रहे थे, जब वे लोगों के घरों में अपने वैदिक पुरोहित दादा जी की सहायता से धार्मिक अनुष्ठान किया करते थे। उन्हें कुछ उन्नत आध्यात्मिक अनुभव (आत्मज्ञान और कुण्डलिनी जागरण) प्राप्त हुए हैं। उनके अनोखे अनुभवों सहित उनकी आत्मकथा विशेष रूप से “शरीरविज्ञान दर्शन- एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र (एक योगी की प्रेमकथा)” पुस्तक में साझा की गई है। यह पुस्तक उनके जीवन की सबसे प्रमुख और महत्त्वाकांक्षी पुस्तक है। इस पुस्तक में उनके जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण 25 सालों का जीवन दर्शन समाया हुआ है। इस पुस्तक के लिए उन्होंने बहुत मेहनत की है। एमाजोन डॉट इन पर एक गुणवत्तापूर्ण व निष्पक्षतापूर्ण समीक्षा में इस पुस्तक को पांच सितारा, सर्वश्रेष्ठ, सबके द्वारा अवश्य पढ़ी जाने योग्य व अति उत्तम (एक्सेलेंट) पुस्तक के रूप में समीक्षित किया गया है। गूगल प्ले बुक की समीक्षा में भी इस पुस्तक को फाईव स्टार मिले थे, और इस पुस्तक को अच्छा (कूल) व गुणवत्तापूर्ण आंका गया था। प्रेमयोगी वज्र एक रहस्यमयी व्यक्ति है। वह एक बहुरूपिए की तरह है, जिसका अपना कोई निर्धारित रूप नहीं होता। उसका वास्तविक रूप उसके मन में लग रही समाधि के आकार-प्रकार पर निर्भर करता है, बाहर से वह चाहे कैसा भी दिखे। वह आत्मज्ञानी (एनलाईटनड) भी है, और उसकी कुण्डलिनी भी जागृत हो चुकी है। उसे आत्मज्ञान की अनुभूति प्राकृतिक रूप से / प्रेमयोग से हुई थी, और कुण्डलिनी जागरण की अनुभूति कृत्रिम रूप से / कुण्डलिनी योग से हुई। प्राकृतिक समाधि के समय उसे

सांकेतिक व समवाही तंत्रयोग की सहायता मिली, जबकि कृत्रिम समाधि के समय पूर्ण व विषमवाही तंत्रयोग की सहायता उसे उसके अपने प्रयासों के अधिकाँश योगदान से प्राप्त हुई।

अधिक जानकारी के लिए, कृपया निम्नांकित स्थान पर देखें-

https://demystifyingkundalini.com/

वैधानिक टिप्पणी (लीगल डिस्क्लेमर) ~

यह पुस्तक एक प्रकार का आध्यात्मिक-भौतिक मिश्रण से जुड़ा हुआ मिथक कथाओं/घटनाओं का साहित्य है, जो आध्यात्मिक तंत्र विज्ञान से मिलता-जुलता है। इसको किसी पूर्वनिर्मित साहित्यिक रचना की नक़ल करके नहीं बनाया गया है। फिर भी यदि यह किसी पूर्वनिर्मित रचना से समानता रखती है, तो यह केवल मात्र एक संयोग ही है। इसे किसी भी दूसरी धारणाओं को ठेस पहुंचाने के लिए नहीं बनाया गया है। पाठक इसको पढ़ने से उत्पन्न ऐसी-वैसी परिस्थिति के लिए स्वयं जिम्मेदार होंगे। हम वकील नहीं हैं। यह पुस्तक व इसमें लिखी गई जानकारियाँ केवल शिक्षा के प्रचार के नाते प्रदान की गई हैं, और आपके न्यायिक सलाहकार द्वारा प्रदत्त किसी भी वैधानिक सलाह का स्थान नहीं ले सकतीं। छपाई के समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि इस पुस्तक में दी गई सभी जानकारियाँ सही हों व पाठकों के लिए उपयोगी हों, फिर भी यह बहुत गहरा प्रयास नहीं है। इसलिए इससे किसी प्रकार की हानि होने पर पुस्तक-प्रस्तुतिकर्ता अपनी जिम्मेदारी व जवाबदेही को पूर्णतया अस्वीकार करते हैं। पाठकगण अपनी पसंद, काम व उनके परिणामों के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं। उन्हें इससे सम्बंधित किसी प्रकार का संदेह होने पर अपने न्यायिक-सलाहकार से संपर्क करना चाहिए।

सर्वप्रथम यह पुस्तक श्री भोले महादेव को समर्पित है, जो कि तंत्रशास्त्र के आदि गुरु हैं। तदनंतर यह पुस्तक प्रेमयोगी वज्र के पूज्य पितामह श्री/गुरु/उन्हीं वृद्धाध्यात्मिक पुरुष को समर्पित है, जो कि एक महान व व्यावहारिक कर्मयोगी थे, और तंत्रप्रवर्तक महादेव के अवतार प्रतीत होते थे।

शविद का परिशीलन कुण्डलिनी को भी प्रतिष्ठापित करता है, जिसे फिर हठयोग के द्वारा परिपक्व करके, ऊपर चढ़ाया जा सकता है, व जागृत किया जा सकता है। शविद इड़ा (भावमय/अनुभवमय नाड़ी) व पिंगला (अभावमय/कर्ममय नाड़ी) के रास्तों से कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन को संतुलित भी करता है। एक स्वयं की अनुभूत की हुई रहस्य की बात कहता हूँ। कुण्डलिनी वास्तव में सबसे प्यारी भौतिक आकृति ही है, जिसके बार-बार के मित्रतापूर्वक अभ्यास व परिचय से वह मन में स्थिर होने लगती है, जिसको कि कुण्डलिनी का प्रतिष्ठित होना कहा जाता है। शविद उन्मुक्त व मानवतापूर्वक जीवन-व्यवहारों का भरपूर समर्थन करता है, जिनसे कि भौतिक वस्तुएँ मानसिक बनने लगती हैं। हाँ, इनके साथ-साथ शविद की ओर भी ध्यान जरूर रहना चाहिए। इसका मतलब है कि चित्तवृत्तियों व उनके भावों को रोकना नहीं है, अपितु उनके साथ बीच-बीच में शविद की ओर क्षणिक व टेढ़ी नजर डालनी है सिर्फ, ताकि जैसा है, वैसा ही चलता रहे और इससे कोई किसी तरह की दखलंदाजी न होए। इससे उन व्यवहारों में अनासक्ति का तड़का लगेगा और वे पवित्र होकर शुद्ध मानसिक बन जाएंगे। भौतिकता को नकारने वाले को मानसिकता भी उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि मानसिकता का स्रोत भौतिकता ही तो है। यदि कोई शविद के बिना भौतिकता या किसी भौतिक वस्तु को स्वीकारेगा, तो उसे उसके प्रति आसक्ति हो जाएगी, जिससे वह उसी के पीछे लगा रहेगा, बजाय इसके कि वह उसे मन में शुद्ध रूप में स्थिर करके विकसित करे। इससे वह कुण्डलिनी भौतिकता के ही आश्रित रहेगी, जिसमें रहकर उसका पूर्ण विकास संभव ही नहीं है।

शविद ने प्रेमयोगी वज्र की तब भरपूर सहायता की थी, जब उसकी कुण्डलिनी आत्मज्ञान के स्पर्श के बाद नीचे उतर आई थी, और फिर इड़ा नाड़ी से होकर ऊपर चढ़ गई थी। उस समय वह मानसिक रूप से उत्तेजित, अति संवेदनशील, घबराया हुआ सा, स्त्री की तरह व्यवहार वाला, दिव्य व हसीन सपनों में खोया हुआ, थका हुआ सा और शारीरिक रूप से शिथिल सा रहता था। मानसिक उत्तेजना के बाद, वह अचानक गहरे अवसाद में डूब जाता था। अवसाद (अंधकारमय अवस्था) के समय, उसकी कुण्डलिनी पिंगला नाड़ी में प्रविष्ट कही जाती थी। वह संतुलित रूप से दोनों नाड़ियों में, अर्थात सुषुम्ना में प्रविष्ट नहीं हो रही थी। उसकी शारीरिक व यहाँ तक कि, मानसिक शक्ति भी बहुत क्षीण हो गई थी, क्योंकि कुण्डलिनी हर समय पूरे वेग के साथ उसके मस्तिष्क में डेरा डाले रखती थी। वह कुण्डलिनी जीवित व प्रत्यक्ष मनुष्य से भी अधिक प्रत्यक्ष, जीवंत व स्पष्ट प्रतीत होती थी। उसके शरीर की सारी खुराक उसको लगातार कायम रखने में खर्च

हो रही थी। भूख उसकी कम व अजीब सी होती थी। कभी भूख समाप्त रहती थी, तो कभी एकदम से बढ़ जाया करती थी, जिसको फिर संभालने में कठिनाई आती थी। उसकी कार्य करने की निपुणता भी क्षीण हो गईथी, व वह अकेले में खोया रहता था, ज्यादातर समाधि के आनंद में। यद्यपि आध्यात्मिक रूप से ये लक्षण सामान्य थे, परन्तु भौतिक रूप से तो विघ्नकारी ही थे। उस समय लेखक ने भी किसी अज्ञात प्रेरणा से शविद का एक पृष्ठ का संक्षिप्त व लघु रूप, विश्वविद्यालय की पत्रिका में प्रकाशित किया था। कुशाग्रबुद्धि प्रेमयोगी वज्र ने उस लेख से प्रेरणा ली और उससे शरीरविज्ञान दर्शन ही बना डाला। लेखक ने तो उसे केवल कलम से कागज़ पर उकेरा ही है, मात्र। तभी से उसके द्वारा शविद के चिंतन का सिलसिला शुरु हो गया था, जिससे लगभग २० सालों के व्यावहारिक व रुचिप्रद प्रयास से, यह दर्शन बन कर पूर्ण हुआ। उस एक पृष्ठ के शविद से संपूर्ण शविद उसी तरह तैयार हो गया, जैसे एकश्लोकी भागवत से संपूर्ण श्री भागवत पुराण निर्मित हुआ था। वह शविद उसके मानसिक संतुलन के लिए रामबाण सिद्ध हुआ। इससे उसकी कुण्डलिनी पिंगला व इड़ा, दोनों नाड़ियों से होते हुए समान रूप से प्रवाहित होने लगी और वे परस्पर विपरीत स्वभाव होने के कारण एक दूसरे को संतुलित करने लगी। २० वर्षों के व्यस्त जीवन के बीच शविद के परिशीलन के बाद जब प्रेमयोगी वज्र को अनुकूल माहौल के साथ कुछ शाँतियुक्त काल के १- २ वर्ष उपलब्ध हुए, तो वह अनायास ही योग की उन्नत अवस्था में स्थित हो गया। इसका अर्थ है कि शविद के जीवन भर के परिशीलन के उपरांत मोक्ष अवश्य ही संभव है, क्योंकि जीवन के अंतिम १- २ वर्ष अवश्य ही शाँतिपूर्ण होते हैं (भौतिक या मानसिक या उभय रूप से)। यह भी हो सकता है कि शविद व कुण्डलिनीयोग के संयुक्त-अभ्यास से पुरुष किसी ऐसे दिव्य ग्रह-नक्षत्र पर जन्म ले, जहाँ के पुरुषों का मस्तिष्क साधनामय होता हो व स्वयं ही योग-साधना में तत्पर रहता हो, सरलता से आत्मज्ञान कराने के लिए; और जहाँ पर मस्तिष्क को संबल देने के लिए पृथ्वी-ग्रह पर किए जाने वाले तंत्रमय-टोटकों को करने की जरूरत न पड़ती हो।

कुण्डलिनी-ग्रंथों में कहा गया है कि हृदय से ७२००० नाड़ियाँ निकलकर, पूरे शरीर में फैल जाती हैं; परन्तु एक नाड़ी मस्तिष्क की ओर जाती है, जो ब्रम्ह तक ले जाती है, अर्थात कुण्डलिनीजागरण करवाती है। वास्तव में, यहाँ पर नाड़ियों का अर्थ प्रचंड अनुभूतियाँ ही हैं। सभी प्रचंड अनुभूतियाँ चक्षु आदि बाहरी इन्द्रियों के सहयोग से बनी होती हैं, जिन्हें ७२००० नाड़ियाँ कहा गया है। परन्तु एक ही अनुभूति, जो सर्वाधिक प्रचंड भी होती है, वह केवल मस्तिष्क में ही उत्पन्न होती है, जिसे उस अकेली ऊर्ध्वगामी नाड़ी के रूप में दर्शाया गया है। ७२००० की बड़ी

संख्या इसलिए है, क्योंकि ऐसी असंख्य नाड़ीचालित संवेदनाएं हैं, जिन्हें हम अनुभव नहीं कर सकते, परन्तु वे शरीर को चला रही हैं। उदाहरण के लिए, पेट को चलाने वाली, हृदय को चलाने वाली आदि-आदि असंख्य नाड़ियाँ।

शाँतिकाल भी सापेक्ष होता है। यह भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न होता है। द्वैत के साथ तो कोई भी व्यक्ति पूर्णतया कर्मठ नहीं बन सकता। अद्वैतदृष्टिकोण स्वयं ही व्यक्ति को पूर्ण कर्मठता की ओर ले जाता है। जब कोई व्यक्ति अद्वैत के साथ पूर्णतया कर्मठ (मानसिक व शारीरिक, दोनों रूप से) बना रहता है, तभी वह कर्मयोगी कहलाता है। शविद की सहायता से, प्रेमयोगी वज्र का कर्मयोग १५- २० वर्षों के निरंतर प्रयास से सफल हुआ। यद्यपि समयावधि में भिन्नता हो सकती है। फिर किसी अज्ञात प्रेरणा से, यदि २-३ वर्षों के लिए प्रवास आदि के कारण, अपना निवासस्थान बदलना पड़े, तो उस कर्मयोगी का कर्मप्रवाह टूट जाता है। उससे वह उतनी गहरी शाँत अवस्था को अनुभव करता है, जितनी गहरी शांतावस्था को एक साधारण व्यक्ति तब अनुभव करता है, जब वह सब कुछ त्याग कर पूर्णसंन्यास ग्रहण कर लेता है। इस तरह से, उस कर्मयोगी को, उस लघुशाँतिकाल में की हुई, अपनी कुण्डलिनीयोगसाधना का उतना ही महान व शीघ्र फल प्राप्त होता है, जितना कि उक्त पूर्णसंन्यासी को। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी तो वही कर्मयोगी वाली घटना घटित हुई और वह एक साल में ही कुण्डलिनीजागरण का अनुभव कर सका, यद्यपि उसने कुण्डलिनीयोग के साथ यौनयोग का आश्रय भी लिया था।

अद्वैतयुक्त व व्यस्त जीवनव्यवहार के बाद शाँतिपूर्ण अवस्था में कुण्डलिनीयोग का अभ्यास करना अत्यधिक लाभदायक होता है। व्यस्तजीवन में अद्वैतधारणा को अपनाने से यह लाभ होता है कि वह हर समय कर्मों, फलों व संकल्पों के अनुभवों के साथ मिश्रित होते हुए, मानसिकता को निरंतर जागृत रखती है। जब शान्तिपूर्णकाल में इन अनुभवों के अभाव की अवस्था से गुजरना पड़ता है, तब स्वयं ही व्यक्ति कुण्डलिनीयोग की ओर आकर्षित हो जाता है, क्योंकि वह जागृत मानसिकता की आदत से विवश होता है। उस समय वह जागृत मानसिकता उसे कुण्डलिनी से ही मिल रही होती है। यदि पूर्व में उसने द्वैत के साथ जीवनयापन किया हो, तब वह मानसिकता-हीनता का भी अभ्यस्त होता है, अतः वह मानसिकता को जागृत रखने वाले कुण्डलिनीयोग की ओर, सही व रुचिकर ढंग से प्रेरित नहीं हो पाता।

प्रेमयोगी वज्र ने अपने लाभ हेतु जिस एकश्लोकी शविद को अपने आत्मज्ञान के प्रचंड प्रभाव में होने पर उद्गीरित किया था, वह निम्नांकित है:-

मानवता से बड़ा धर्म नहीं, काम से बढ़ कर पूजा नहीं; समस्या से बड़ा गुरु नहीं, गृहस्थ से बड़ा मठ नहीं।

"समस्या से बड़ा गुरु नहीं", यह उपरोक्त वाक्यांश विरोधाभास व गूढ़ता से भरा हुआ है। यह सर्वथा सत्य है कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं, परन्तु यह भी सत्य है कि अधार्मिक (मानवताहीन) गुरु विनाशकारी भी हो सकते हैं, जैसे कि धार्मिक उग्रपंथी। इसलिए आँखें खुली रखकर चलने की आवश्यकता होती है, बिना सोचे-समझे विश्वास करने की नहीं। साथ में यह भी लिखा है कि "मानवता से बड़ा धर्म नहीं"। गुरुसेवा तो मानवता का एक अभिन्न अंग है। एक बात और है। यदि किसी को कुछ सीखने व जानने की इच्छा ही नहीं है, तो गुरु भी उसकी अधिक सहायता नहीं कर सकते। सीखने व जानने की इच्छा, समस्याओं से ही उत्पन्न होती है। यहाँ पर समस्या को मानवता संतुलित कर रही है, अर्थात समस्या इतनी अधिक भी नहीं होनी चाहिए कि मानवता ही खतरे में पड़ जाए। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि काम करते-करते जो छोटी-मोटी समस्याएँ आती हैं, वे स्वयं ही उचित दिशानिर्देशन करके सिखाते हुए, हमें आगे बढ़ाती रहती हैं। इसके बहुत से उदाहरण मौजूद हैं। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि केवल समस्याओं से ही सीखना चाहिए, अनुभवी लोगों से नहीं सीखना चाहिए, क्योंकि अनुभवी लोगों से सीखने का गुण भी तो गद्योक्त मानवता में ही विद्यमान होता है। इसका एक और अर्थ यह भी है कि बैठे-बिठाए को गुरु कुछ भी प्रदान नहीं कर सकते हैं। कुछ प्राप्त करने के लिए स्वयं ही संघर्ष करना पड़ता है, स्वयं ही सभी समस्याओं से जूझना पड़ता है, और स्वयं ही सभी अनुभव प्राप्त करने पड़ते हैं। गुरु तो केवल मार्गदर्शन ही कर सकते हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि कोई विशेष नियम, धर्म, पंथ या कोई अन्य सापेक्ष प्रक्रिया, सभी लोगों के लिए एकसमान रूप से लाभकारी नहीं भी हो सकती है। अतः बंधे-बंधाए नियमों के अंतर्गत रहते हुए भी, समस्या के अनुसार, इधर-उधर भी, अद्वैत के साथ हाथ-पैर मारते रहना चाहिए। यह वैसे ही है, जैसे पालतु पशुओं को पूर्ण रूप से खुला न छोड़ते हुए, उन्हें सीमित क्षेत्र में ही, निगरानी के अंतर्गत चराया जाता है। यदि वंश-परम्परा से चले आ रहे नियमों को एकदम से छोड़ा जाए, तो "घर का ना घाट का" वाली स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। वैसे भी, समस्या ही तो यह बताती है कि कौन सा काम, कब व कैसे करना है। यदि दर्द पैर में है, तो सिर की औषधि लेने से क्या लाभ? "काम से बढ़कर पूजा नहीं" व "गृहस्थ से बड़ा मठ नहीं", ये दोनों वाक्यांश तो कर्मयोग एवं तंत्र के मूलभूत सिद्धांत हैं। बुद्धिमान प्रेमयोगी वज्र ने ये सभी बातें पूरी तरह से समझीं, तभी तो उसने प्रस्तुत पुस्तक में इनको सिद्ध करके भी दिखाया है। "काम

से बढ़कर पूजा नहीं, मानवता से बड़ा धर्म नहीं", इन दोनों वाक्यांशों का मिश्रित अर्थ यह है कि मानवता से भरे हुए काम से बढ़ कर कोई भी पूजा नहीं हो सकती। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पूजा व धर्म छोटी चीजें हैं; अपितु इसका अर्थ है कि यदि कोई व्यक्ति अमानवता के कार्य करते हुए, पूजा या धर्म का ढोंग करता है, तो उसकी पूजा या धर्म मानवतावादी की मानवता से बड़े नहीं हैं। वास्तव में, ईश्वर प्रत्यक्षरूप में नहीं दिखता; अपितु वह उसकी मानवतापूर्ण, अद्वैतपूर्ण एवं अनासक्तिपूर्ण प्रकृति के रूप में ही दिखाई देता है। इसलिए इस प्रकार के प्राकृतिक व्यवहार (मानवीय कर्म) से ईश्वर की पूजा स्वयं ही हो जाती है, व अप्रत्यक्षरूप में उसका ध्यान भी निरंतर बना रहता है। शविद से ऐसा व्यवहार बहुत शीघ्र विकसित होता है। वास्तव में, काम या कर्म, अच्छे काम/सत्कर्म का ही पर्यायवाची शब्द है। बुरे काम को तो दुष्कर्म या कुकर्म कहते हैं। इसलिए देहपुरुष की तरह, कर्म को पूजा समझ कर करना तो सर्वोत्तम भक्ति है।

मानवता-धर्म ही वास्तविक धर्म है। दूसरे मानवनिर्मित धर्म तो केवल इसके सहकारी अंग ही हैं। यदि वे इसकी अवहेलना करते हैं, तब तो संभवतः वे अधर्म से भी निम्नतर माने जाएं। मानवता का अर्थ है, प्रत्येक समय व प्रत्येक स्थिति में मानवता के हित में ही प्रयास करना। देहपुरुषों को ही देख लें। वे निरंतर व बिना थके, इसलिए काम करते हैं, ताकि हम सभी का जीवन संभव बना रहे। उन्होंने न तो कोई धर्म अपनाया है, और न ही कोई धार्मिक पुस्तक पढ़ी है। परन्तु यह उनकी प्राकृतिक व स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे मानवता की भलाई व विकास के लिए, अद्वैत व अनासक्ति के साथ, हर प्रकार से प्रयासरत रहते हैं। क्या उस वायु ने किसी धर्म का अध्ययन किया है, जिसे हम निरंतर ग्रहण करके जीवित रहते हैं? नहीं। परन्तु उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह हमें जीवन देती रहे। इसी तरह से; क्या महान सूर्य, जल, अग्नि व धरती माता ने कभी किसी धार्मिक विश्वविद्यालय से उपाधि ग्रहण की है? नहीं। उन सभी की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अद्वैतभाव के साथ, जीवन के हित में कर्म करते रहें। इस प्रकार से, यह सिद्ध है कि धर्म तो प्रकृति में, हर स्थान पर व हर समय, स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। मनुष्य ने तो केवल कम या अधिक रूप से, उस धर्म की नक़ल ही की है।

इड़ा-पिंगला के ऊपर भी आजकल भ्रम की सी स्थिति बनी हुई प्रतीत होती है। सरल सी बात है। सारे शरीर की संवेदनाएं इड़ा नाड़ी (afferent nerve channel) के द्वारा इकट्ठी की जाती हैं, और मेरुदंड के रास्ते से मस्तिष्क को भेजी जाती हैं। मस्तिष्क में यह नाड़ी भावनाओं व संकल्पों को भी अभिव्यक्त करती है। इसमें आनंद व प्रकाश अधिक होता है, जिससे झूठमूठ में ही लगता

रहता है कि एक और आत्मज्ञान की झलक मिलने वाली है। अतः यह नाड़ी आकर्षण व आसक्ति को उत्पन्न करती है। इसी कारण से कुण्डलिनी की स्वाभाविक इच्छा भी इसी नाड़ी में रहने की होती है। प्रेमयोगी वज्र भी इसी तरह से इसमें आसक्त हो गया था, और अपनी कुण्डलिनी को उसने इसमें ही फँसे रहने दिया था। जब वह भौतिक रूप से औरों से काफी पिछड़ गया, तब उसने शविद का आश्रय लेकर इड़ा की आसक्ति को त्यागा और कुण्डलिनी को पिंगला नाड़ी में से भी प्रवाहित होने दिया। पिंगला नाड़ी (efferent nerve channel) मेरुदंड से होते हुए, मस्तिष्क से निकलकर पूरे शरीर में फैल जाती है, व पूरे शरीर को कर्म करने के लिए आदेश जारी करती है। वह कर्मात्मक ज्यादा और अनुभवात्मक कम होती है। फिर पिंगला से होते हुए उसकी कुण्डलिनी सभी कर्मेन्द्रियों व संसार में प्रसारित होने लगी थी। इस तरह से उसकी कुण्डलिनी हर स्थान पर समान व संतुलित रूप से अभिव्यक्त होने लगी। तब प्रेमयोगी वज्र का कुण्डलिनीमय ध्यान, संवेदनाओं/भावनाओं व व्यवहार/कर्मों के ऊपर समान रूप से लगने लगा और वह संतुलित रूप से समाधिस्थ बन गया। वह सभी कुछ मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ, शरीर-वैज्ञानिक पक्ष तो केवलमात्र समझने व समझाने के लिए ही है।

आजकल कुण्डलिनी आदि मानसिक अनुभवों को एनर्जी (energy) बोलने का चलन भी बढ़ा हुआ सा दिखाई देता है, विशेषकर तथाकथित आधुनिक वर्ग के बीच में। इससे कुण्डलिनी व अन्य आध्यात्मिक अनुभवों का महत्त्व कुछ बौना सा प्रतीत होता है। एनर्जी जड़ (nonliving) है, जबकि कुण्डलिनी चेतन (living) है। प्राचीन, अर्थयुक्त व प्रसिद्ध नाम को नहीं बदलना चाहिए; चाहे वह किसी भी जाति-धर्म या सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ हो, क्योंकि उसमें एक दिव्य प्रेरणात्मक शक्ति छिपी होती है। चेतनायुक्त या जीवित कुण्डलिनी को एनर्जी (energy) आदि कहना तो वैसे ही अपूर्ण वर्णन है, जैसे कि सर्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक आईंस्टीन (Ienstein) को ई=एम सी स्क्वायर (e=mc square) कहना। जागृत कुण्डलिनी में चेतना के सभी गुण विद्यमान हैं, और परब्रम्ह के बाद वह सर्वश्रेष्ठ है; जबकि एनर्जी तो जड़ भी हो सकती है, उसके कई प्रकार व स्तर भी हो सकते हैं; उससे आध्यात्मिक प्रगति शिथिल भी हो सकती है, रुक भी सकती है, और यहाँ तक कि वह विपरीत प्रभाव भी दिखा सकती है आदि-आदि। नाम में बहुत शक्ति होती है। कुण्डलिनी शब्द को अनादिकाल से, अनगिनत साधुओं व योगियों के वंश, अपने ज्ञान से सिंचित करते आए हैं। वे वैश्विक थे, और किसी जाति, धर्म, नस्ल, क्षेत्र या परम्परा से नहीं बंधे थे। इसलिए वे सभी के हैं, और किसी को उनका आश्रय लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। शरीर के विभिन्न भागों में विचित्र

संवेदनाओं, जैसे कि विभिन्न प्रकाशों, आवाजों, चुभनों व पक्षाघातों आदि चित्र-विचित्र संवेदनाओं का अनुभव होना; स्थिर या बदलती मानसिक ऊर्जा (एनर्जी) के ऊपर अनुचित विधि से धारणा-ध्यान के कारण प्रतीत होता है। ऐसा तब भी होता है जब चिर-संचित मानसिक ऊर्जा, उचित मार्गदर्शन के बिना, मनमाने व लाभरहित तरीके से अचानक उत्सर्जित होती है। इनसे कोई आध्यात्मिक लाभ या आत्मज्ञान होने की संभावना प्रतीत नहीं होती। ये और अन्य भी, जो चित्र-विचित्र लक्षण व्यक्ति में उत्पन्न होते हैं, वे संभवतः कुण्डलिनी का विरोध-प्रतिरोध करने से ही उत्पन्न होते हैं। इन दुष्प्रभावों से बचने का तरीका यही प्रतीत होता है कि गुरु, देव, तांत्रिक प्रेमिका (consort) आदि के स्थूल शरीर को कुण्डलिनी बनाया जाए और उस मानसिक चित्र पर ही एकाग्र रूप से ध्यान लगाया जाए। कुण्डलिनी एक जीवनी-शक्ति (life force) है। वह गुरु, प्रेमी-प्रेमिका (consort), माता-पिता, बंधु-बांधव, धन-संपत्ति, देवता आदि सब कुछ है। वह ईश्वर का दूत (messenger of god) है। वह ईश्वर का, मन में समा सकने योग्य लघु रूप है। वह ईश्वर का अवतार है। वह हमें ईश्वर की ओर ले जाती है। वह हमारी सुरक्षिका है। वह हमारी मार्गदर्शिका है। वह हर प्रकार से हमारा लाभ व विकास करती है, जिसके बदले में वह केवल हमारे अपने मनमंदिर में, अपने लिए एक स्थायी निवास मांगती है, और कुछ नहीं। वह अनन्य प्रेमरूपा है। वह हमारी प्रियतमा है। वह प्राणवायु व प्राणों को पुष्ट करती रहती है, जिससे तन-मन स्वस्थ बना रहता है। वह तब भी हमारा साथ निभाती है, जब सभी कुछ हमें छोड़कर चला जाता है। जब योगी को, कुण्डलिनी का नियमित रूप से ध्यान करते हुए, लगभग डेढ़-दो वर्ष हो जाते हैं, तब वह स्वयं ही ईश्वर की ओर आकृष्ट होकर, उसकी भक्ति में डूबने लगता है, क्योंकि कुण्डलिनी से उच्चतर अवस्था तो ईश्वर की ही है। यह जीव का प्राकृतिक स्वभाव है कि वह उच्च से उच्चतर अवस्था की ओर स्वतः अग्रसर होता रहता है। यदि किसी के मन में लम्बे समय से एक ही विचार या चित्र बारम्बार आता-जाता हो, तो वह पूर्व में उसके कुण्डलिनीजागरण का प्रमुख लक्षण है। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी वैसा ही होता था। कुण्डलिनी के चित्र तो अवस्था व परिवेश के अनुसार बदल भी सकते हैं, परन्तु निरंतर चिंतन का अभ्यास तो एकसमान रूप से वही रहता है।

शविद के पूरा होने के आसपास, कुण्डलिनीयोग के अतिरिक्त बल से प्रेमयोगी वज्र को समाधि का क्षणिक अनुभव भी हुआ। कुण्डलिनीयोग से सुदृढ़ किया हुआ देहपुरुष का मानसिक चित्र एकदम से उसके मस्तिष्क में पहुँच गया था। प्रेमयोगी वज्र का पूरा मस्तिष्क उस कुण्डलिनी से भर गया था, और भारी महसूस हो रहा था। अहंकार व देह–जगत का भान समाप्त हो गया था, यद्यपि

आँखें खुली व एकटक थीं। अन्दर-बाहर हर जगह देहपुरुष ही समान रूप से विद्यमान था। सामान्य चीजें जैसे उससे अलग नहीं, अपितु उसके अन्दर प्रतीत हो रही थीं। अतीव आनंद, एकता, शान्ति व तनाव-हीनता का अनुभव हो रहा था। तर्कबुद्धि नष्ट हो गई थी, और केवल अनुभवमात्र ही शेष था। अपने स्वास्थ्य के प्रति चिंता व आसपास स्थित लोगों से लज्जा अनुभव करने के कारण; साथ में अपने आप व अहंकार का भान न रहने से प्रेमयोगी वज्र डर गया। इस डर से उसने कुण्डलिनी को बलपूर्वक नीचे उतार दिया। योग-शास्त्रों के अनुसार, ऐसी अवस्था में अपने आप को कुण्डलिनी के समर्पित कर देना चाहिए व कुछ भी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। समाधि-स्थिति लगभग ५-१० सैकेंड के लिए रही।

प्रेमयोगी वज्र अपनी उस समाधि का वर्णन अपने शब्दों में इस प्रकार करता है, "मैं १८ वर्षों से अद्वैत (मुख्यतः शविद, अर्थात शरीरविज्ञान दर्शन से प्राप्त, कुछ सनातन धर्म की संगति से प्राप्त) का, पूर्ण व्यावहारिकता व कर्मठता से युक्त साँसारिकता के साथ; लगभग १०-११ वर्षों से अनियमित व अपूर्ण (बिना केन्द्रित ध्यान/focused concentration के) योगाभ्यास से (इन दोनों विधियों से ही मेरी मानसिक कुण्डलिनी आधाररूप/मूलाधार में जीवित रहती थी); एक साल से अपने घर से बहुत दूर, शाँत व तनावमुक्त स्थान पर नियमित व समर्पित रूप से अपने एक अतिपरिचित वृद्धाध्यात्मिकपुरुष (गुरु) के मानसिकचित्र रूपी कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ, कुण्डलिनीयोग का अभ्यास कर रहा था (इससे मेरी कुण्डलिनी परिपक्व हो गई थी); तथा अंत के एक महीने से तांत्रिकयोग/प्रत्यक्षयौनसंसर्गयोग को (नियमित/लगभग प्रतिदिन) उपरोक्त साधना के साथ जोड़ कर, उससे अपनी कुण्डलिनी को अत्यधिक परिपक्व/ऊर्ध्वगामी/जागरणोन्मुखी बना रहा था। मैं बहुत दिनों के बाद, बहुत लम्बी यात्रा करके, अपने नए व व्यक्तिगत वाहन से सपरिवार घर आया हुआ था। तभी एक दिन मैं एक समारोह में एक कुर्सी पर बैठा था। कुण्डलिनीयोग-साधना के शान्तिदायक प्रभाव के कारण, मेरी दाढ़ी भी मध्यम आकार तक बढ़ी हुई थी, और उसके लगभग ३० प्रतिशत बाल श्वेत वर्ण के प्रतीत हो रहे थे। उस समारोह में मेरा हृदय से स्वागत हुआ था। वहाँ पर मुझे अपने लिए चारों ओर विशेष प्रेम व सत्कार का अनुभव हो रहा था। समारोहीय लोगों के साथ जुड़ी हुई बचपन की मेरी यादें जैसे तरोताजा हो गयी थीं। मैं अपने को खुला हुआ, सुरक्षित, शाँत, तनावरहित, मानसिकता से पूर्ण (mindfull), अद्वैतशाली व मानसिक कुण्डलिनी-चित्र के साथ अनुभव कर रहा था। मेरी कुण्डलिनी से सम्बंधित लोग वहाँ पर उपस्थित थे, व वातावरण-माहौल भी मेरी कुण्डलिनी से सम्बंधित था। खड़ी पहाड़ी पर बना

वह घर जैसे चिपका हुआ सा लगता था। चहल-पहल व रौनक वहाँ महसूस हो रही थी। समारोहीय संगीत (आधुनिक प्रकार का) भी मध्यम स्तर पर बज रहा था। चिर-परिचित लोगों के खुशनुमा चेहरे जैसे यहाँ-वहाँ उड़ रहे थे, व सीढ़ियों पर ऊपर-नीचे आ-जा रहे थे। मैं बीच वाली मंजिल की बालकनी में था। एक कमरे में स्त्रियों का समूह नृत्य-गान में व्यस्त था। कभी एक-एककरके, कभी दो-दो के समूह में और बहुत विरले मामले में तीन-तीन के समूह में वे महिलाएँ बारी-बारी से उठकर, गाने वाली २०- २५ महिलाओं के घेरे के बीच में आतीं और अपने नृत्य-कौशल का प्रदर्शन करतीं। मेरे सामने वाली, हरी-भरी व रौनक से युक्त पहाड़ी पर सिधाई में व पर्वत-शिखर से लगभग एकसमान नीचाई पर बनी सड़क उस घर की ऊंचाई के स्तर पर थी, और वहाँ से यातायात के साधनों का शोर मध्यम स्तर पर सुनाई दे रहा था। उस पहाड़ी पर स्थित सूर्य के मुख की लाली बढ़ती ही जा रही थी, जैसे कि वह अपने कर्त्तव्यवहन (duty) के पूरा होने का इंतज़ार बड़ी बेसब्री से कर रहा था। मेरा बहुत समय बाद मिल रहा, एक पुराना व कुछ समय पहले ही सेवानिवृत्त सैनिक, मेरे मानसिक कुण्डलिनी-चित्र के भौतिक रूप से सम्बंधित व उसके जैसे ही कर्मठता आदि गुणों से भरे हुए उत्तम स्वभाव वाला, मित्र सहित ज्ञाति-भ्राता, हँसमुख व तेजस्वी मुद्रा में जैसे ही अपनेपन के साथ मेरा हालचाल पूछने लगा, वैसे ही मैं अपनी कुण्डलिनी के विचार में गहरा खो गया और वह उद्दीप्त (stimulate) होकर अचानक ही मेरे पूरे मस्तिष्क में छा गई। मेरा सिर भारी हो गया व उसमें दबाव महसूस होने लगा। मस्तिष्क में वह दबाव विशेष रूप का था, क्योंकि साधारण दबाव तो चेतना को भी दबा देता है, परन्तु वह दबाव तो चेतना (consciousness) को भड़का रहा था। ऐसा लग रहा था, जैसे कि मेरे मस्तिष्क के अन्दर चेतना की नदी (river of consciousness) भंवर के रूप में, पूरे वेग के साथ घूम रही हो और मस्तिष्क के कण-कण को कम्पित कर रही हो, जिसे सहन करने में मेरा मस्तिष्क अस्मर्थ हो रहा था। वह चेतना का प्रचंड भंवर मेरे मस्तिष्क में, बाहर की ओर एक विस्फोटक दबाव बनाता हुआ प्रतीत हो रहा था। उस चेतना-भंवर (consciousness whirl) को चलाने वाली, मुझे अपनी कुण्डलिनी प्रतीत हो रही थी, क्योंकि वह हर जगह अनुभव हो रही थी। उस तरह की हल्की सी, तूफानी सी, गंभीर व समान रूप की आवाज का अनुभव हो रहा था, जिस तरह की आवाज मधुमक्खियों के झुण्ड के एक साथ उड़ने से पैदा होती है। वास्तव में वह कोई आवाज भी नहीं थी, परन्तु उससे मिलता-जुलता, सन्नाटे से भरा हुआ, मस्तिष्क के एक विचित्र प्रकार के दबाव या कसाव से भरा हुआ, विशाल आत्मचेतना का अनुभव था। वैसा दबाव, जैसा कि शीर्षासन या सर्वांगासन करते

हुए, मस्तिष्क में अनुभव होता है; यद्यपि वह अनुभव उससे कहीं अधिक दबाव के साथ, उपर्युक्त सन्नाटे के साथ, चेतनापूर्ण, प्रकाशपूर्ण, कुण्डलिनीपूर्ण एवं आनंदमयी था। यदि अपने अन्दर चल रही, सन्नाटे व आवाज, एकसाथ दोनों से भरी हुई सरसराहट जैसी गुप्त हलचल (यद्यपि आवाज नहीं, पर आवाज की तरह) विद्युत-ट्रांसफार्मर को स्वयं को अनुभव होए, तो वह उसे कुण्डलिनीजागरण के जैसी स्थिति समझे। वह आत्मज्ञान भी नहीं था, अपितु उससे निम्नस्तर का अनुभव था। वह ओम के बीच के अक्षर, "ओ----------------" की एकसमान व लम्बी खिंची हुई आवाज की तरह की अनुभूति थी। संभव है कि ओम का रहस्य भी कुण्डलिनीजागरण में छिपा हुआ हो। दृष्यात्मक अनुभव भी जैसे झुण्ड की मधुमक्खियों की तरह ही, मस्तिष्क को फोड़ कर बाहर निकलने के लिए बेताब हो रहे हों। शक्तिशाली फरफराहट के साथ, जैसे वह अनुभव ऊपर की ओर उड़ने का प्रयास कर रहा था। अतीव आनंद की स्थिति थी। वह आनंद एकसाथ सैंकड़ों यौनसंबंधों से भी बढ़ कर था। सीधा सा अर्थ है कि इन्द्रियां उतना आनंद उत्पन्न कर ही नहीं सकतीं। कुण्डलिनी पूरी तरह से प्रकाशित होती हुई, सूर्य का मुकाबला कर रही थी। वह प्रत्यक्ष के भौतिक पदार्थों से भी अधिक स्पष्ट, जीवंत व वास्तविक लग रही थी। आँखें खुली व गंभीरता से नज़ारे निहार रही थीं। जहाँ पर भी दृष्टि जा रही थी, वहीँ पर कुण्डलिनी दृष्टिगोचर हो रही थी। ऐसा लग रहा था, जैसे सभी कुछ कुण्डलिनी के रंग में रंगा हुआ हो। सभी अनुभव एकसमान, परिवर्तनरहित व पूर्ण जैसे लग रहे थे। मेरा अहंकार पूर्णतया नष्ट हो गया था। मैं अपने स्वास्थ्य के प्रति चिंतित हो रहा था। मुझे अपने व्यक्तित्व का कुछ भी भान नहीं रहा। मेरे साथ में कुर्सी पर बैठे २-३ लोग, वह मित्र/ज्ञाति-भ्राता व आते-जाते कुछ लोग भी आश्चर्य, शंका व संभवतः तनिक चिंता से मेरी ओर देखने लगे, जिससे मुझे तनिक संकोच होने लगा। मैंने थोड़ा सिर झुकाते हुए अपने माथे की ऊपरी सीमा को दाएं हाथ की अँगुलियों के अग्रभागों से दबाते हुए बार-बार मला व आँखों को भींचते हुए अपने व्यक्तित्व में वापिस लौटने का प्रयत्न किया। कुछ प्रयत्न के बाद कुण्डलिनी वापिस नीचे लौट आई। मुझे अपनी भूल का अहसास हुआ और मैंने कुण्डलिनी को वापिस ऊपर चढ़ाने का प्रयास किया, परन्तु मैं सफल न हो सका, यद्यपि मैंने अपने आप को बहुत अधिक प्रसन्न, तरोताजा, तनावरहित व अनासक्ति/द्वैताद्वैत से संपन्न अनुभव किया। कुण्डलिनीजागरण के उस अनुभव के समय, मुझे अपने चेहरे पर गर्माहट व लाली महसूस हो रही थी। ऐसा अनुभव मुझे अप्रत्यक्षतंत्र के समय भी हुआ था, जब प्रथम देवीरानी का चित्र मेरे मस्तिष्क में स्पष्ट व प्रचंड हो जाया करता था, यद्यपि इस कुण्डलिनीजागरण की अपेक्षा मध्यम

स्तर के साथ। इस बार देवीरानी का नहीं, अपितु उन पुराणपाठी वृद्धाध्यात्मिकपुरुष (जो पुस्तक-परिचय/समर्पण भाग में वर्णित किए गए हैं) का चित्र सर्वाधिक स्पष्ट व प्रचंड रूप से अनुभव हुआ, यद्यपि केवल १० सेकण्ड के लिए। प्रथम देवीरानी का चित्र तो मस्तिष्क में लगभग सदैव बना रहता था; कभी हल्के स्तर में, कभी मध्यम स्तर में और कभी प्रचंड स्तर में। यद्यपि इस बार कुण्डलिनी का चित्र सर्वोच्च स्तर पर अभिव्यक्त हुआ। वृद्धाध्यात्मिकपुरुष का मानसिक चित्र (कुण्डलिनी) भी लगभग सदैव (यद्यपि देवीरानी की अपेक्षा कुछ कम समय तक) बना रहता था, परन्तु वह अधिकाँशतः हल्के स्तर पर ही अभिव्यक्त होता था; मध्यम या प्रचंड स्तर पर अपेक्षाकृत रूप से बहुत कम। ऐसा लगता है कि ऐसी भिन्नता के लिए, मेरा भौतिक व कामप्रधान परिवेश जिम्मेदार था। यदि आध्यात्मिक परिवेश होता, तो सम्भवतः इसका उल्टा होता, अर्थात वृद्धाध्यात्मिकपुरुष का मानसिक चित्र देवीरानी की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना करता। देवीरानी के चित्र ने कभी भी अपने भौतिकरूप के स्तर से अधिक अभिव्यक्ति नहीं दिखाई, परन्तु इस कुण्डलिनीजागरण में, वृद्धाध्यात्मिकपुरुष के चित्र ने तो अपने को, अपने भौतिकरूप के स्तर से भी अधिक अभिव्यक्त कर दिया। उस अनुभव से मेरे मन में स्त्रीमोह का फंदा काफी ढीला पड़ गया था, क्योंकि बिना कामोत्तेजना के ही, सर्वाधिक स्पष्ट मानसिक चित्र बनना, किसी आश्चर्य से कम नहीं था। प्रथम देवीरानी के मानसिक चित्र (क्रियाशील कुण्डलिनी) के साथ मुझे कभी भी पूर्ण समाधि (जागृत कुण्डलिनी) कि अनुभूति नहीं हुई, अर्थात वह कुण्डलिनी क्रियाशील तो निरंतर बनी रही, परन्तु कभी भी जागृत नहीं हो सकी। यद्यपि कालान्तर में द्वितीय देवीरानी ने प्रत्यक्ष/पूर्ण तंत्रयोग/वामपंथी तंत्र से सहायता उपलब्ध करवा कर, उन वृद्धाध्यात्मिक पुरुष के मानसिक चित्र की कुण्डलिनी को मेरे शरीर में बहुत ऊपर उठवाया व जागृत करवाया। संभवतः इसी कुण्डलिनीजागरण/समाधि को ही सहस्रार चक्र/मस्तिष्क में कुण्डलिनी का परब्रम्ह/आत्मा से जुड़ना/एकाकार होना कहा गया है।"

हो सकता है कि लोगों को लग रहा हो कि प्रेमयोगी वज्र विक्षिप्त या बीमार हो रहा हो। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि अधिकाँश तथाकथित विक्षिप्त, कुण्डलिनी-योगी होते हैं। वास्तव में उनकी कुण्डलिनी जागृत हुई होती है, अतः वे हर किसी वस्तु में अपनी कुण्डलिनी को ही ढूँढते व देखते रहते हैं, और कई बार तो उससे बातें भी करने लग जाते हैं। वास्तव में, कुण्डलिनीजागरण के समय प्रेमयोगी वज्र की मानसिक आँख खुल गई थी। इसी को तीसरा नेत्र (third eye) या छठी इन्द्रिय (sixth sense) भी कहते हैं। यह मानसिक आँख भौतिक आँखों की अपेक्षा कहीं अधिक

सूक्ष्म, आनंदप्रद, शान्तिप्रद, प्रकाशपूर्ण और अंतर्दृष्टियुक्त होती है। कुण्डलिनीजागरण के निकट, कुण्डलिनी का, सूक्ष्म व अव्यक्त रूप में एक उफान जैसा दबाव, तन-मन में छाया होता है, जो कुण्डलिनीजागरण के लिए प्रेरित करता रहता है। वह उफान कुण्डलिनीजागरण के बाद ही शाँत होता है। फिर पुनः कुण्डलिनीजागरण करने के लिए वह उफान संचित करना पड़ता है, जिसमें कम या अधिक समय लग जाता है, साधना के प्रति प्रयास के अनुसार। जब कुण्डलिनीयोग सिद्ध होने लगता है, तब मन की, शान्ति, तनावहीनता, अद्वैत व आनंद से युक्त एक दिव्य सी अवस्था होती है। साथ में, यौनयोग के यौनसंयम में दृढ़ता विद्यमान रहती है। योगसाधना के तुरंत बाद, भूख एकदम से बढ़ जाती है, और अधिक खा लेने पर, अगले भोजनकाल में घट भी जाती है। फिर उससे अगले भोजनकाल में पुनः एकदम से बढ़ जाती है, इस तरह से यह चक्र चलता रहता है। संभवतः यह शरीर के वजन को संतुलित रखने के लिए ही होता है। कुण्डलिनी बहुत बुद्धिमान होती है, और वह अपनी अधिकतम अभिव्यक्ति के लिए, उचित व संतुलित वजन को ही सर्वोत्तम मानती है। फिर भी, उस समय नियंत्रण में रहकर भोजन करना लाभदायक रहता है, अन्यथा अपच, आलस्य व शिथिलता उत्पन्न होने की आशंका रहती है। सूखा भोजन (चपाती, बिस्कुट आदि) करते समय, यदि हम अपने पेट के अनुसार ठीक भी खाएं, तो भी कुछ देर के बाद पेट भारी लगने लगता है, क्योंकि सूखे खाद्य पदार्थ पानी को सोखकर फूल जाते हैं। इससे बचने का तरीका यही प्रतीत होता है कि भोजन करते समय थोड़ा पानी पिया जाए, जो पेट भरने के लिए अन्न की मात्रा को घटा देता है। इससे पाचन भी ठीक होता है, यद्यपि अधिक पानी से कुछ शिथिल भी पड़ सकता है।

यदि दिमाग पर जोर देकर, कुछ स्मरण किया जाए या एक ही चित्र पर निरंतर जोर दिया जाए, तो दिमाग या सिर पर एक दबाव/भारीपन सा महसूस होता है। तो जरा सोचें, जब वही चित्र, जीवित व वास्तविक जितना स्पष्ट हो जाता है, तब कितना व कैसा दबाव महसूस होता होगा। वैसा ही दबाव प्रेमयोगी वज्र को भी महसूस हुआ। कुण्डलिनीजागरण अधिकाँशतः उस समय अचानक होता है, जिस समय उसके जागरण की कोई भी संभावना प्रतीत नहीं हो रही होती है, और व्यक्ति मानसिकतापूर्ण, मस्त व खुशहाल माहौल में जी रहा होता है। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी तो ऐसा ही हुआ, तभी तो वह कुण्डलिनी को अधिक देर तक सहस्रार में रोककर रखने के लिए तैयारी नहीं कर पाया। इससे यह अर्थ भी निकलता है कि हमें कभी भी कुण्डलिनीजागरण की उम्मीद लगा कर नहीं बैठ जाना चाहिए। जब जागरण होना होता है, तो अनुकूल परिस्थितियों में स्वयं ही व कभी भी हो सकता है। उम्मीद लगाने से तो वह संभवतः आँखमिचौली ही खेले। फिर

भी, समय के जिस दौर में, उपर्युक्त दिव्य लक्षणों के साथ मस्तिष्क में सन्नाटा सा हो तथा साथ में भारीपन व दबाव भी बढ़ा हुआ हो, उस दौर में कुण्डलिनीजागरण की संभावना अधिक होती है। जब पहले से ही मस्तिष्क में साधनामय दबाव बना हो और साथ में, कुण्डलिनीजागरण का दबाव भी अचानक से उसमें जुड़ जाए, तब स्वाभाविक ही है कि उस अनुभव को सहन करना थोड़ा कठिन होता है, यद्यपि संभवतः अभ्यास व निर्भयता से, कालांतर में अच्छी तरह से सहन हो जाता है। प्रेमयोगी वज्र ने कुण्डलिनी को संभवतः इसलिए भी उतारा, क्योंकि वह अपने पूर्व के क्षणिकात्मज्ञान से उत्पन्न भयानक मानसिक परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न भौतिक अव्यवस्थाओं से, अपने अवचेतन मन (subconscious mind) में इतना अधिक डरा हुआ था कि क्षणिकात्मज्ञान से मिलते-जुलते कुण्डलिनीजागरण को अनुभव करते ही, उसने उस अनुभव को अनजाने में ही नीचे उतार दिया। सिद्धांततः तो कुण्डलिनी से भयभीत नहीं होना चाहिए, उससे प्रेम करना चाहिए, उसे अपनी इच्छा से प्रकट होने देना चाहिए, उसके यथेच्छ क्रियाकलापों में विघ्न उत्पन्न नहीं करना चाहिए और उसके प्रति समर्पित रहना चाहिए। प्रेमयोगी वज्र ने यह बात भी अच्छी तरह से सुनी, पढ़ी व समझी नहीं थी कि जागी हुई कुण्डलिनी को नीचे नहीं उतारना चाहिए। यह भी एक परम आश्चर्य की बात है कि यह पूर्णसटीकता से कभी नहीं बता सकते कि कब कुण्डलिनीजागरण होगा, केवल संभावना ही व्यक्त कर सकते हैं। इसीलिए कुण्डलिनीजागरण के लिए शीघ्रता नहीं करनी चाहिए और बेचैन नहीं होना चाहिए। आराम से, जितना हो सके, उतना ध्यान करते रहना चाहिए। कुण्डलिनीजागरण की घटना साधारण सी लगती है, परन्तु फिर भी इसके ऊपर पूर्णनियंत्रण नहीं किया जा सकता।

प्रेमयोगी वज्र को अपनी कुण्डलिनी, सर्पिणी की तरह, ऊपर की ओर रेंगती हुई प्रतीत नहीं हुई। न ही उसने कुण्डलिनी को, चक्रों को भेदते हुए अनुभव किया। उसे तो केवल ऐसा लगा, जैसे कि वह कुण्डलिनी के विचार में खो गया हो। वास्तव में याद किए जा रहे किसी पुरुष के मानसिक चित्र को ही तो कुण्डलिनी कहते हैं। जब वह याद आत्यंतिक रूप ग्रहण कर के एक निश्चित सीमा को लांघ जाती है, तब वही कुण्डलिनी जागृत कुण्डलिनी बन जाती है, जैसी कि पूर्वोक्त विवरण में प्रेमयोगी वज्र को अनुभव हुई थी। उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि कुण्डलिनी से सम्बंधित बहुत सी बातें मायामयी, दार्शनिक व जनसाधारण को कुण्डलिनीयोग की ओर आकर्षित करने के लिए बनाई गई हो सकती हैं, परन्तु विपरीत रूप से, ये बातें कई बार जिज्ञासुओं को भ्रमित व हतोत्साहित भी कर सकती हैं। ऐसा भी हो सकता है कि अति उच्च स्तर के कुण्डलिनीयोगी को इन

चमत्कारिक घटनाओं का अनुभव होता हो, परन्तु आम साधकों को इनसे कोई लाभ मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उन्हें तो केवल कुण्डलिनीजागरण से ही अपेक्षा होती है, चाहे वह किसी भी मानवीय ढंग से हो जाए। लेखक के अनुसार, जब लगभग डेढ़ वर्षों तक, नियमित रूप से कुण्डलिनीयोग का अभ्यास हो जाता है, तब वज्र के संकुचन के साथ, कई बार उसके ऊपर स्थित कुण्डलिनी भी सरसराती हुई, ऊपर जाती हुई अनुभव होती है, और मस्तिष्क में अभिव्यक्त होने लगती है। ऐसा विशेषतः तब होता है, जब तांत्रिक प्रेमिका (consort) भी साथ में हो। योगाभ्यास के समय भी, प्रेमयोगी वज्र को कभी भी कुण्डलिनी, मूलाधार से मस्तिष्क (आज्ञा चक्र) तक, ऊपर जाते हुए रास्ते में, स्पष्टता से नहीं दिखाई दी। योगबंध लगाए जाने के बाद, उसे तो वह मूलाधार में गायब होती हुई व मस्तिष्क में प्रकट होती हुई अनुभव होती थी। इसके एक अन्य प्रमाण के तौर पर, जोसैफ कैम्पबैल की पुस्तक (a mythic image) के पृष्ठ संख्या ३०६ पर, श्री रामकृष्ण परमहँस कहते हैं कि मुझे अपनी कुण्डलिनी कभी कीड़े या साँप की तरह रेंग कर और कभी बन्दर की तरह सीधे ही छलांग लगा कर, सहस्रार में प्रविष्ट होती हुई अनुभव होती है। मस्तिष्क को ही आज्ञाचक्र कहा जाता है। प्रेमयोगी वज्र को आज्ञाचक्र का कोई विशेष स्थान अनुभव नहीं हुआ, जैसे कि भौहों के मध्य में या उसकी सिधाई में, सिर के ठीक पिछले भाग में आदि-आदि बताया गया है। उसने भौहों के बीच में भी कुण्डलिनी का कम ही ध्यान किया। उसने तो केवल मस्तिष्क में ही ध्यान किया, उसे फिर चाहे आज्ञाचक्र कह लो या कुछ अन्य। मस्तिष्क चक्र तो एक ही प्रतीत होता है। मस्तिष्क के विभिन्न चक्रों में केवल ऊंचाई का ही अंतर होता है। सहस्रार चक्र मस्तिष्क में सबसे ऊंचे स्थान पर स्थित होता है। वास्तव में, सहस्रार चक्र में तो कुण्डलिनी को जागरण के समय (उपरोक्त १० सेकण्ड की समाधि) ही प्रतिष्ठित माना जाता है। यद्यपि उसे अपनी कुण्डलिनी मूलाधार (root chakra) से ऊपर उठते हुए प्रतीत नहीं हुई, परन्तु अपने मस्तिष्क में स्थिर व ऊपर उठने के भारी दबाव के साथ अनुभव हुई। इसका अर्थ यह हुआ कि संभवतः उसने यौनयोग की भारी सहायता से; उस समय अति शीघ्रता से कुण्डलिनीजागरण कर दिया, जिस समय उसके निचले चक्र भी पूरी तरह से अनवरुद्ध नहीं हुए थे, यद्यपि महान यौनबल की सहायता से कुण्डलिनी उछल कर, सहस्रार में पहुँच गई। संभवतः वह ऐसे ही हुआ, जैसे गरजते हुए बादलों से बिजली, वायुमंडल के अवरोध को भी चीरते हुए, छलांग लगा कर धरती में प्रविष्ट हो जाती है। इसी तरह, कुण्डलिनी कोई चित्र-विचित्र या अपरिचित वस्तु या जड़ ऊर्जा (प्रकाश, ध्वनि आदि) आदि भी नहीं है, जो अचानक से प्रकट हो जाए; अपितु यह तो निरंतर साधना से

प्रज्वलित किया गया, कोई एक विशेष मानसिक चित्र (गुरु, इष्टदेव आदि का) ही है, जो कभी भी सहस्रार में जागृत हो सकता है। हो सकता है कि किसी विशेष प्रकाश या ध्वनि आदि के मानसिक चित्र भी जागृत हो जाए, परन्तु वह जागरण भी तो उसके नियमित व लम्बे समय तक के ध्यान से ही संभव होता है, अचानक से या आसमान से फूल गिरने की तरह नहीं होता। वास्तव में, कुण्डलिनी का, किसी चिर-परिचित, इन्द्रियागम्य व शुभमनुष्याकृति के रूप में ध्यान करना ही सर्वाधिक सरल व व्यावहारिक उपाय है, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र ने किया था।

उस समाधि में प्रेमयोगी वज्र को सभी कुछ, मस्तिष्क के अन्दर अनुभव हुआ। बाहर के दृश्य, बाहर की आवाजें, बाहर की अन्य अनुभूतियाँ, अन्दर के विचार आदि सभी अनुभव; सभी कुछ मस्तिष्क में ही, एकसमानरूप से अनुभव हुआ। इस तरह से अनुभव होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि मानसिककुण्डलिनी का अनुभव सर्वाधिक प्रचंड व तीक्ष्ण था, अतः अन्य निम्नतर अनुभव, बाहरी कैसे प्रतीत हो सकते थे, क्योंकि यह एक आम अनुभवात्मक धारणा है कि बाहरी अनुभव तीक्ष्ण होते हैं, जबकि मानसिक अनुभव क्षीण होते हैं। इसीलिए जब शुद्धमानसिककुण्डलिनी का अनुभव, बाहरी सभी अनुभवों से भी अधिक तीक्ष्ण था, तब सभी बाहरी अनुभव स्वयं ही शुद्धमानसिक (आतंरिक) अनुभव बन गए। क्योंकि सभी अनुभव मस्तिष्क में ही विद्यमान थे, अतः सभी अनुभव एकसमान लगे, क्योंकि एक ही मस्तिष्क में स्थित अनुभव (साथ में, एक ही प्रकार की संवेदनाओं से बने हुए), अलग-अलग कैसे प्रतीत हो सकते हैं।

कुण्डलिनी जब पूर्ण आनंदमयी समाधि के रूप में मस्तिष्क के अन्दर एक बार भी व क्षण भर के लिए भी पूर्णतया प्रज्वलित हो जाती है, तब भी वह संभवतः साधक को स्वयं ही अपनी ओर आकर्षित करने लग जाती है, और धीरे-धीरे उसे आत्मज्ञान तक ले जाती है। सभी मानसिक चित्रों को तो उनके भौतिक रूपों से अधिक प्रज्वलित नहीं कर सकते, इसीलिए सैम्पल (sample) रूप में एक ही चित्र का आश्रय लिया जाता है, और उसे ही बारम्बार के अभ्यास से प्रकृष्ट करके समाधि अवस्था तक पहुंचाया जाता है। संभवतः कुण्डलिनीजागरण के बाद भी वही प्रक्रिया चलती है, जो प्रेमयोगी वज्र के साथ प्रथम देवीरानी के ध्यान से घटित हुई थी। वह सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था होती है। उसमें कुण्डलिनी लगभग सदैव ही मन में छाई रहती है, जिससे, अनुभूत जगत उसके साथ जुड़ जाता है। फिर मानसिक कुण्डलिनी की आयु पूरी होने पर, वह विलीन होने लगती है, जिसके साथ उससे जुड़ा हुआ जगत भी विलीन होने लगता है। कुण्डलिनी के शून्यप्राय होने पर जगत भी शून्यप्राय हो जाता है, और योगी के मन में आनंदमयी शून्यता छा जाती है। वास्तव में

वह एक आभासिक (virtual) शून्यता होती है, वास्तविक (real) नहीं, क्योंकि अनुभवगत जगत तो पहले की तरह ही रहता है, केवल उसके प्रति आसक्ति ही शून्य हो जाती है। वह असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था होती है। उसी के बीच में कभी भी क्षणिकात्मज्ञान हो सकता है। योगी श्री रामकृष्ण परमहँस के साथ भी तो संभवतः वही हुआ था। उनकी ध्यानसाधना इतनी अधिक दृढ़ थी कि उन्हें काली माता हर जगह व हर समय प्रत्यक्ष दिखती थीं। उनके गुरु ने जब देखा कि वे उस सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था से आगे नहीं बढ़ पा रहे थे, तो उन्होंने उन्हें काली माता को नष्ट करने को कहा। काली माता के मानसिक चित्र के नष्ट होते ही वे असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हो गए, जिससे उन्हें आत्मज्ञान हुआ।

संभवतः प्रेमयोगी वज्र की कुण्डलिनी सहस्रार में पहुँच चुकी थी, और वह उसे वहाँ आत्मज्ञान के लिए अपेक्षित समय (संभवतः औसतन एक मिनट के आसपास) तक स्थित न रख सका। यह सिद्धांत है कि कुण्डलिनी उस समय अचानक सहस्रार में पहुंचती है, जब कुण्डलिनी-साधक को कुण्डलिनी के अनुकूल वातावरण उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए, यदि कुण्डलिनी-साधक महादेव के रूप की कुण्डलिनी का चिरकाल से ध्यान कर रहा हो और साधना के मध्य में वह कभी पवित्र कैलाश की तीर्थयात्रा पर चला जाए, तो उसकी कुण्डलिनी की सहस्रार पहुँचने की संभावना अत्यधिक प्रबल हो जाती है। इसी तरह से, यदि कोई व्यक्ति यौनयोग की सहायता से, एकांत में अपने स्वर्गीय पितामह (गुरु) की कुण्डलिनी का प्रचंड ध्यान कर रहा हो और साथ में, फिर यदि बहुत समय के बाद कभी वह अपने उन ज्ञातिजनों (रिश्तेदारों) या गुरुभ्राताओं से मिलने चला जाए, जिनका उसके गुरु के साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रहा हो, तो उनसे व्यवहार के दौरान उसकी कुण्डलिनी को अचानक से ही अत्यधिक बल प्राप्त हो जाता है, जिससे वह जीवंत होकर जागृत हो जाती है। वास्तव में उनसे सम्बन्ध भी पितामह के आश्रय से ही बना होता है, और वह मिलाप भी। इसलिए उस समय पितामह से सम्बंधित स्मरण दोनों पक्षों की बाध्यता बन जाती है। यदि वे ज्ञातिजन हार्दिक प्रेम प्रदर्शित करने लगे, तो स्वतः ही वह प्रेमबल कुण्डलिनी को ही प्राप्त होगा, क्योंकि उसी के आश्रय व सहयोग से ही ज्ञातिजनों से सम्बन्ध हैं। ऐसे में कुण्डलिनीजागरण की संभावना अत्यधिक रूप से बढ़ जाती है। उन पितामह का मानसिक चित्र तो वैसे भी प्रतिदिन की योगसाधना से बहुत प्रगाढ़ बना होता है। ऐसे में, उस ज्ञाति-मिलाप के अवसर पर उनका प्रबल स्मरण उस चित्र को बहुत अधिक मानसिक बल प्रदान करता है, और वह कुण्डलिनीजागरण के रूप में जीवंत हो जाता है। यह तो मात्र एक उदाहरण है। ऐसी ही, किसी मानसिकचित्र के प्रबल

व चहुंमुखी स्मरण की कहीं पर भी प्रबल संभावना यदि बनती है, तो उससे वह चित्र कुण्डलिनीजागरण के रूप में जीवंत हो उठता है। वैसी संभावना तो फिर कई गुना बढ़ जाती है, यदि वर्षों से शविद आदि से अद्वैत का परिशीलन किया जा रहा हो। संभवतः लम्बे समय के नियमित कुण्डलिनीयोगाभ्यास से, ऐसी किसी अपेक्षा की आवश्यकता नहीं होती और सीधे ही योगसाधना से कुण्डलिनीजागरण हो जाता है। ऐसी संभावना अत्यधिक व निरंतर भय से भी बन सकती है, जैसी कृष्ण के भय से कंस में बनी थी। ऐसी संभावना आत्यंतिक प्रेम से भी बन सकती है, जैसी कृष्णप्रेम में दीवानी मीरा में बनी थी। ऐसी संभावना आत्यंतिक द्वेष से भी बन सकती है, जैसी कृष्ण-द्वेष से पागल शिशुपाल में बनी थी। इन सभी के मन में कृष्ण के मानसिक चित्र के रूप की कुण्डलिनी क्रियाशील या जागृत हो गई थी।

यह भ्रम भी प्रचलित है कि पहाड़ों में ही आत्मज्ञान होता है। यदि ऐसा होता तो सभी पहाड़ी लोग आत्मज्ञानी होते। वास्तव में जिन आत्मज्ञानी पहाड़ी लोगों का वर्णन आता है, उनमें से अधिकाँश शान्ति के लिए मैदानों से पहाड़ों में जाकर बसे होते हैं। प्रेमयोगी वज्र को भी क्षणिकात्मज्ञान तभी हुआ था, जब वह मैदानी क्षेत्रों, विशेषकर राजस्थान व पंजाब से आए हुए, किसी पुराने समय से लेकर पहाड़ों में बसे हुए छात्रों/लोगों के साथ गहन मित्रता के दौर में प्रविष्ट हुआ था। अतः पहाड़ व मैदान के मिश्रण का आत्मज्ञान में अवश्य ही कुछ योगदान है। वैसे भी पहाड़ के अंतिम छोर पर स्थित खुले मैदान में एक आश्चर्यजनक आत्मज्ञान की शान्ति अनुभव होती है, जैसा कि पहाड़ी प्रदेशों व मैदानी प्रदेशों की सीमाओं पर (उदाहरणतः ऋषिकेश-हरिद्वार में) दिखाई भी देता है। वास्तव में, पहाड़ों में रहने वाले अधिकाँश लोग आत्मज्ञान के अत्यधिक निकट होते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से ही मेहनती, तन्त्रवादी, नम्र व द्वैताद्वैतवादी होते हैं। उन्हें भौतिक आयाम की सीमा लांघने के लिए केवल थोड़े से साधना-बल की ही आवश्यकता होती है, परन्तु वे वास्तविक व पर्याप्त प्रयास ही नहीं कर पाते। साधना से सम्बंधित मार्गदर्शन भी उन्हें सरलता से सुलभ नहीं हो पाता। पहाड़ों के कठिन जन-जीवन के कारण भी वे साधना के ऊपर समुचित ध्यान नहीं दे पाते। पहाड़ों के खुशनुमा व मेल-जोल से भरे हुए जनजीवन, तथा ताज़ी आबोहवा के कारण ही वे आत्मज्ञान के इतने अधिक निकट होते हैं। वे अधिक नम्र व खुशहाल भी होते हैं। इन सभी दिव्य गुणों का प्रमुख कारण यही है कि वे स्थानीय देवताओं के नैष्ठिक भक्त होते हैं, जो प्रेमयोगी वज्र को देहपुरुष की तरह ही सर्वशक्तिमान प्रतीत होते हैं।

प्रेमयोगी वज्र अपने समाधिकारक कुण्डलिनीयोग का वर्णन अपने शब्दों में निम्नलिखित प्रकार से करता है, "मैं कुण्डलिनीयोग के अभ्यास को दिन में दो बार करता था, कम से कम एक-डेढ़ घंटे तक सुबह व एक घंटे तक शाम को, प्रतिदिन लगभग एक ही निर्धारित व निश्चित समय पर। सबसे पहले आसनों के अनुसार विभिन्न चक्रों पर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए योगासन करता था। भोजन आदि कम से कम चार घंटे पहले तक नहीं खाया होता था, व पानी आदि पेय पदार्थ एक घंटे पहले तक नहीं पिया होता था। उससे उदर-रोगों (गैस्ट्रिक ईसोफेजिअल एसिड रिफ्लक्स, हायटिक हर्निया, बवासीर आदि/gastric oesophageal reflux, hiatic hernia, hemorrhoids etc.) से बचाव होता था। योग से उदर के आकार पर भी कुछ सीमा तक रोक लगती है। मल बहुत कम बनने लगता है, क्योंकि खाया गया अधिकाँश अन्न, प्राण की शक्ति से पचा लिया जाता है, और शरीर के द्वारा सोख लिया जाता है। पेट पर कम दबाव देने वाले आसन शाम को व अधिक दबाव वाले सुबह के समय करता था। फिर मैं सिद्धासन में बैठता था, व मूलाधार पर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए कपालभाति व अनुलोम-विलोम प्राणायाम करता था। उसके बाद माईक्रोकोस्मिक ऑर्बिट (microcosmic orbit), जो कुण्डलिनी रोटेशन (kundalini rotation) का एक सरल प्रतिरूप है, उसे करता था। उसमें साँस को भरकर व छोड़ कर रोका जाता था, प्रत्येक चक्र पर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए। जितना सरलता से संभव हो सकता था, साँस उतना ही रोकता था, शुरु-शुरु में तो आम स्थिति की तरह ही साँस लेते-छोड़ते हुए करता था। पहली रोटेशन-प्रक्रिया में बाएँ नासिका-छिद्र से साँस लेता था, व दाएं से छोड़ता था। प्रक्रिया के शुरु में, कुण्डलिनी को बंधों की सहायता से मूलाधार से मस्तिष्क को ले जाता था। कुण्डलिनीयोग की प्रारंभिक अवस्था में ऐसा प्रतीत होता था, जैसे कि यौगिकबंध लगाने से अज्ञात व आतंरिक प्राणवायु (स्थूलवायु नहीं) का दबाव ऊपर की ओर उठता था, व मस्तिष्क में एक सूक्ष्मविस्फोट जैसी अनुभूति के साथ पहुंचता था, जिसके साथ कुण्डलिनी भी चिपकी होती थी। फिर कुण्डलिनी को मस्तिष्क में क्लोकवाईस (clockwise) घुमाता था (हल चलाते हुए किसान की तरह)। किसान को हल, लेवलर (leveler) आदि के साथ, मस्तिष्क की दीवारों को कुरेदते हुए, फिर गोलाकार चक्रों में जोतते हुए, अन्दर की ओर जाते हुए ध्यान करता था। इससे मस्तिष्क में एक दबाव के साथ, वास्तविक के जैसी कुरेदन महसूस होती थी। कई बार डरता था कि कहीं मस्तिष्क में कोई विकृति न आ जाए, क्योंकि ध्यान में बहुत शक्ति होती है, परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। ऐसी खुरचन से ध्यान की तीव्रता भी बढ़ जातीथी, व मस्तिष्क तरोताजा जैसा महसूस होता

था। लेवलर से मेरे मस्तिष्क के चारों ओर, बाहरी व चट्टानी किनारों पर, ढक-ढक के जैसी, टकराने की आवाज, मुझे अनुभव होती थी। इससे भी मस्तिष्क तरोताजा हो जाता था। संभवतः इनसे भी कुण्डलिनीजागरण में सहायता मिली हो, क्योंकि इससे कुण्डलिनीजागरण के समय की, मस्तिष्क में दबाव व सनसनाहट के जैसी स्थिति को सहने के लिए मैं अभ्यस्त हो गया था। इससे यह लाभ भी हुआ कि मेरे पूरे मस्तिष्क का चप्पा-चप्पा क्रियाशील हो गया था, जो कुण्डलिनीजागरण के लिए आवश्यक है। कुण्डलिनीजागरण के समय भी मेरा पूरा मस्तिष्क कुण्डलिनी से लबालब भर गया था। यदि मस्तिष्क का कोई भाग सुप्त अथवा सुस्त रहता है, तो संभवतः कुण्डलिनीजागरण नहीं हो सकता। फिर जीभ को सॉफ्ट पेलेट (soft palate) के साथ छुआता था, व कुण्डलिनी के स्वाधिष्ठान चक्र पर पहुँचने तक छुआ कर रखता था। जीभ के रास्ते से होकर कुण्डलिनी मस्तिष्क से नीचे उतर जाती है, व निर्धारित चक्र पर बस जाती है। फिर मूलबंध के द्वारा ऊपर की ओर के यथावश्यक दबाव से वह उसी चक्र पर टिकी रहती है। कुण्डलिनी को फिर विशुद्धि चक्र (गले के आधार पर, आगे की ओर) तक उतारता था, जैसे कि कोई किसान खेत जोत कर नीचे उतरा हो व आराम कर रहा हो। फिर हृदय चक्र (दोनों स्तनों के मध्य में, किसान का वास्तविक घर) तक कुण्डलिनी-किसान उतर जाता था। आराम करके कुण्डलिनी-किसान नाभि-चक्र वाले खेत पर अपने हल व बैलों के साथ पहुँच जाता था। फिर गोलाकार नाभि-क्षेत्र को एंटीक्लोकवाईस (anti clockwise) जोतता था। वहाँ पर भी मैं पूरे उदरक्षेत्र को, बाहर से अन्दर की ओर जोतते हुए, किसान का ध्यान करता था। पहली एक-दो लकीरें, पसलियों को कुरेदते हुए व बाहर की अंतिम सीमा से होती हुई, वज्र के ऊपर से होकर बनाई जाती थीं। फिर वह आराम करने के लिए स्वाधिष्ठान चक्र (वज्र के मूल के पास) तक उतर जाता था। उसके बाद अपने सबसे मूलनिवास अर्थात मूलाधार चक्र (गुदाद्वार से अंडकोष तक जाने वाली मध्य रेखा अर्थात पैरीनीयम के ठीक मध्य में) पर शाँत हो जाता था, या हल्के-फुल्के अंदाज में काम कर रहा होता था। वहाँ पर कुण्डलिनी सर्वाधिक स्पष्ट प्रतीत होती थी, और विशेष बात यह है कि वहाँ पर व्यस्त व लौकिक काम-काज के समय भी कुण्डलिनी का ध्यान आसानी से हो जाता था। श्वास भरते समय मैं ऐसा ध्यान करता था कि कुण्डलिनी प्राणवायु पीकर पुष्ट हो रही होती थी। समाधि/कुण्डलिनीजागरण के बाद मैं प्राण व अपान को एकसाथ मिलाना भी सीख गया था, जिसमें कुण्डलिनी तक श्वास ले जाने का ध्यान करता था, और मूलबंध लगाकर अपान (शरीर के निचले भागों का प्राण) के, ऊपर चढ़ने व उसके कुण्डलिनी के ऊपर प्राण के साथ मिश्रित हो जाने का ध्यान करता था। उससे, ऊपर

से प्राण व नीचे से अपान की शक्ति कुण्डलिनी को एकसाथ प्राप्त होती थी, और वह दुगुने रूप से प्रज्वलित हो जाती थी। मूलबंध लगाने के लिए मूलाधार की माँसपेशियों को इस तरह से सिकोड़ता था कि ऊपर की ओर दबाव बने व मलद्वार भी ऊपर की ओर संकुचित होए। बीच-बीच में, परिस्थिति के अनुसार उड्डीयान बंध की सहायता भी लेता था। उसमें साँस को बाहर छोड़कर व थोड़ा साँस भरते हुए, अपने पेट को अन्दर की ओर सिकोड़ता था, व ऊपर की ओर उठाता था। उससे भी कुण्डलिनी का ऊर्ध्वगमन होता था, विशेषतः मूलाधार से सीधा आज्ञाचक्र (मस्तिष्क-चक्र) को। प्रत्येक बार साँस भरने व छोड़ने के बाद जालंधर बंध लगा देता था, जिससे कि प्राण कुण्डलिनी के ऊपर से नहीं भाग पाता था, व अन्य वायु-विकार भी पैदा नहीं कर पाता था। वह बंध गर्दन-सिर को नीचे झुकाकर व ठोड़ी को छाती के निकट ला कर लगाया जाता था। यह सारी प्रक्रिया फिर दाहिने नासिका-छिद्र से साँस भरते हुए व बाएँ से छोड़ते हुए पूरी की जाती थी। उसमें मस्तिष्क व नाभि चक्रों में कुण्डलिनी को पहली प्रक्रिया से विपरीत दिशा में घुमाया जाता था। तीसरी रोटेशन-प्रक्रिया में दोनों नासिका-छिद्रों से साँस ली जातीथी, व छोड़ी जाती थी। उसमें मस्तिष्क व नाभि चक्रों में कुण्डलिनी का ध्यान पहली प्रक्रिया की दिशा में पुनः किया जाता था (उस बार किसान-कुण्डलिनी को लेवलर चलाते हुए)। उस तरह से अभ्यास करते हुए (बिना एक बार भी अभ्यास को तोड़े हुए) जब मुझे एक साल हो गया, तब कुण्डलिनी को आत्मज्ञानकारक व समाधिकारक बल देने के लिए कुण्डलिनीयोग को तांत्रिक यौनसंसर्ग के साथ जोड़ा गया" ।

यदि प्रारम्भिककाल में कुछ चक्रों (विशेषतः ग्रीवा, स्वाधिष्ठान व हृदयचक्र आदि) पर कुण्डलिनी का ध्यान करना कठिन लग रहा हो, तो उन्हें छूकर, उनका ध्यान किया जा सकता है। पूर्वोक्तानुसार, ग्रीवा-चक्र गले के उच्च भाग के ठीक नीचे एक गड्ढे में जैसा होता है, जहाँ वह समतल होने वाला होता है। वहाँ पर एक संवेदना सी अनुभव होती है। वह लगभग छाती व गले को जोड़ने वाले त्रिकोणाकार गड्ढे के निचले छोर से ६ अंगुल ऊपर होता है। गर्दन को थोड़ा पीछे की ओर भी मोड़ा जा सकता है, जिससे ग्रीवा-चक्र पर थोड़ा दबाव सा बनता है, जो कुण्डलिनी को कुछ उत्तेजित सा कर देता है। उसी तरह, हृदयचक्र दोनों स्तनों के बीच में या थोड़ा ऊपर होता है। स्वाधिष्ठान चक्र यौनांग के ऊपर वाले मूल से थोड़ा (लगभग तीन अंगुल) ऊपर, हड्डी से ऊपर होता है, जहाँ दबा कर गड्ढा जैसा बनता है, और एक यौनसंवेदना सी अनुभव होती है। मेरुदंड का स्वाधिष्ठान चक्र, मेरुदंड के निचले छोर से लगभग ५-६ अंगुल ऊपर वहाँ होता है, जहाँ दबाने पर

गड्ढा जैसा बनता है, और एक तीव्र संवेदना सी अनुभव होती है। वास्तव में अभ्यास से सब पता चल जाता है, क्योंकि कुण्डलिनी का सर्वाधिक स्पष्ट चित्र एक विशेष व संवेदना-युक्त स्थान पर स्वयं ही बनता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आधारभूत कुण्डलिनीयोग के सिद्ध हो जाने पर तांत्रिक यौनसंसर्ग बहुत आसान, सकारात्मक व तीव्रता से शुभ फल देने वाला बन जाता है। चक्रों के सम्बन्ध में भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है। ये साँकेतिक हैं। ध्यान शरीर में कहीं भी लगाया जा सकता है, क्योंकि देहपुरुष हर स्थान पर विद्यमान हैं, देह के अन्दर भी और देह के बाहर भी (जैसा कि हमने शविद में सिद्ध किया भी है)। ध्यान वहाँ पर ज्यादा अच्छा लगता है, जहाँ पर झुकाव आदि से जकड़न/संवेदना (bending/sensation) जैसी महसूस होए, क्योंकि वहाँ पर देहपुरुष पर्याप्त रक्त-आपूर्ति से प्रफुल्लित हो रहे होते हैं। क्योंकि चक्रों पर व मेरुदंड पर, योगासन करते हुए सबसे अधिक अकड़न महसूस होती है, इसीलिए वहाँ पर कुण्डलिनी का ध्यान आसान बताया गया है। इस हिसाब से चक्र पूरे शरीर की गहराई में (शरीर के अगले भाग से पिछले भाग, अर्थात मेरुदंड तक) जारी रहते हैं। वैसे यदि निश्चित क्षेत्र/चक्र पर ही प्रतिदिन ध्यान किया जाए, तो ध्यान अधिक लाभकारी होता है, उसी तरह से, जैसे निश्चित स्थान व समय पर भोजन करने से उदर-लाभ होता है। नियमित अभ्यास से, मूलबंध व उड्डीयान (uddeyaan) -बंध लगाने पर कुण्डलिनी धीरे-धीरे आगे के क्षेत्र (front channel) से स्वयं ही ऊपर उठती हुई महसूस होती है। उड्डीयानबंध वही श्रेष्ठ है, जो स्वयं लगता है। इसमें मूलबंध लगाने के थोड़ी देर बाद, जब साँस कुछ घुटने जैसा लगता है, या छाती से थोड़ा सा साँस लिया जाता है, तब स्वयं ही पेट कुछ अन्दर की ओर चला जाता है, तथा साथ में, उदरसहित कन्धों तक का, शरीर का मध्य भाग थोड़ा सा ऊपर की ओर सिकुड़ जाता है। इससे मस्तिष्क की ओर प्राणों का प्रवाह बढ़ जाता है। वह प्राण मस्तिष्क में कुण्डलिनी को स्फूर्तिमान कर देता है। वैसे उड्डीयानबंध के साथ ही मूलबंध का लगना अच्छा रहता है, अन्यथा केवल मूलबंध लगाने से, वह खुलकर छूटता रहता है। लघु उड्डीयानबंध से जब पेट ऊपर की ओर चढ़ा होता है, तब मूलबंध लगाने का, ऊपर की ओर का दबाव बनाना भी सरल हो जाता है। योगबंधों से प्राण ऊपर को उठकर, उसी मानसिकचित्र अर्थात कुण्डलिनी को पुष्ट करते हैं, जिसको ध्यान में रखकर योगबंध लगाए जाते हैं। इसका अर्थ है कि योगबंध निर्धारित-लक्ष्यांकन (fixed targetting) के सिद्धांत पर भी काम करते हैं। सिद्धासन में पैर की एड़ी से मूलाधर चक्र पर एक दबाव बना रहता है, जिससे भी कुण्डलिनी को ऊपर उठने का कुछ बल प्राप्त

होता है। संभवतः कई उत्कृष्ट साधकों को मेरुदंड से होकर भी, कुण्डलिनी ऊपर उठते हुए प्रतीत होती है। उसे अपने स्वाभाविक स्थान पर रहने देना चाहिए और ऊपर-नीचे की ओर ज्यादा बलपूर्वक नहीं धकेलना चाहिए। वह तब बंधों की शक्ति से स्वयं ही ऊपर से ऊपर उठती रहती है। मस्तिष्क में उसके पहुँचने का अर्थ उसका अंतिम पड़ाव (final round) नहीं है। वह लम्बे समय तक ऊपर-नीचे जाती रहती है, और धीरे-धीरे मस्तिष्क में परिपक्व (mature) होती है। पूरी तरह से परिपक्व हो जाने पर वह पूर्वोक्त पूर्णसमाधि (कुण्डलिनी जागरण) के रूप में परिवर्तित हो जाती है, अर्थात सहस्रार में प्रविष्ट हो जाती है। वैसे तो किसी न किसी स्तर की समाधि सदैव अनुभव होती ही रहती है, परन्तु मुक्ति का द्वार तो पूर्णसमाधि ही है। अभ्यास करते-करते स्वयं ही अनुभव होने लगता है कि कौन सा बंध व श्वास कहाँ उपयुक्त है, क्योंकि कुण्डलिनी की प्रकाशाभिमुखता चतुर साधक को स्वयं ही निर्देशित कर रही होती है। प्राकृतिक समाधि/यौन-समाधि तो दिन-रात बिना प्रयास के स्वयं ही लगी रहती है, जैसी कि प्रेमयोगी वज्र की लगी रहती थी किशोरावस्था में, क्षणिकात्मज्ञान के समय। कृत्रिम समाधि सुबह-शाम ही लगती है, कुण्डलिनीयोग के अभ्यास के मध्य में, यद्यपि पूर्णसमाधि (कुण्डलिनीजागरण) कभी भी लग सकती है। वास्तव में कृत्रिम समाधि को बलपूर्वक, दिन में कम ही लगाना चाहिए, क्योंकि इससे देहपुरुष की तरह के युक्तियुक्त कर्म दुष्प्रभावित हो सकते हैं। बहुत लम्बे समय तक के अभ्यास से कृत्रिम समाधि भी इतनी अधिक बलवान हो जाती है कि वह प्राकृतिक समाधि की तरह ही स्वयं ही दिन-रात लगी रहती है। प्राकृतिक समाधि अधिकाँशतः बहुत तीव्र व अनायास उत्पन्न हुए यौन-आकर्षण से लगती है, जैसा प्रेमयोगी वज्र के साथ घटित हुआ था। कुण्डलिनी का अभ्यास साधक को व्यर्थ की भौतिकता से मोड़कर मानसिकता/आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है, क्योंकि पहले अपने शरीर, फिर अपने मन-मस्तिष्क व अंत में आत्मा के अन्दर चमकती कुण्डलिनी को अनुभव करते हुए साधक को विदित हो जाता है कि वास्तविकता व महत्ता मन-आत्मा के अन्दर है, बाहर के जगत में नहीं। जब एक प्रकार से समाधि की आदत सी पड़ जाती है, तब उसके बिना संसार व्यर्थ व हानिकारक सा लगने लगता है। इसलिए एक समाधि के पूर्णतया समाप्त होने से पहले ही, साधक दूसरी समाधि का आश्रय ले लेता है। समाधि वैसी ही होती है, केवल उसका मानसिक चित्र बदलता है। नई समाधि प्राकृतिक रूप से, स्थानान्तरण सिद्धांत से भी लग सकती है, व साधना के द्वारा नए सिरे से भी। बाल्यकाल में जो पुरुष तेजस्वी, बुद्धिमान व एकाग्र होते हैं, उनमें पूर्वजन्म की समाधि का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। समाधि एक मानसिक आवरण का काम करती है, जो कि द्वैतपूर्ण

साँसारिक क्लेषों से मन को बचा कर रखती है। आत्मज्ञान के बाद भी पुरुष को समाधि की छत्रछाया स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। वास्तव में वह छत्रछाया तो पहले से ही मिल रही होती है, क्योंकि आत्मज्ञान की प्राप्ति समाधि से ही तो होती है। बाद में तो प्रेमयोगी वज्र योगासन करते हुए भी, साँस भरकर व रोककर, साथ में मूलबंध लगाकर, प्राण व अपान को जोड़ने की कला सीख गया था। वह पूजा की मूर्ति के अन्दर, जल चढ़ाते समय सूर्य के अन्दर व पुराणों को पढ़ते हुए, संस्कृत श्लोकों के अन्दर भी कुण्डलिनी का ध्यान करने लग गया था। वास्तव में पूजा, स्वाध्याय आदि तभी पूर्ण फल प्रदान करते हैं, यदि उनके अन्दर कुण्डलिनी का ध्यान किया जाए। देवताओं की मूर्तियाँ मुख्यतया स्वर्णिम वर्ण वाली व चमकीली धातुओं से बनाई जाती हैं, जैसे कि स्वर्ण, ताम्बा आदि से। ऐसा इसलिए किया जाता है, क्योंकि अपनी क्रियाशीलता व जागरण की अवस्था में कुण्डलिनी, स्वर्णिम जैसी व चमकती हुई प्रतीत होती है। अतः उन देवप्रतिमाओं की चमकती हुई सतह पर, कुण्डलिनी को देखना चाहिए व उसका ध्यान करना चाहिए। जो हम पूजा के समय धूप/पुष्प आदि सूंघते हैं, ज्योति आदि देखते हैं, भोग आदि खाते हैं, व घंटानाद आदि सुनते हैं आदि-आदि; वे सभी अनुभूतियाँ प्राणों के साथ ऊपर उठकर, कुण्डलिनी को पुष्ट कर रही होती हैं। प्राणों का अर्थ यहाँ सूक्ष्म प्राण से है, जो योगबंधों से ऊपर उठता है, और कुण्डलिनी को भी ऊपर उठाकर, मस्तिष्क में पुष्ट करता रहता है। सीधा ध्यान तो चक्रों पर ही लगाया जाता है, मस्तिष्क में तो वह स्वयं पहुंचता है। वैसे तो मस्तिष्क में भी सीधा ध्यान लगा सकते हैं, परन्तु यौनचक्रों से ऊपर उठी हुई कुण्डलिनी बहुत सशक्त होती है। वैसे भी, व्यावहारिक जीवन में, मस्तिष्क में सीधा ध्यान लगाना कठिन होता है।

कुछ अभ्यास के उपरांत, चक्र पर सीधे रूप में ध्यान लगाने की अपेक्षा, प्राण के माध्यम से स्वतः ध्यान लगना ही श्रेयस्कर, सरल व क्रीड़ामय होता है। साँस भरते हुए, चक्र में प्रविष्ट होती हुई प्राणवायु का ध्यान करना चाहिए। साँस छोड़ते समय, जैसे ही चक्र पर स्थित कुण्डलिनीचित्र धुंधलाने लगता है, वैसे ही दूसरी, भरी हुई साँस वहाँ पर पहुँच जाती है, और वह चित्र पुनः चमकने लगता है। इस तरह से यह सिलसिला चलता रहता है। नाभिचक्र व स्वाधिष्ठानचक्र पर उदर की गति से भी प्राण को केन्द्रित करने में सहायता मिलती है। हृदयचक्र पर वक्षस्थान की गति से भी कुछ सहायता मिलती है। माथे की माँसपेशियों को तनिक सिकोड़ कर आज्ञाचक्र (भौहों के मध्य में) पर प्राण को केन्द्रित किया जा सकता है। दांतों को थोड़ा भींच कर, गले के विशुद्धिचक्र पर दबाव बना कर, वहाँ पर प्राण को केन्द्रित किया जा सकता है। क्षणिक मूलबंध से मूलाधारचक्र

पर प्राण को केन्द्रित किया जा सकता है। इसी तरह से, योगासन के समय, जोड़ों की ऐंठन पर भी प्राणवायु को केन्द्रित करने में सहायता मिलती है। जिस तरह से अग्नि को भड़काने के लिए केवल एक चिंगारी व हवा ही पर्याप्त होती है, उसी तरह से योगाग्नि को भड़काने के लिए भी प्राणायाम व कुण्डलिनी की आवश्यकता होती है। जैसे वही चिंगारी वायु के संपर्क से, भड़कता हुआ आग का शोला बन जाती है, वैसे ही कुण्डलिनी भी। बस, केवल कुण्डलिनी का एक बार चक्र पर ध्यान शुरु हो जाए और उसपर धौंकनी की तरह, प्राणायाम से प्राणवायु बैठती रहे, तो वह खुद ही भड़कने लग जाती है, और स्पष्ट होती जाती है, गहरा ध्यान लगाने के लिए दिमाग पर अधिक जोर डालने की आवश्यकता नहीं रहती। प्राणवायु से कुण्डलिनीचक्र पुष्ट होता हुआ, उसी तरह से अनुभव किया जाता है, जैसे कि हवा की धौंकनी से आग का चुल्हा पुष्ट होता रहता है। जैसे हवा से, चुल्हे की अग्नि स्वयं ही पुष्ट होती रहती है, उसी प्रकार से कुण्डलिनीचक्र की कुण्डलिनी भी, क्योंकि शरीर के प्रत्येक अणु-परमाणु में देहपुरुष विद्यमान हैं, और कुण्डलिनी, समस्त देहपुरुषों को प्रदान किया गया, एक मनुष्य का एकसमान रूपाकार व जीवनचरित ही है (शविद के सिद्धांतानुसार)। जिस तरह से अग्नि स्वयं ही प्राणवायु को अपनी ओर खींचती है, उसी तरह से कुण्डलिनी भी। जहाँ पर कुण्डलिनी होती है, वहाँ पर प्राण स्वयं ही खिंचा चला जाता है। इसी तरह से, जहाँ पर प्राण का ध्यान किया जाता है, वहाँ पर कुण्डलिनी स्वयं ही प्रकट हो जाती है। इस तरह से कुण्डलिनी, प्राण व ध्यान आपस में एक-दूसरों को पुष्ट करते रहते हैं।

हल्की साँस चल रही हो, तो उसे विशुद्धि चक्र पर उड़ेलते रहना चाहिए और यदि पर्याप्त समय व शान्ति उपलब्ध हो, तो मूल बंध व उड्डीयान बन्ध लगा कर नीचे के प्राणों के, उस तक आरोहण का ध्यान भी करना चाहिए। कुछ अधिक लम्बी साँसों को हृदयचक्र पर उड़ेलना चाहिए। मध्यम साँसों को नाभिचक्र पर उड़ेलना चाहिए। लम्बे व गहरे श्वासों का ध्यान, उन्हें स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार के ऊपर उड़ेलते हुए करना चाहिए। इस तरह से, क्योंकि चक्रों पर प्राणवायु के भर जाने से, वह वहाँ पर कुण्डलिनी को स्पष्ट व गतिशील करते हुए, उसके साथ स्वयं भी एक प्रकार से चक्कर काटते हुए कहलाया जा सकता है, संभवतः इसीलिए इन विशेष ध्यानयुक्त बिन्दुओं को चक्र कहा जाता है। जब कुण्डलिनी-अग्नि को पूरे शरीर की प्राणशक्ति से भड़काया जाता है, तब वह गोलाकार चक्र में घूमने लगती है, जैसे कि कोई किसान गोलाकार खेत को तीव्र वेग से जोत रहा हो। चक्रवासिनी कुण्डलिनी एक जीवित मनुष्याकृति (गुरु, इष्टदेव आदि) होती है, जो जीवित देहपुरुष के ऊपर आरोपित हुई होती है। कुण्डलिनीयोग से चक्र पर उड़ेली गई श्वास को वह स्वयं

भी साँस के रूप में लेती रहती है, और पुष्ट होती रहती है, शविदवर्णित देहपुरुष की तरह। कुण्डलिनीचक्रों के खुलने के बारे में भी भ्रम की सी स्थिति बनी रहती है। संभवतः किसी चक्र के खुलने का यह अर्थ है कि उस चक्र पर कुण्डलिनीचित्र अत्यधिक स्पष्ट, चमकीले, जीवित व आनंदमयी रूप में होता है। इसका सीधा सा अर्थ है कि कुण्डलिनी कभी भी वहाँ से जागरण के लिए ऊपर उठ सकती है, अन्यथा चक्र बंद होने की अवस्था में, वह चक्र पर ही घूमती रहती है। प्रेमयोगी वज्र ने भी कुण्डलिनीजागरण से पहले, कई दिनों तक अपनी कुण्डलिनी को, मूलाधार, स्वाधिष्ठान व आज्ञा (मस्तिष्क) चक्रों पर, इसी पूर्वोक्त रूप में अनुभव किया था।

कुण्डलिनी-क्रियाशीलता को कई लोग भ्रम से कुण्डलिनी-जागरण समझ लेते हैं, लगभग जैसा ही कुछ प्रेमयोगी वज्र ने भी कुण्डलिनीजागरण से पहले समझ रखा था। कुण्डलिनी जब क्रियाशील हो जाती है, तब वह दैनिक जीवन में, शरीर में यहाँ-वहाँ, विशेषतः मस्तिष्क में प्रतीत होती रहती है। कुण्डलिनीयोगाभ्यास के समय भी वह शरीर के प्रत्येक चक्र के साथ, यथानिर्दिष्ट रूप से सहस्रार (मस्तिष्क) में भी पहुंचती रहती है; यद्यपि वहाँ पर उसे जागृत नहीं, अपितु क्रियाशील ही कहेंगे। जागृत होने पर तो वैसा प्रचंड अनुभव होता है, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र ने वर्णित किया है। जागृत होती हुई कुण्डलिनी तो मस्तिष्क में पूर्णतः व सर्वाधिक रूप से जीवंत या सत्य प्रतीत होती है। वह बाहर के भौतिक जगत से भी अधिक जीवंत प्रतीत होती है (जैसी कि प्रेमयोगी वज्र को पूर्वोक्त १० सेकण्ड की समाधि में अनुभव हुई)। सामान्य परिस्थिति में, कुण्डलिनीजागरण तो केवल यौनयोग से ही संभव है, क्योंकि कुण्डलिनीजागरण के लिए अत्यधिक मानसिकबल की आवश्यकता होती है, जो केवल यौनयोग से ही प्राप्त हो सकता है। यदि साधक व्यावहारिक-प्रकार का न होते हुए, संन्यासी-प्रकार का हो, तो उस परिस्थिति में साधारण कुण्डलिनीयोग से भी कुण्डलिनी जागृत हो सकती है, क्योंकि उस महान शान्तावस्था में अत्यधिक मानसिक शक्ति सरलता से प्राप्त हो जाती है। साधना करते समय जब सर्वाधिक सुलभ चित्र मन में बैठ जाता है, अर्थात कुण्डलिनी क्रियाशील हो जाती है, तब साधना के बल से उसका प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। फिर स्वाभाविक है कि मन उसका अधिक से अधिक ध्यान करता जाता है, क्योंकि आनंदमयी व प्रकाशमयी वस्तु के पीछे मन स्वयं ही भागता है। अंत में वह कुण्डलिनी जाग जाती है। फिर मन पूर्णरूप से संतुष्ट हो जाता है, और पूरा स्वाद चख के पीछे हट जाता है, वैसे ही जैसे कोई आदमी पेट भर जाने के बाद अन्न को खाना बंद कर देता है। फिर मन उसकी तरफ, बिना साधना के ही, व्यवहारकाल में भी भागता रहता है, जब तक कि निरंतर समाधि न लग जाए।

यद्यपि बहुत से गुणवत्ताप्रेमी साधक नियमित साधना के साथ उस कुण्डलिनी का, बलपूर्वक ध्यान करते ही रहते हैं। संभवतः यह और अधिक अच्छी बात होती है।

प्राणवायु या श्वास, अर्थात शुद्ध, ताज़ी व कुछ ठंडक वाली हवा (पहाड़ों के जैसी) में कुण्डलिनी का ध्यान करना सरल होता है। ऐसी हवा से कुण्डलिनी की ज्योति प्रज्वलित होकर भड़क जाती है। वास्तविक के भौतिक जगत में भी, ऐसी हवा के झोंके मन को मीठे-मीठे संकल्पों से भर देते हैं। इसी कारण से तो अधिकतर योगी व साधक लोग शुद्ध, स्वच्छ व एकांतमयी पहाड़ों में, अन्यथा खुले वातावरण में भ्रमण करते हुए, कुण्डलिनीसाधना का अभ्यास करते हैं। मूलबंध लगाने से, जब पूरे शरीर की प्राणवायु सरसराहट के साथ मस्तिष्क में पहुंचती है, तो वहाँ पर कुण्डलिनी चमकने-दमकने लगती है। भ्रमण के समय भी पर्याप्त प्राणवायु उपलब्ध होती है। प्रेमयोगी वज्र को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष समाधि, दोनों ही के समय, ऐसी ही शाँत, उन्मुक्त, एकांतमयी, भ्रमण से भरपूर, स्वच्छ, शुद्ध, योगयुक्त व मर्यादित श्रम वाली आदि-आदि, प्राणवायु से भरपूर परिस्थितियाँ भी उपलब्ध हुई थीं। प्राणवायु है, तो सभी कुछ है। यही जीवन है, यही उन्नति है, यही कुण्डलिनीजागरण है, यही आत्मज्ञान है, और यही मुक्ति है।

जिस तरह से भौतिक विद्याओं के क्षेत्र में, सैद्धांतिक नियमों को पूरा किए बिना सफलता नहीं मिलती, उसी तरह से कुण्डलिनीयोग आदि मनोवैज्ञानिक विद्याओं में भी। ईश्वर/दैव भी इन सैद्धांतिक नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकते, यद्यपि वह उनका पालन कराने वाली अनुकूल परिस्थितियाँ तो उत्पन्न कर ही सकते हैं। बहुत से महान परिश्रमी तो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भौतिक पक्ष की तरह ही, आध्यात्मिक पक्ष के क्षेत्र में भी, सफलता के लिए ईश्वर केवल सहयोगी कारण ही है, मुख्य कारण तो उचित ढंग से परिश्रम करना ही है। अधिकाँश लोग अज्ञानवश ईश्वर को आध्यात्मिक सफलता में मुख्य कारण मान लेते हैं। इसलिए ईश्वर की अनुकूलता को प्राप्त करने के लिए, देहपुरुष की तरह ही अद्वैतनिष्ठ रहते हुए, उसी की तरह सभी कर्मों को ईश्वरसेवा समझते हुए करना ही वास्तविक ईश्वराराधना है।

प्रेमयोगी वज्र इस उपरोक्त समाधिकारक योगसाधना के अंतर्गत लगभग पूरे वर्ष भर तक कुण्डलिनीसम्बंधित सोशल मीडिया (Brilliano kundalini forum, emergingsciencefoundation.org) के निरंतर संपर्क में था, और कुण्डलिनीयोग से सम्बंधित सर्वाधिक वार्तालाप/चैटिंग (chatting) करता रहता था। साथ में प्रेमयोगी वज्र कुण्डलिनी व

व्यावहारिक अध्यात्म से सम्बंधित भौतिक पुस्तकों, ई-पुस्तकों व क्वोरा/quora (प्रश्नोत्तरी-वेबसाईट फोरम/question-answer type online forum) की भी निरंतर सहायता ले रहा था। सबसे अधिक प्रभावित तो उसे तांत्रिक व यौनयोग-सम्बंधित पुस्तकों ने ही किया। प्रारम्भ से ही वह वहीं से निरंतर प्रेरणा लेता रहा तथा अन्य सदस्यों को भी प्रेरित करता रहा। इसका अर्थ है कि सोशल-मीडिया की संगति से भी काम चल सकता है, विशेषतः यदि जिज्ञासा व परिश्रम तीव्र हो। उपरोक्त चैटिंग में प्रेमयोगी वज्र ने सिद्ध कर दिया कि विपरीत समय-क्षेत्र (time zone) के साथ सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि उससे दिन और रात, अर्थात प्रकाश व अन्धकार आपस में मिश्रित हो जाते हैं, जिससे अनोखा अद्वैत उत्पन्न होता है।

कुण्डलिनीयोग के अन्य लाभों को प्रेमयोगी वज्र अपने शब्दों में इस प्रकार कहता है, “कुण्डलिनीयोग को करते हुए मेरा मानसिक अवसाद व उबाऊपन क्षीण हो गया था। मेरी भूख में आश्चर्यजनक रूप से सुधार हो गया था, और अब मैं शारीरिक वजन को लेकर चिंतित होने लग गया था। परन्तु वजन बढ़ने से पूर्व ही मेरी भूख अपने आप ही सामान्य हो जाया करती थी। मन का फालतू शोर-शराबा थम गया था। परेशान करने वाली पुरानी यादें क्षीण हो गई थीं। पहले मैं अकेलापन व अपने को समाज से कटा हुआ सा अनुभव करता था, परन्तु योग के अभ्यास से मुझे लगा कि समाज अकेला है, व मुझसे कटा हुआ है। मेरे पाचनतंत्र के छुटपुट रोग लगभग नष्टप्राय हो चुके थे। मेरे शरीर की दर्दें समाप्त हो गई थीं। पूरे दिनभर मैं उत्तम प्रकार की मनस्कता को अनुभव करता था। मानसिक विकार शाँत हो गए थे। क्रोध नियंत्रण में आ गया था। मन काम करने में लगने लगा था” । इस तरह से हम देख सकते हैं कि कुण्डलिनीयोग से भौतिक/शारीरिक व्यायाम व आध्यात्मिक योग साधना, दोनों का फल एक साथ प्राप्त होता है। बवासीर में भी इससे कुछ लाभ मिलता है, क्योंकि मूलबंध लगाते रहने से गुदाद्वार का संकुचन-प्रसारण निरंतर चलता रहता है, जिससे उससे सम्बंधित क्षेत्र में रक्त संचार बाधित नहीं होता। प्रातःभ्रमण, शौच व स्नान के बाद कुण्डलिनीयोग अत्युत्तम रहता है। हर स्थान पर गन्दगी महसूस होने का जो मानसिक रोग होता है, वह भी नियमित कुण्डलिनीयोग से नष्टप्राय हो जाता है।

प्राणायाम वर्षा की तरह काम करता है। जैसे वर्षा का जल सम्पूर्ण भूमि में रिस जाता है, उसी तरह से प्राणायाम की प्राणवायु भी पूरे शरीर में रिस जाती है। जैसे भूमि में रिसे हुए जल को जल-बंधों व छोटी-बड़ी नहरों के माध्यम से इकट्ठा करके, उससे पौधे को सिंचित किया जाता है,

उसी प्रकार शरीर में रिसे हुए प्राण को यौगिक-बंधों के प्रयोग से कुण्डलिनी के ऊपर उड़ेला जाता है, जिससे कुण्डलिनी पुष्ट होकर जागृत हो जाती है।

कहीं-कहीं पर यह धारणा भी प्रचलित है कि एक बार भी अनुचित कार्य करने से कुण्डलिनीजागरण अथवा आत्मज्ञान नहीं होता, जैसा कि शास्त्रों में भी पढ़ने को मिल जाता है। उदाहरण के लिए, एक स्थान पर लिखा है कि जितनी बूँदें मद्यपान की पी जाएं, उतने ही जन्म मुक्ति के लिए लग जाते हैं। संभवतः केवल सन्मार्ग के प्रति प्रेरित करने के लिए ही इस प्रकार का भय बनाया गया है, यथार्थ में ऐसा होता हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रेमयोगी वज्र ने भी आत्मज्ञान व कुण्डलिनीजागरण से पहले, अनेक दोषपूर्ण आचरण किए थे। उसने क्षणिकात्मज्ञान से पहले, बचपन में २-४ बार धूम्रपान किया था। कुण्डलिनीजागरण से पहले भी उसने कुछ समय के लिए मद्यपान किया था, धूम्रपान किया था, माँसभक्षण किया था, अप्रत्यक्ष रूप से असामाजिक यौनाचरण किया था, व यहाँ तक कि नशीले पदार्थों का सेवन भी किया था। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि कुण्डलिनीजागरण के लिए ऐसे आचरण करने चाहिए, अपितु यह है कि यदि कोई इन आचरणों से घिरा हुआ है, तो उसे हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह भी तीव्रता से सुधर कर अपनी कुण्डलिनी को जागृत कर सकता है। वैसे उपरोक्त मामले में, प्रेमयोगी वज्र अपवाद भी हो सकता है, क्योंकि उसे अपने गुरु की अत्यधिक निकटता भी प्राप्त हो चुकी थी, फिर भी दृढ़ अभ्यास से सभी कार्य संभव हो जाते हैं।

अधिकाँश लोग चाहते हैं कि समाज से सभी बुराइयाँ पूरी तरह से समाप्त हो जानी चाहिए। यह इच्छा देहदेश की सुव्यवस्था के विरुद्ध है, क्योंकि एक स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक छुटपुट बुराइयाँ तो वहाँ भी विद्यमान रहती हैं। समाज के सभी लोग एक-दूसरे के सहयोगी होने चाहिए, विरोधी नहीं; जैसा कि देहदेश में होता है। आपसी लड़ाई-झगड़ों से न तो कभी किसी का हित हुआ और न ही कभी होगा। वैसे आत्मरक्षा तो सबका जन्मसिद्ध अधिकार है ही। अब प्रेमयोगी वज्र को ही लें, क्षणिकात्मज्ञान की शक्ति उसे एक रजोगुण व तमोगुण प्रधान समाज से भी प्राप्त हुई थी। बचपन से लेकर भी, प्रेमयोगी वज्र मिश्रित प्रकार के समाज में पला-बढ़ा था। वहाँ पर प्रत्येक प्रकार के मनुष्य, परस्पर मेल-मिलाप के साथ रहते थे। उस समय प्रेमयोगी वज्र के इर्द-गिर्द अध्यात्ममिश्रित यौनरोमांच (romance) का भी बोलबाला रहता था। तांत्रिक गुण तो जैसे उसमें बचपन से ही थे। स्त्रियों की, विशेषतः गुणसम्पन्न स्त्रियों की निकटता से, वह अत्युच्च मानसिकता को या यूं कहो कि कुछ-कुछ आत्मज्ञान के अनुभव से उत्पन्न मानसिकता को अनुभव

करता था। वह स्त्रियों को देवी की तरह पूज्य मानता था। यद्यपि साथ में वह स्त्रियों से यह अपेक्षा भी रखता था कि वे प्रेमपूर्ण, मीठी वाणी के साथ, सहनशील, हास्ययुक्त, प्रसन्नतायुक्त व अन्य स्त्रियोचित गुणों के साथ रहें तथा साथ में अपने पति की चहुंमुखी प्रगति के लिए प्रयास करती रहें। क्योंकि प्रेमयुक्त व्यवहार से पुरुष स्त्री के वश में हो जाता है, इसलिए आवश्यक है कि स्त्री उचित आचार-विचार का समर्थन करे और सिखाए भी। ऐसा ही प्रेमयोगी वज्र के साथ भी हुआ था, जब संकेत में ही प्रथम देवीरानी ने मद्यपान, नशे आदि की कड़ी भर्त्सना की थी। उससे वह नशीली वस्तुओं से बचा रहा, जो भी उसके क्षणिकात्मज्ञान में एक अतिरिक्त अनुकूल कारण था। यह शोध का विषय है कि क्या उस क्षेत्र के तांत्रिक प्रभाव से उसमें तांत्रिक गुण उत्पन्न हुए थे, या उसके सूक्ष्म या पूर्वजन्म के तांत्रिक प्रभाव से वह क्षेत्र यौनरोमांच से भर गया था। इन सभी बातों से भी सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी का विकास सहयोगात्मक व प्रेमपूर्ण समाज में अधिक अच्छा होता है। समाज के निम्नगुणप्रधान अंग साँसारिक शक्ति को बढ़ाते हैं, जो शक्ति फिर उच्चगुणप्रधान अंग से मिलकर, उसकी आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाती है। यह भी तो एक श्रम-विभाजन ही है, देहदेश की परम्परा के अनुरूप। समाज का एक ही अंग निम्नगुणों (रजोगुण व तमोगुण) व उच्चगुणों (सत्त्वगुण) को एक ही समय में, एक साथ अच्छी तरह से ग्रहण नहीं कर सकता। साँसारिक शक्ति को प्रकट करने के लिए निम्नगुणों को ग्रहण करने से, आध्यात्मिकता प्रकट करने वाले उच्च गुण नष्ट हो जाते हैं। इसी तरह से, आध्यात्मिकता को प्रकट करने वाले उच्चगुणों के आश्रय से भौतिकता प्रकट करने वाले निम्न गुण नष्ट हो जाते हैं। व्यावहारिक आत्मज्ञान तो उच्चगुणों के साथ बसने वाली भौतिकता से ही उत्पन्न होता है। यही तंत्र का भी सिद्धांत है। इसीलिए निम्नगुणों वाले अंगों व उच्चगुण वाले अंगों के मध्य में उच्च कोटि का प्रेम व सहयोग होना चाहिए। स्वस्थ समाज में यह आदान-प्रदान चलता रहता है। कभी कोई पुरुष निम्नगुणों का सहयोग देकर उच्चगुणों वाले पुरुष की सहायता करता है, तो कालान्तर में वही निम्नगुणपुरुष उच्चगुण को ग्रहण कर लेता है, और उच्चगुण-पुरुष निम्नगुणों को, एक-दूसरे का ऋण चुकाने के लिए।

स्वस्थ समाज में सभी के अपने-अपने स्तर होते हैं। किसी का स्तर कर्मयोग का होता है, किसी का स्तर ज्ञानयोग का होता है, तो किसी का यौनयोग का। किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक स्तर को नीचा समझकर, उससे घृणा नहीं करनी चाहिए। तीनों प्रकार के स्तरों से कुण्डलिनी पुष्ट होती है, यद्यपि उसे पुष्ट करने की विधि में थोड़ी बाहरी भिन्नता अवश्य है। कर्मयोग से वह बहुत सुदृढ़ हो जाती है। ऐसा करते हुए, कालांतर में कर्मयोगी स्तरोन्नत हो जाता है, और अनायास ही

ज्ञानयोगी बन जाता है। ज्ञानयोग से कुण्डलिनी को बहुत शक्ति मिलती है, और वह मुक्तिगामी-वेग के निकट पहुँच जाती है। फिर ज्ञानयोगी पुनः स्तरोन्नत होकर यौनयोगी बन जाता है। यौनयोग से कुण्डलिनी को मुक्तिगामी वेग मिलता है, और वह जागृत हो जाती है। इसलिए जो व्यक्ति कर्मयोग में स्थित रहते हुए, ज्ञानयोगी या यौनयोगी से वैर न करके उनसे प्रेम करता है, उसे अपने ज्ञानयोग या यौनयोग वाले स्तर में बहुत सी अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी ठीक ऐसा ही हुआ था। समाज में सभी लोग भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक स्तरों पर प्रतिष्ठित होते हैं। किसी को कोई विधि उपयुक्त लगती है, और किसी को कोई। कई लोग ज्ञानयोग-स्तर के बाद पुनः कर्मयोग-स्तर को ग्रहण कर लेते हैं, और फिर कालान्तर में, पहले से भी उच्चतर स्तर के कर्मयोग व ज्ञानयोग को प्राप्त करते हैं। इस तरह से, कई लोग १- २ चक्र ही पूरा करते हैं, कई लोग अधिक बार पूरा करते हैं, और उत्तरोत्तर उन्नत होते रहते हैं। कई बिरले लोग पहली बार ही ज्ञानयोग में सफलता पाने के बाद, उसे दृढ़ करने में लगे रहते हैं, और वैरागी-संन्यासी बन जाते हैं। इसीलिए विभिन्न स्तरों के बीच में भेदभाव नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी का लक्ष्य एकसमान ही तो है। इसी तरह, इन्हीं तीनों आधारभूत मार्गों के ऊपर निर्मित विभिन्न पंथों व सम्प्रदायों के बीच में भी भेदभाव नहीं करना चाहिए। पूर्णभौतिकता भी आध्यात्मिकता का सबसे निचला स्तर ही होता है, यदि वह आध्यात्मिकता के दिशानिर्देशन में रहे। पूर्वोक्तानुसार, प्रेमयोगी वज्र भी अपने विज्ञानाध्ययनकाल में वृद्धाध्यात्मिकपुरुषनिर्मित आध्यात्मिकता के वश में था। यद्यपि वह निर्णय लेने में स्वतन्त्र था, बाध्य नहीं था। आध्यात्मिकता की संगति को उसने स्वेच्छा से स्वीकार किया था। ऐसा ही होना चाहिए। संभवतः अध्यात्मविदों द्वारा अपने विषय में रुचि उत्पन्न न करके, उसे बलात थोपना ही लोगों का उससे विमुख होने में मुख्य कारण है। और भी, संभवतः ज्ञानकर्महीनता या अमानवता तो निकृष्ट प्रकार का स्तर है, जिससे बचना चाहिए। इस निम्नतम स्तर को छोड़कर, सभी स्तर प्रगतिशील होते हैं, और एक-दूसरे के सहयोगी होते हैं। जिस भी समाज में ये विभिन्न स्तर एक-दूसरे से अलग हुए, उस समाज में आध्यात्मिकता की हानि हुई और अंधे भौतिकवाद या अकर्मवाद को बढ़ावा मिला।

जिस तरह से कोई पुरुष अजनबी लोगों व अजनबी जगहों के क्रियाकलापों से ज्यादा विचलित नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत एक मजा जैसा महसूस करता है, उसी तरह से एक अनासक्त पुरुष हमेशा ही रहता है, क्योंकि उसके लिए सभी कुछ अजीब अर्थात अजनबी की तरह ही होता

है। अब देहपुरुषों व उनके क्रियाकलापों को ही देख लो। वे सभी सच भी हैं, और झूठ भी, अर्थात अजीब हैं; तो फिर बिल्कुल उन्हीं की तरह के पुरुष व उन्हीं की तरह के उनके क्रियाकलाप, कैसे पूरी तरह से सच हो सकते हैं? वे भी दोनों ही हैं, मतलब कि सच भी हैं, और झूठ भी। तभी तो द्वैताद्वैत की धारणा ही देहपुरुष की धारणा है, और सर्वश्रेष्ठ भी। द्वैत से दोनों की (देहपुरुष व अनासक्त पुरुष) दुनियादारी चलती है, और अद्वैत से दोनों का मुक्ति का आनंद कायम रहता है। इसी द्वैताद्वैत का ही दूसरा नाम अनासक्ति भी है। इसी प्रकार जगह बदलने या घूमने–फिरने के पीछे भी अनासक्ति सिद्धांत काम करता है। परस्त्रियों से हास्य-विनोद से आनंद प्राप्ति की वजह भी अनासक्ति है। भय से व साहसिक गतिविधियों से आत्मानंद भी अनासक्ति की ही उपज है। "पर्वताः दूरतः रम्यन्ते", यह उक्ति भी अनासक्ति सिद्धांत को दर्शाती है। पढ़ाई-लिखाई, कथाओं, दंतकथाओं, उपन्यासों, किम्वदंतियों व दूसरे अविश्वसनीय प्रकरणों से जो आत्मानंद की उपलब्धि होती है, वह भी उनमें अनासक्ति से ही होती है। अनासक्तिजनक उपायों में भी मूल संस्कृत भाषा में पुराण-कथाएँ सबसे सफल प्रतीत होती हैं, क्योंकि संस्कृत भाषा चित्तरूपी अग्नि को प्रज्वलित कर देती है, जिससे इन्द्रियगम्य स्थूलजगत भी अपने अंदर ही महसूस होता है, अर्थात कुण्डलिनी क्रियाशील हो जाती है। फिर अपने मानसिक रूप से आसक्ति कैसी? गैरों (बाहरी संसार) की तरफ झुकाव को आसक्ति व अपने (मन/आत्मा) प्रति झुकाव को प्रेम कहते हैं। पुराणों की कथाओं की प्रत्यक्ष रूप से असत्यता अनासक्ति को पैदा करती है, तथा अप्रत्यक्ष रूप से सत्यता, उनके पढ़े जाने में रुचि को बनाए रखती है।

यदि वस्तुओं व भावों में, अर्थात चित्तवृत्तियों में आनंद होता, तब तो मनोरम वस्तुएँ या लोग, कभी भी किसीको बुरे न लगते। किसी भी मनोरम वस्तु से आनंद इसलिए मिलता है, क्योंकि उससे पुरानी घटनाएँ स्मरण हो आती हैं, जिनके प्रति अनासक्ति होना स्वाभाविक है, क्योंकि वे अप्रत्यक्ष व पुरानी होती हैं, दूर के पर्वतों की तरह तथा बिना मतलब की, अर्थात अजनबी सी बन चुकी होती हैं। विरह से जो प्रेम का आनंद महसूस होता है, वह भी अनासक्तिजन्य ही होता है। इसी तरह से परहित के कर्मों, दूसरों के द्वारा दिए उपदेश या आदेश से किए गए कर्मों, कर्तव्यकर्मों व क्लिष्टकर्मों के साथ भी अनासक्ति विद्यमान होती है, आत्मानंद के स्रोत के रूप में। गीत, नाटक आदि कलाओं से और पठन, लेखन आदि विद्याओं से जो आनंद मिलता है, वह अनासक्तिमूलक ही है; क्योंकि ऐसी गतिविधियों में मन पूरी तरह से डूब जाता है, और अपने आप को ही अजनबी सा लगने लग जाता है। इसी तरह दूरदर्शन-चलचित्र (tv-film,video etc.), चित्रपट-चलचित्र

(theatre-movie) आदि से भी अनासक्ति लाभ मिलता है। सिने कलाकार जितनी चाहे कोशिश कर लें, वे अपने अभिनय को वास्तविक नहीं बना सकते। वे वास्तविकता की पूरी नक़ल तो कर सकते हैं, परन्तु भावों व हावों-भावों को पूर्णतः वास्तविक नहीं बना सकते। अतः उनके कलाकारी के क्रियाकलापों में अनासक्ति विद्यमान रहती है, देहपुरुष की तरह। वास्तव में, सिने कलाकार देहपुरुष ही होते हैं। इस तरह से, हम सदैव अपने शरीर के अन्दर सिने कलाकारों का हुजूम लिए रहते हैं।

विज्ञान विषय इसलिए नीरस लगता है, क्योंकि उसके प्रति लोग सत्यत्व बुद्धि रखने लगते हैं, जिससे आसक्ति पैदा हो जाती है। इसके साथ-साथ वैदिक-पौराणिक पुरुषों के साथ या ऋषि, गुरु आदि दिव्य पुरुषों के साथ नजदीकी बनाने से उत्पन्न अनासक्ति का भाव विज्ञान के साथ स्वतः जुड़ जाता है, जिससे वह फिर रुचिकर लगने लगता है। ऐसा ही प्रेमयोगी वज्र के साथ भी हुआ था।

वैदिक कर्मकांडों में सुन्दर रूप–रंग व सुन्दर कद-काठी वाले मनुष्यों की तरह के देवता कल्पित किए गए होते हैं, जो कि स्थूल सृष्टि का नियमन उसी तरह से करते रहते हैं, जैसे कि देहपुरुष देहसृष्टि का। ऐसा करने के पीछे का मूल उद्देश्य भी अनासक्ति-कौशल को विकसित करना ही होता है। जिस तरह से आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर अनासक्ति खुद ही पैदा हो जाती है, उसी तरह अनासक्ति से भी आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। इससे जाहिर होता है कि शरीरविज्ञान दर्शन सभी मेहनतकश पुरुषों के लिए काफी आसान व फायदेमंद है, क्योंकि इसमें कुछ अलग से औपचारिकता नहीं करनी है, बल्कि अपने नजरिये को ही बदलना है मात्र।

अगर केवल चित्तवृत्तियों में ही स्थायी आनंद होता, तो उनमें आसक्त पुरुष और दुराचारी को भी जरूर मिलता। यदि उनके बिना आनंद होता, तो मूढ़ों, बेहोशों व नशे में धुत्त पुरुषों को भी मिलता। दरअसल आत्मानंद तो बीच वाले रास्ते में, अर्थात मध्यम मार्ग में, अर्थात अनासक्ति में ही है। अतः चित्तवृत्तियों का निवारण शविद का ध्येय नहीं है, अपितु उन्हें द्वैताद्वैत के साथ अनुभव कराना ही है। हमने सभी भावों-अभावों को यथावत स्वीकार करना है, क्योंकि वे कर्म के सहचर होते हैं, और उनके निवारण से देहपुरुष की तरह के युक्तियुक्त कर्म नहीं हो पाते। हमने तो केवल द्वैताद्वैत दृष्टिकोण के साथ जीवन जीते हुए, उनके प्रति अनासक्त रहना है। पुरुष का जीवन एक परीक्षा की तरह ही है, जिसमें एक साथ ही चित्तवृत्तियों का ग्रहण और त्याग, दोनों काम करने पड़ते हैं। ऐसा केवल देहपुरुष की तरह द्वैताद्वैत से ही संभव है। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण से

चलने/बहने वाले नदी-जल को रोकने के लिए बाँध की तथा जल को गुरुत्व के विरुद्ध ऊपर उठाने के लिए बिजली-मोटर आदि की जरूरत होती है, उसी प्रकार अज्ञान से चलने वाली आसक्ति को रोकने के लिए भी अनासक्ति का बाँध बनाना पड़ता है, तथा पुराने समय की नीचे गिरी हुई आसक्तियुक्त चित्तवृत्तियों को अनासक्ति के पंप से ऊपर उठाना पड़ता है। जैसे गुरुत्व नष्ट होने पर उपरोक्त बाँध व बल की आवश्यकता नहीं रहती, उसी तरह अज्ञान के नष्ट होने पर अनासक्ति की भी, अर्थात अनासक्ति खुद कायम रहती है। चित्त को कुछ दौड़ाने के बाद शविद के स्मरण से तत्काल अनासक्ति-लाभ महसूस होता है।

शरीरविज्ञान-दार्शनिक प्रतिक्षण ही अनंत उपचारों से, अनायास ही, अर्थात अनजाने में ही, अर्थात बिना किसी औपचारिकताओं के ही देहपुरुषों की पूजा करते रहते हैं, क्योंकि देहपुरुष कहीं दूर नहीं, अपितु उनके अपने शरीर में ही विद्यमान होते हैं। वे उन्हें नद, नदी, तालाब, समुद्र आदि अनेक जल-स्रोतों के जल से स्नान करवाते हैं, तथा उन्हें पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, अभिषेक व शुद्धोदक आदि के रूप में जल अर्पित करवाते हैं। विविध व सुगन्धित हवाओं के रूप में नाना किस्म के धूप लगाते हैं। औषधियों से उनकी चिकित्सा करते हैं। अनेक प्रकार के वाहनों में बैठाकर उन्हें एक प्रकार से पालकियों में घुमाते भी हैं। उनके द्वारा बोली गई शुभ वाणी से उनके उपदेश ग्रहण करते हैं। सुनाई देती हुई, अनेक प्रकार की शुभ वाणियों को उनके प्रति अर्पित स्तोत्र, घंटानाद व शंखनाद समझकर, उनसे उनकी स्तुति करते हैं। अनेक प्रकार के व्यंजनों से उन्हें भोग लगाते हैं। नेत्ररूपी दीप-ज्योति से उनकी आरती उतरवाते हैं। अनेक प्रकार के मानवीय मनोरंजनों, संकल्प-कर्मरूपी व्यायामों से व योग-भोगादि अन्यानेक विधियों से उनका मनोरंजन करते हैं। इस प्रकार से शरीरविज्ञान दार्शनिकों के द्वारा किए गए सभी मानवीय काम व व्यवहार ईश्वरपूजारूप ही हैं। पुरुष की सारी अनुभूतियाँ, उसके काम-काज को काबू में रखने वाली, उसकी चित्तवृत्तियाँ ही हैं, जिन्हें देहपुरुष ही अपने अन्दर पैदा करते हैं, देहदेश को नियंत्रित करने के लिए। ऐसा समझने वाला पुरुष देहपुरुषों को ही कर्ता-भोक्ता समझता है, और कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है। वास्तव में हम अनादिकाल से ही पूजा व सेवा करते आ रहे हैं, इस देहमंडल की। परन्तु हमें इसका पर्याप्त लाभ नहीं मिलता, क्योंकि हमें इस बात का ज्ञान नहीं है, और यदि ज्ञान है तो दृढ़ता से विश्वास करते हुए, इस बात को मन में धारण नहीं करते। शविद के अध्ययन से यह विश्वास दृढ़ हो जाता है, जिससे धारणा भी निरंतर पुष्ट होती रहती है। इससे हमें पुराने समय के किए हुए, अपने प्रयासों का फल एकदम से व इकट्ठा, कुण्डलिनीजागरण के रूप में मिल जाता है। इस तरह से हम देख

सकते हैं कि शरीरविज्ञानदार्शनिक पूरी तरह से वैदिक-पौराणिक पुरुषों की तरह ही होते हैं। बाहर से वे कुछ अधिक व्यवहारवादी व तर्कवादी लग सकते हैं, परन्तु अन्दर से वे उनसे भी अधिक शाँत, समरूप व मुक्त होते हैं। वे उस तूफान से भड़के हुए महासागर की तरह होते हैं, जो बाहर से उसी की तरह, तन-मन से भरपूर चंचल-चलायमान होते हैं, परन्तु अन्दर से उसी की तरह शाँत व स्थिर भी होते हैं।

यदि किसी घोर परिस्थिति के कारण शविद-ज्ञानी अपनी पूरी कोशिश करने पर भी आत्मविभ्रम को महसूस करता है, तो उस रजोगुण वाली हालत के बाद शविद के द्वारा सिखाए गए, अपने द्वैताद्वैत युक्त शाँत व्यवहार से वह अपनी आत्मशान्ति को पुनः हासिल कर लेता है। वास्तव में, शविद के अनुसार युक्तियुक्त कर्म करने से ही मुक्ति मिलती है, क्योंकि कर्म से ही चित्तवृत्तियों की चकाचौंध उमड़ती है, जिनके प्रति शविद द्वारा दर्शाई गई अनासक्ति को लागू करने का मौक़ा मिलता है। यह अनासक्ति और कुछ नहीं, बल्कि वेदों का साक्षीपन या बौद्धों का विटनैसिंग ही है। इसी साक्षीपन की भावना को ही वर्तमान में स्थित रहना भी कहा जाता है। इसका अर्थ है कि देहपुरुष की तरह ही, वर्तमान की अपनी सम्पूर्ण अवस्था पर, निष्पक्ष व अनासक्त रूप से ध्यान दिया जाता है। वर्तमान आत्मस्थिति को छोड़कर दूसरी स्थिति को नहीं पकड़ना है। इससे तो समस्या वैसे ही कायम रहेगी, जैसे एक कंटीले वृक्ष से किसी दूसरे कंटीले वृक्ष के ऊपर कूदने से किसी व्यक्ति की समस्या कायम रहती है। केवलमात्र देहपुरुष की तरह, वर्तमान आत्मस्थिति के प्रति अनासक्त होकर शाँत हो जाना है। शविद के अनुसार भी, चित्त के प्रति अनासक्ति तभी की जा सकती है, यदि चित्त की ओर ध्यान दिया जाए। यदि चित्तवृक्ष की वर्तमान अवस्था की किसी विशेष शाखा पर ध्यान दिया जाए, तो उस शाखा के प्रति आसक्ति का उदय हो जाएगा, परन्तु यदि संपूर्ण चित्तवृक्ष पर एक साथ ध्यान दिया जाए तो यह साक्षीपन कहलाएगा, जिसके साथ अनासक्ति स्वयमेव निवास करती है। यह तो प्रतिदिन के भौतिक/स्थूल क्रियाकलापों में भी स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है कि किसी विशेष भाव/वस्तु के साथ चिपके रहने से आसक्ति का उदय होता है, जबकि सभी भावों/वस्तुओं को समान महत्त्व देने से अनासक्ति का उदय होता है। देहपुरुषों की जीवनचर्या के संबन्ध में ज्यादा बात करने का क्या फायदा, क्योंकि यह तो हमें सब कुछ पहले से ही पता है, क्योंकि जो-जो कुछ हम पुरुष करते हैं, वो-वो सभी कुछ वे देहपुरुष भी करते हैं। द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः, समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरेकः पिप्पलं सुस्वादति, अनश्नन्यो अभिचाकशीति। द्वा सुपर्णा, अर्थात दो पक्षी, अर्थात पुरुष और देहपुरुष; सयुजा

सखायाः, अर्थात जुड़वा भाइयों की तरह के गहरे मित्र। समानं वृक्षं परिषस्वजाते- एक ही वृक्ष, अर्थात एक ही स्थूलदेह पर निवास करते हैं। तयोरेकः पिप्पलं सुस्वादति- उनमें से एक, अर्थात पुरुष पीपल वृक्ष के फल को खाता है, अर्थात आसक्त हो जाता है। अनश्नन्यो अभिचाकशीति- दूसरा, अर्थात देहपुरुष न खाता हुआ, बस देखता रहता है,अर्थात अनासक्त रहता है। उपनिषद के इस एक श्लोक में पूरा शविद समाया हुआ है।

निम्न स्तर के साधकों व साधना के शुरुआती इच्छुकों के लिए तो शविद से बढ़िया दूसरा विकल्प नजर ही नहीं आता। उच्च स्तर के साधकों के लिए भी शविद लाभदायक है, यद्यपि उनके लिए यह एक विकल्प नहीं, अपितु अनुपूरक ही है। द्वैताद्वैत से आत्मा व जगत, दोनों की एक साथ व समान रूप से सिद्धि होती है। द्वैताद्वैत धीरे-धीरे विकसित होता हुआ, खुद ही पूर्ण अद्वैत में परिवर्तित हो जाता है, जिससे आत्म-जागृति होती है। यद्यपि पूर्ण अद्वैत वाले वक्त में भी चित्तवृत्तियाँ कायम रहनी चाहिए, क्योंकि उन्हीं से तो पूर्ण अद्वैत का अभ्यास होता रहता है, और वह बढ़ता भी रहता है, अन्यथा बिना अभ्यास के रहा-सहा अद्वैत भी घिसता रहता है, आगे तो कैसे बढ़ सकता है। क्योंकि जैसे द्वैत की खुराक चित्तवृत्तियाँ हैं, उसी तरह से अद्वैत की खुराक भी चित्तवृत्तियाँ ही हैं।

अगर देहपुरुष भी पुरुष की तरह ही आसक्ति से अचिदाकाश स्वरूप बन जाया करता, तो फिर उसी की तरह ही सच्चिदानंद की प्राप्ति के लिए जरूर ही देहजगत को आसक्ति के साथ महसूस करता, जिससे कि इतना सटीक देहजगत ही अस्तित्व में न आया होता, उसे बचा कर रखने की बात तो दूर रही। उदाहरण के लिए, अगर मौत के डर से देहसैनिक भाग जाया करते, तो देहदेश को कौन बचाता? इससे पुनः सिद्ध होता है कि देहपुरुष अनासक्त होते हैं। शविद का साधना सिद्धांत यह भी है कि पुरुष शविद को बीच-बीच में व कभी-कभार या जरूरत पड़ने पर, उड़ते ख्यालों के बीच में पल भर के लिए उड़ा दिया करे, बिना दुसरे संकल्पों को छेड़े हुए। इससे शविद की अनासक्ति का नजरिया उन ख्यालों के साथ पक्की तरह से जुड़ जाता है, और साथ में दुनियादारी के काम पर भी बुरा असर नहीं पड़ता।

किसी रोग आदि के कारण अपनी मृत्यु को निकट आया देखकर भी पुरुष कर्मत्याग नहीं कर पाता है, क्योंकि उसे मुक्ति की सबसे ज्यादा जरूरत होती है। इससे सिद्ध होता है कि शीघ्रता से मुक्ति केवल कर्म से ही हो सकती है। पुरुष की ही तरह, सुरक्षा व भोजन के लिए प्रवृत्ति तो साधारण से साधारण वस्तुओं व स्वतन्त्र जीवों में भी दिखाई देती है, फिर पुरुष में ही पहाड़ जैसा

अहंकार क्यों पैदा हो जाता है? ठीक ऐसी ही प्रवृत्ति बड़े से बड़े ग्रह-नक्षत्रों, तारा-मंडलों और यहाँ तक कि ब्रम्हांड में भी स्पष्ट नजर आती है, जो तनिक भी अहंकार नहीं करते, तो फिर पुरुष नामक, सृष्टि का इतना अधिक छोटा सा एक टुकड़ा, इतना बड़ा अहंकार क्यों पाल लेता है? दरअसल पुरुषदेह के सिवाय, उस जैसी अन्य सभी देहें अनासक्ति के कारण ही अहंकार से बची रहती हैं। पुरुष के अन्दर अहंकार का प्रवेश आसक्ति-मार्ग से ही तो होता है। वैसे अगर अनुकरण करना ही हो, तो देहपुरुषों का ही करना चाहिए, क्योंकि अनासक्तियुक्त पदार्थों में पुरुष के सबसे ज्यादा नजदीक या यूं कहो कि पूर्ण रूप से अनासक्त-पुरुषरूप ही यदि कोई है, तो वह देहपुरुष ही है।

यदि पृथ्वी को पुरुष के जितने आकार तक छोटा कर दिया जाए, तो उस पर स्थित पुरुष, देहपुरुषों के जितने छोटे हो जाएंगे। शविद के अनुसार, जो सामाजिक पुरुष सीधे ही चिदाकाश/निराकार ईश्वर का ध्यान करते हैं, वे अधिकाँशतः सफल नहीं हो पाते, क्योंकि उनमें चित्तवृत्तियों की मंदता के कारण, उनसे देहपुरुषों की तरह के, मानवता से भरे हुए अनासक्तियुक्त कर्म आसानी से नहीं हो पाते। जिस तरह से द्वैतमय दृष्टिकोण बंधनकारी है, उसी तरह से केवलमात्र शरीर-विज्ञान भी बंधनकारी है, परन्तु शरीरविज्ञान-दर्शन मुक्तिकारी है। वैदिक संस्कृति, विशेषतः वैदिक कर्मकांड से मिश्रित विज्ञान भी शविद की तरह ही मुक्तिदायक है। यह पल भर में ही आत्मलाभ देना शुरु कर देता है। शविद केवल बनावटी या समकालीन दर्शन नहीं है, अपितु यह अनादिकाल से चली आ रही जीव-परम्परा के ऊपर आधारित होने के कारण अनादि-अनंत है। इस दर्शन में वे ही तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं, जो शरीर में स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं। अतः यह दर्शन प्राकृतिक होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी है। वैज्ञानिक इसलिए भी है, क्योंकि इसकी सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा भी लिया गया है। शविद को नया दर्शन भी कह सकते हैं, और पुराना भी। नया इसलिए, क्योंकि इसको बनाते समय पूर्वनिर्मित किसी भी दर्शन की सहायता नहीं ली गई है, और पुराना इसलिए, क्योंकि यह दर्शन पूर्वनिर्मित दर्शनों से भी मेल खाता है। जब-जब भी प्रेमयोगी वज्र इस दर्शन से जुड़ी हुई कागज़ आदि सामग्रियों को अपने भ्रमण के थैले में डाले रखता था, तब-तब उसे एक दिव्य तांत्रिक व आध्यात्मिक शक्ति अपनी रक्षा करते हुए महसूस होती थी। इसका सीधा सा तात्पर्य है कि शविद को एक सुन्दर पुस्तक के या अन्य सम्बंधित चिन्हों के रूप-आकार में ढालकर व सहेज कर रखना, आधुनिक तंत्र के अनुसार बहुत लाभदायक है। लगता है कि यह विधि पुरातन तंत्रों के मंडलों व चिन्हों की तरह ही काम करती है। इसी तरह, यह शविद अपनी सभी ई-रीडिंग डीवाईसिस (e-reading devices) पर भी

सदैव डाऊनलोड करके रखा जा सकता है, ताकि इसकी दिव्य तांत्रिक शक्ति प्रतिक्षण उपलब्ध होती रहे। बौद्धदर्शन के अनुसार, तंत्र-मंडल स्थूल संसार के सूक्ष्म व प्रतीकात्मक रूप होते हैं। शरीरमंडल से बड़ा तंत्र-मंडल क्या हो सकता है, क्योंकि इसमें संपूर्ण सृष्टि अपने पूर्णरूप में विद्यमान रहती है। शरीरमंडल ईश्वरनिर्मित होता है, तथा जीवंत, गतिमय व मजबूत हाड़-माँस का बना होता है, इसलिए मानव-निर्मित मंडलों की तरह जड़मय व क्षणभंगुर नहीं होता। शरीरमंडल सदैव स्वयं ही साथ-साथ चला रहता है। इस शरीरमंडल के अन्य भी बहुत से लाभ हैं। पुरुष को जब यह ज्ञात हो जाता है कि वह अनादि काल से देहमंडल की अराधना करता आ रहा है, तो वह क्षणभर में ही देहपुरुष की तरह मुक्त हो जाता है। क्योंकि हम अनादिकाल से ही इस अद्वैतशाली शरीरमंडल की अराधना करते आए हैं, इसलिए इसका भली भांति ज्ञान हो जाने से, अनादिकाल से की जा रही अद्वैतसाधना का फल तुरंत व अनायास ही प्राप्त हो जाता है, जिससे कुण्डलिनीजागरण या आत्मज्ञान अचानक या अविलम्ब रूप से भी हो सकता है। साथ में, देहावसान के समय जब कहीं पर भी, कोई भी सान्त्वनाप्रद आश्रय दृष्टिगोचर नहीं होता, उस समय यह अपना शरीर ही अद्वैतमंडल के रूप में सर्वश्रेष्ठ आश्रय सिद्ध होता है, यदि शविद से इसे पहले से ही पुष्ट किया गया हो। क्योंकि मनुष्य अपने शरीर से ही सर्वाधिक प्रेम (आसक्तिपूर्वक) करता है, अतः शविद के माध्यम से उसके द्वारा अपने शरीर में ही अद्वैत का दर्शन सर्वाधिक लाभकारी/मुक्तिकारी है।

इस शरीरमंडल की पूजा हम अनजाने में ही अनादिकाल से करते आ रहे हैं, और तब तक करते रहेंगे, जब तक मुक्त नहीं हो जाते, क्योंकि सभी जीवयोनियों के शरीर एकसमान रूप से, ब्रम्हांड के प्रतिरूप ही होते हैं। अतः इस मानवजीवन में शरीरमंडल की अराधना से, जो अद्वैतदृष्टिकोण हमारे अन्दर विकसित होगा, वह आगे होने वाले अपने जन्मों में भी हमें सूक्ष्मरूप में स्मरण होता रहेगा, क्योंकि उन जन्मों में भी तो हम इसी मानवशरीरमंडल के जैसे जीव-शरीरमंडलों में ही निवास कर रहे होंगे। तांत्रिकयौनयोग के लिए शरीरविज्ञानदर्शन का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। जब योगी व योगिनी, दोनों ही अपने-अपने व एक-दूसरे के शरीरों को अद्वैतशाली शरीरमंडलों के रूप में देखते हैं, तब दोनों ही अद्वैतमयी आनंद से भर जाते हैं। इसी तरह से, जब वे दोनों, आपसी मिलन के समय, अद्वैतभाव से संपन्न हो जाते हैं, उस समय अद्वैतशील शरीरमंडलों की अराधना स्वयं ही हो जाती है। पुस्तकोक्त इस सिद्धांत के अनुसार कि यौनसंसर्ग के समय धारण किया गया मानसिक भाव या दृष्टिकोण कई गुना वृद्धि को प्राप्त करता है, वह अद्वैतभाव/अद्वैत-दृष्टिकोण

तीव्रता से पुष्ट होता हुआ, व्यक्ति को मुक्त कर देता है। उस अद्वैतमयी भाव के साथ, शरीरमंडलों में कुण्डलिनी का ध्यान स्वतः व अनायास ही होता रहता है। वह कुण्डलिनी यौनान्गोत्तेजना व योगबंधों की सहायता से, यौनचक्रों व मस्तिष्कचक्र के बीच में निरंतर दोलायमान होती रहती है, जिससे पुष्ट होकर वह शीघ्र ही जागृत हो जाती है। साधारण यौनसम्बन्ध से, बहुमुखी व भ्रमित मन की प्रतिदिन की गतिविधियों से चेतना-दुग्ध प्राप्त होता है; परन्तु तांत्रिकयौनसम्बन्ध से उपलब्ध मानसिक एकाग्रता से, विकासमान कुण्डलिनी से चेतना-दुग्ध प्राप्त होता है।

कुण्डलिनी वास्तव में देहपुरुष को दिया गया, एक दिव्य व अलौकिक पुरुष का रूपाकार ही है। वास्तव में कुण्डलिनी कोई सर्पिणी आदि नहीं है, अपितु यह देवी-देवता, गुरु या प्रेमी-प्रेमिका (consort) के रूप में एक सुन्दर, अलौकिक व शुद्ध/प्रगाढ़ मानसिक चित्र ही है। इस मानसिक चित्र को ही अप्रत्यक्ष रूप में कुण्डलिनी कहते हैं; क्योंकि गुरु, देवता आदि के श्रेष्ठ व प्रतिष्ठित रूपों का, मूलाधार जैसे तथाकथित निम्न स्थान पर प्रत्यक्ष रूप में ध्यान करने को कहना; किसी भी प्रकार से सामाजिक/शिष्ट व व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। इस कुण्डलिनी का ध्यान शरीर के विभिन्न बिन्दुओं व चक्रों पर किया जाता है। इसका सीधा सा अर्थ है कि कुण्डलिनी और कुछ नहीं, अपितु देहपुरुष को दिया गया एक रूपाकार व एक जीवन-चरित्र ही है, क्योंकि चेतन देहपुरुष शरीर में हर स्थान पर विद्यमान होते हैं। कुण्डलिनी-चित्र (देहपुरुष को दिया गया मानव-रूप) प्रत्येक चक्र पर प्रत्येक मानवीय काम करता है, खाता है, पीता है, आराम करता है; क्योंकि वास्तविकता में भी तो प्रत्येक चक्र पर, कुछ देहपुरुष कुछ काम कर रहे होते हैं, तो कुछ दूसरे देहपुरुष कुछ अन्य काम। सभी देहपुरुष रूपाकार में समान होते हुए, कुण्डलिनी का रूप धारण किए हुए होते हैं। कुण्डलिनी का ध्यान चक्रों पर विशेषतः इसलिए किया जाता है, क्योंकि वे चक्र देहदेश की क्रियाओं के मुख्य स्थान होते हैं, जहाँ पर देहपुरुष अनासक्ति के साथ सर्वाधिक क्रियाशील होते हैं, अतः वहाँ पर सबसे अधिक प्रभावीरूप से प्रकट रहते हैं। इसलिए कुण्डलिनी के रूप में, वहाँ पर उनका ध्यान करना सर्वाधिक सरल है। इसी तरह से, शरीर के स्पष्ट अनुभूति वाले स्थानों (योग के समय ऐंठन, खिंचाव आदि के साथ जोड़ों व अन्य स्थानों) पर भी उनका ध्यान इसी कारण से सुगम है। इसका अर्थ यह है कि कुण्डलिनी-योगी, देहपुरुष-उपासक होते हैं। तांत्रिक प्रेमिका (consort) /प्रेम-संबंधी के सान्निध्य से यौनांगों के आसपास उत्तेजना व क्रियाशीलता बढ़ जाती है, जिससे वहाँ पर कुण्डलिनीरूपी देहपुरुष का ध्यान करना सरल हो जाता है। तांत्रिक गुरु के सान्निध्य से यह क्रियाशीलता लम्बे समय तक बनी रहती है, क्योंकि फिर प्रजनन शक्ति का

सदुपयोग, शारीरिक संसर्ग-सुख पाने की अपेक्षा कुण्डलिनी की परिपक्वता व उसके ऊर्ध्वगमन के लिए किया जाता है। इन उत्पादक अंगों के देहपुरुष नया देहदेश बनाने के पूरे मन/मूड (mood) में होते हैं, इसलिए वहाँ पर उनकी अद्वैतमयी क्रियाशीलता पूरे चरम पर होती है। इसीलिए कुण्डलिनी उन यौन-क्षेत्रों में सर्वाधिक स्पष्ट व शुद्ध होती है। जैसे ही यौगिक क्रियाओं के अभ्यास से, उन प्रजनक केन्द्रों पर शक्ति का वेग कम हो जाता है, वैसे ही वे शिथिल पड़ जाते हैं, क्योंकि यौगिक बंधों के सहचर बने हुए प्राण/मन के साथ वह स्पष्ट कुण्डलिनी मस्तिष्क को चली जाती है। एक प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि वहाँ पर विद्यमान शक्ति रक्त-प्रवाह के साथ (रक्त में भी अत्यधिक क्रियाशील देहपुरुष विद्यमान होते हैं) एकदम से मस्तिष्क को चली जाती है, क्योंकि वह स्पष्ट मानसिक चित्र वास्तव में मस्तिष्क में ही बन रहा होता है। इससे वह कुण्डलिनी मस्तिष्क में जीवंत हो जाती है, और साधक को कुछ-कुछ समाधि के जैसी (अल्प समाधि/अपूर्ण कुण्डलिनी जागरण/ कुण्डलिनी-क्रियाशीलता) स्थिति का अनुभव होता है, जो एक अल्प-आनंदमयी अवस्था (पूर्ण जागरण की महान आनंदमयी अवस्था की अपेक्षा से) होती है। योग-बंधों से रक्त-प्रवाह को यौनांगों से मस्तिष्क की ओर मोड़ने में सहायता मिलती है। प्राणायाम से देहपुरुषों को भरपूर प्राणवायु/ऑक्सीजन मिलती है, और वे पुष्ट हो जाते हैं। इससे उनका ध्यान सरलता से हो जाता है। वास्तव में, सभी देहपुरुषों को एक ही चित्र देना चाहिए, भले ही वे देहदेश में अलग-अलग काम क्यों न कर रहे हों, क्योंकि सभी देहपुरुष आत्मरूप से एकसमान ही तो हैं। इसी तरह से, सभी वस्तु-भावों व मनोभावों (मनोभाव भी वस्तुओं के प्रतिबिम्ब व अंश होने के कारण, बाहरी वस्तुओं से अलग नहीं हैं) को भी वही एक रूप प्रदान करना चाहिए, क्योंकि बाहरी रूप से सभी वस्तुएँ भी विभिन्न देहों व देहपुरुषों के रूप में ही विद्यमान हैं (जैसा कि हमने शविद में सिद्ध किया भी है), यद्यपि वास्तविक रूपाकार तो उनका एक ही/अद्वैतरूप ही है। योग-ऋषि पतंजलि भी तो यही कहते हैं कि एकाग्र-ध्यान से ही समाधि संभव है। वास्तव में कुण्डलिनीयोग पतंजलि-योग का ही तकनीकी प्रवर्धन है। पतंजलिकृत अष्टांगयोग भी वास्तव में विशेष कुछ नहीं; अपितु सैद्धान्तीकृत, सरलीकृत, समाजीकृत व नियमबद्ध उत्कट-यौनप्रेम ही है। जैसे वाहनचालक यदि वाहनचालन की तकनीक शुरु में ही अच्छी तरह से सीख जाए, तो वह कुशल चालक बन जाता है; उसी तरह से यदि कुण्डलिनीयोगी भी शुरु में ही इस योग की उत्तम तकनीक सीख जाए, तो वह शीघ्र ही कुशल योगी बन जाता है। वास्तव में, कुण्डलिनीयोग को साँसारिक लोगों की सुविधा को ध्यान में रख कर ही विकसित किया गया है, क्योंकि उनमें बाह्य-इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं, अतः वे

कुण्डलिनी का ध्यान सीधे ही मस्तिष्क में नहीं कर सकते, इसलिए उन्हें अप्रत्यक्षरूप में चक्रों पर ध्यान लगाना सिखाया जाता है। यह ऐसे ही है, जैसे कि बच्चे को कड़वी दवाई शहद के साथ मिला कर दी जाती है। सभी मानवीय देहपुरुष पूज्य हैं, बेशक वे छोटा सा ही काम क्यों न कर रहे हों, क्योंकि वे, सभी मानवीय कर्मों को द्वैताद्वैत के साथ करने में पूर्णतया सक्षम होते हैं। देहदेश के प्रत्येक चक्र पर, देहपुरुष प्रत्येक प्रकार का कर्म करते रहते हैं। उनका कोई समूह कुछ करता है, तो कोई समूह कुछ। कुछ तो आराम करते हुए स्थित होते हैं। अतः किसी भी चक्र पर, परिस्थिति के अनुसार, किसी भी प्रकार का कर्म करती हुई या आराम करती हुई कुण्डलिनी का ध्यान किया जा सकता है। अगर कुण्डलिनी को विधिपूर्वक घुमा सको, तो बहुत अच्छी बात है, परन्तु यदि आरम्भ में कठिनाई हो, तो चिंता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि किसी भी चक्र पर कुण्डलिनी का ध्यान सीधे रूप में भी किया जा सकता है, क्योंकि कुण्डलिनी वास्तव में देहपुरुष को दी गई मानवीय रूप-सत्ता अर्थात मनुष्याकृति ही है, और शविद के अनुसार देहपुरुष तो हर स्थान पर पहले से ही विद्यमान हैं। वैसे, उसी कुण्डलिनी को निचले-निचले चक्रों पर उतारने व बारम्बार घुमाने का यह लाभ होता है कि प्राणवायु से, पहले से ही चमकती हुई कुण्डलिनी हमें निरंतर उपलब्ध होती रहती है। कभी कोई चक्र अधिक क्रियाशील होता है, तो कभी कोई। इसलिए एक ही चक्र में नहीं उलझे रहना चाहिए, क्योंकि सभी चक्र आपस में एक-दूसरे की कमी को पूरा करते रहते हैं। मुख्य मापदंड तो ध्यान की मात्रा ही है। गीता में भी यही कहा गया है कि आत्मज्ञान सत्त्वगुण की प्रचुरता से उद्भूत होता है। गीता में कहीं पर भी कुण्डलिनी शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः स्वयंसिद्ध है कि पतंजलि-वर्णित मानसिक समाधि-चित्र ही वास्तव में कुण्डलिनी है, क्योंकि वही परम सत्त्वगुण-स्वरूप है, और वही आत्मज्ञान कराती है। कुण्डलिनी कुछ विशेष नहीं, अपितु दीर्घकालिक सकेंद्रित मन (longlasting focussed mind) ही तो है। यदि जागरण के बिना ही, मन किसी एक विशेष रूप आदि (कुण्डलिनी) पर दीर्घकालपर्यंत सकेंद्रित हो, तब तो कुण्डलिनी के जागरण की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र को प्रथम देवीरानी की कुण्डलिनी के साथ अनुभव हुआ। बौद्धों में भी एक निर्धारित वस्तु का ध्यान सदैव करने का प्रचलन है। उस वस्तु को, कुण्डलिनी की तरह ही कोई विशेष नाम दिया गया है। वास्तव में वह कुण्डलिनी ही है, केवल नाम का ही अंतर है। वस्तु व सिद्धांत, दोनों विधाओं में ही समान हैं। वह वस्तु भिन्न-भिन्न लोगों की रुचि व व्यवसाय आदि के अनुसार, भिन्न-भिन्न होती है। उस वस्तु का, निरंतर अभ्यास से दर्शन/साक्षात्कार (visualization) किया जाता

है। हठयोग में कुण्डलिनी विषय का, भौतिक रूप से वर्णन किया गया है, जैसे कि नाड़ियों की संख्या व स्थिति, चक्रों की संख्या व स्थिति आदि-आदि। यह इसलिए किया गया है, ताकि भौतिकवादी लोग भी कुण्डलिनीयोग की और आकृष्ट हो सके। ऐसे लोगों को नाप-तोल की भाषा अधिक अच्छी तरह से समझ में आती है, क्योंकि वे भौतिक दृष्टि से देखने के आदी होते हैं। वास्तव में तो कुण्डलिनीयोग पूर्णतः मनोवैज्ञानिक ही है। कुण्डलिनीयोगी को हमेशा प्रसन्नचित्त रहना चाहिए, क्योंकि जैसे स्थूलदेश में प्रसन्नचित्त पुरुष ही सर्वोपयुक्त विधि से जीवनयापन करते हैं, उसी प्रकार से देहसमाज, जो कि सर्वोपयुक्त समाज होता है, उसके देहपुरुष भी प्रसन्नचित्त व हँसमुख ही सिद्ध होते हैं।

कुण्डलिनीयोग के पीछे अनैच्छिक संवेदनारोपण का सिद्धांत भी काम करता है। कुण्डलिनीयोग के समय शरीर व मन की संवेदनाओं के ऊपर कुण्डलिनीचित्र का आरोपण हो जाता है, चक्रों पर कुण्डलिनी का ध्यान करने से। दिवसकाल के लोकव्यवहार के समय, जब मानसिक व शारीरिक संवेदनाएं जागृत हो जाती हैं, तब उनके साथ जुड़ी हुई कुण्डलिनी भी स्वतः व अनायास ही जागृत हो जाती है।

कई लोग डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत को व भौतिक शरीरविज्ञान को कुण्डलिनीयोग के साथ जोड़ने लग जाते हैं। संभवतः वे ऐसा इसलिए करते हैं, ताकि आधुनिक समय के विज्ञानवादी लोग भी कुण्डलिनीयोग के प्रति प्रेरित हो जाएं। वास्तव में ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कुण्डलिनीयोग एक निरा मनोवैज्ञानिक/आध्यात्मिक पथ है, जिसमें भौतिकता के ऊपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

प्रेमयोगी वज्र ने कुण्डलिनीयोग से सम्बंधित बहुत सी प्राचीन व आधुनिक पुस्तकों का अध्ययन किया, परन्तु कुण्डलिनी का वास्तविक स्वरूप कहीं पर भी दर्शाया गया, उसे नहीं मिला। प्राचीन ग्रंथों में संभवतः इसे दुरुपयोग की आशंका के कारण गूढ़ रखा गया हो, परन्तु आधुनिकता व खुलेपन के आज के दौर में तो गूढ़ता का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। कहीं पर इसे सर्पिणी, तो कहीं पर ज्वाला-शिखा आदि की तरह वर्णित किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि कुछ छिपाया जा रहा है। वास्तव में यह तो उसके स्वभाव व प्रकाशत्व आदि गुणों का ही वर्णन है। उसका वास्तविक रूप तो निरंतर के योगभ्यास के माध्यम से सुदृढ़ किया जाता हुआ, पतंजलि-वर्णित एक शुद्ध मानसिक चित्र/आलंबन ही है।

कुण्डलिनीयोग के साथ शविद का आश्रय इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि कुण्डलिनीयोग की उच्च अवस्था में साधक अधिकाँशतः मानसिक भ्रम व मनोदशा-दोलन से दुष्प्रभावित हो जाता है। शविद के अभ्यास से वह द्वैताद्वैत में प्रतिष्ठित रहता है, और इस तरह संविभ्रम से सुरक्षित रहता है। प्रेमयोगी वज्र की कुण्डलिनी जिस समय उछालें मार रही थी, उस समय उसे उन आध्यात्मिक वृद्ध पुरुष के माध्यम से पुराणों की संगति मिलती रही। वे पुराण उसके विज्ञान के अध्ययन के साथ मिलकर एक प्रकार से शविद ही बन गए थे, जिससे वह संविभ्रम व मनोदोलन से बचा रहा।

जिस मानसिक चित्र के कुण्डलिनी के रूप में उभरने की संभावना अधिक हो, वह चित्र बारम्बार मन में आता रहता है, बेशक उस चित्र से कोई विशेष लगाव या जुड़ाव न भी हो। वह चित्र विशेषतः किसी उस चिर-परिचित व प्रेमी पुरुष का होता है, जिसके सभी कर्म-भाव, मन में स्पष्ट व अच्छी तरह से बैठे होते हैं। वह चित्र गुरु का, मित्र का, बड़े-बुजुर्ग का, अंतरलैंगिक-प्रेमी (lover of different sex/consort) या यौन-प्रेमी आदि का, किसी का भी हो सकता है। उसी चित्र का ध्यान करना चाहिए। नियमित व निरंतर अभ्यास से, वही चित्र फिर कुण्डलिनी बन जाता है। वह कुण्डलिनी फिर मस्तिष्क में सुदृढ़ होती हुई, चरमावस्था तक पहुँचने पर जागृत होकर, आत्मज्ञान की ओर आसानी से ले जाती है। किसी नए-नवेले चित्र, जैसे कि देवता आदि के चित्र का चुनाव भी किया जा सकता है, यद्यपि इसमें प्रारम्भ में, अपेक्षाकृत रूप से कुछ अधिक कठिनता अनुभव हो सकती है, क्योंकि उन देवता आदि के रंग-बिरंगे कर्म-भाव हमारे चित्त में उस तरह से नहीं बैठे होते हैं, जिस तरह से हमारे प्रतिदिन के मानव-साथी के। वैसे, देवता को देहपुरुष का रूप देकर, देहपुरुष के कर्म-भावों को देवता के ऊपर आरोपित कर सकते हैं, जिससे यह कार्य बहुत आसान हो जाता है। उस पुरुष के रूप का मानसिक चित्र उतना अधिक फलदायक होता है, जितना अधिक वह पुरुष अनासक्ति व द्वैताद्वैत से सम्पन्न होता है, तथा जितना अधिक मानसिक आकर्षण उत्पन्न करता है। इस गणना से, आध्यात्मिक गुरु व देवता{विशेषतः तांत्रिक प्रेमिका (consort) के साथ, (ताकि यौनाकर्षण का भी लाभ मिले) व देहपुरुष का रूप धारण किए हुए} सर्वाधिक फलप्रद हैं।

वास्तव में प्रेमयोगी वज्र को पतंजलिरचित अष्टांगयोग के प्राकृतिक समरूप (natural copy) का आश्रय स्वयं ही किसी दैवीय संयोग से मिल गया था। अष्टांग योग के प्रथम दो पाद, यम व नियम, उसके परिवार व सामाजिक परिवेश के आध्यात्मिक व अहिंसक पृष्ठभूमि से सम्बंधित होने के कारण उसमें स्वतः ही सिद्ध हो गए थे। जब वह अपने पारिवारिक सदस्यों, विशेषतः पितामह

के साथ जमीन, खेत व पशुओं से सम्बंधित शारीरिक व मानसिक कार्य करता था, तो उसका तीसरा व चौथा पाद, क्रमशः आसन व प्राणायाम स्वयं ही सिद्ध हो जाते थे। पांचवे पाद प्रत्याहार का समावेश उसमें अपने पितामह की संगति से उत्पन्न हुआ, जो कि एक बहुत ही आत्मसंतोषी व इन्द्रियविमुख पुरोहित थे। छटे-सातवें पाद, धारणा-ध्यान के संस्कार भी उसे उन्हीं से मिले थे, क्योंकि वे नियमित रूप से अध्यात्म-साधना करते रहते थे। वही बीज-संस्कार उस अग्रवर्णित मित्र बालक के प्रति प्रेम में परिणत हो गए। जब वह प्रेम देवीरानी के प्रति स्थानांतरित हुआ, तब उसमें यौन-आकर्षण भी जुड़ गया और वह प्रचंड होकर आठवें पाद अर्थात समाधि के उस रूप में प्रवृद्ध हो गया, स्वप्नकालिक क्षणिकात्मज्ञान जिसका परिणाम बन कर उभरा।

तंत्र के सम्बन्ध में, यहाँ एक बात गौर करने योग्य है। संभवतः पतंजलि के अहिंसा-धर्म को आम जनमानस के द्वारा समझने में त्रुटि हुई है। वास्तव में पञ्च-मकार (मद्य, माँस, मैथुनादि) के रूप में की जाने वाली, नैष्ठिक तांत्रिकों की छोटी-मोटी हिंसा, हिंसा की श्रेणी में नहीं आती। वे उससे उस अद्वैतज्ञान व आत्मज्ञान को सिद्ध कर रहे होते हैं, जो अहिंसा के सबसे बड़े मापदंड हैं। कोई यदि अहिंसा का चोला पहन कर द्वैतज्ञान में डूबा हुआ हो, तो वह अहिंसा का दिखावा ही माना जाएगा। प्रतिदिन का योगाभ्यास इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि हम शारीरिक कार्य या व्यायाम तो बहुत करते हैं, परन्तु मानसिक व्यायाम बहुत कम करते हैं। इससे संतुलन बिगड़ जाता है, मन बेचैन हो जाता है, और वह बंदरों की तरह इधर-उधर छलांगें मारने लगता है, जिससे हानि की संभावना बढ़ जाती है। वास्तव में, स्वस्थ व सुखी जीवन के लिए शरीर में तीनों गुण समान व संतुलित अवस्था में रहने चाहिए। अधिक सत्त्वगुण से नींद बिगड़ने लग जाती है, और दैनिक कार्य दुष्प्रभावित होने लगते हैं। अधिक रजोगुण से दुष्कर्म की संभावना बढ़ जाती है। अधिक तमोगुण से अज्ञान बढ़ता है। इसीलिए कुण्डलिनीयोग के साथ यौनयोग करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि उससे सतोगुण के साथ-साथ, पर्याप्त रजोगुण व तमोगुण भी बना रहता है। तंत्र में तमोगुण की कमी को पूरा करने के लिए ही पञ्च-मकारों का सेवन विहित है, यद्यपि उससे उत्पन्न तमोगुण को संभालना अपेक्षाकृत अधिक कठिन हो सकता है, इसलिए सिद्धांततः तो गुरु की देखरेख में ही करना चाहिए। बदलते हुए गुणों के प्रति अनासक्ति या अद्वैतभाव बना कर रखना आवश्यक होता है, तभी उससे आध्यात्मिक विकास भी होता है, अन्यथा द्वैत से तो आध्यात्मिक हानि की संभावना बनी ही रहती है। इसी तरह, पूर्णतंत्र का पञ्चमकारयोगान्तर्गत आमिषयोग भी यौनयोग की तरह ही काम करता है। साधारण परिस्थितियों में, आमिषोपभोग से प्राप्त शक्ति का उपयोग बहुमुखी

चित्तवृत्तियों के पोषण के लिए किया जाता है, जिससे अज्ञान बढ़ता है। परन्तु आमिषयोग में आमिषोपभोग से प्राप्त शक्ति का उपयोग एकमुखी वृत्ति अर्थात कुण्डलिनी के पोषण के लिए किया जाता है। यह शक्ति मुख्य रूप से, उसमें स्थित पूर्ण अद्वैतशाली देहपुरुषों के सान्निध्य से प्राप्त होती है (विशेषतः, यदि यह वास्तविकता-संपन्न भावना धारण कर के रखी जाए)। यद्यपि यौनयोग की तरह इससे रजोगुण की स्वतः प्राप्ति नहीं होती, इसलिए इस योग में अनवरत रूप से क्रियाशील रहने की आवश्यकता होती है। इससे भी यौनयोग की तरह के ही चमत्कारिक परिणाम प्राप्त होते हैं, यदि अद्वैतभाव को निरंतर बना कर रखा जाए। तंत्र के सभी नुस्खों की तरह ही, यह भी 'सब कुछ या कुछ नहीं' के सिद्धांत के अनुसार ही काम करता है, इसलिए बहुत सावधान व गुरु के सान्निध्य में रहने की आवश्यकता होती है। इसी तरह, अंडे के अन्दर वह पूर्वोक्त सर्वगुणसंपन्न देहदेशराजकुमारी विद्यमान होती है, जो अपने सहज अद्वैतभाव के साथ पूरी देह-सृष्टि के निर्माण के लिए पूर्णतः सज्ज होती है। वह ताओ (tao) की तरह ही, निरंतर परिवर्तनशील (changing) रहते हुए भी परिवर्तनरहित (unchanging) होती है। अनेक अध्यात्मविद लोगों का मानना है कि रजोगुण व तमोगुण से बचते हुए, निरंतर के सत्त्वगुण से ज्ञान होता है। परन्तु, वास्तव में तंत्रानुसार, एकसाथ तीनों गुणों को अद्वैतभाव से धारण किए बिना, वास्तविक, प्रगाढ़ व स्वयंसिद्ध सत्त्वगुण उत्पन्न ही नहीं हो पाता। इससे वे अपने मध्यम स्तर के सत्त्वगुण के ऊपर इतराते रहते हैं, और आगे का विकास ही नहीं कर पाते। पुस्तकोक्तानुसार, प्रेमयोगी वज्र यद्यपि स्वयं तो सत्त्वगुणशाली आहार-विहार में स्थित रहा, परन्तु उसे समसामयिक परिस्थिति के अनुसार बलशाली रजोगुण व तमोगुण की भी गहरी संगति करनी पड़ी थी, जिसके प्रभाव से उसका मन अछूता नहीं रह पाया था। यह अलग बात है कि पारिवारिक संस्कारों के प्रभाव से, वह उन गुणों के प्रति अद्वैतभाव से स्थित रहा। तभी तो वह उस घनघोर सत्त्वगुण के अन्दर प्रविष्ट हो पाया, जिससे उसे उस क्षणिकात्मज्ञान की उपलब्धि हुई।

उपरोक्त तंत्र-सिद्धांत भगवान शिव के तंत्र-रहस्य प्रतीत होते हैं, जो समय के साथ विलुप्त हो गए। ये सभी रहस्य अद्वैतवान देहपुरुषों से ही प्राप्त किए हुए प्रतीत होते हैं। वास्तव में हम उन्हें अद्वैतवान शिव का ही रूप समझ सकते हैं। बकरे के सिर को राजा दक्ष के धड़ के ऊपर प्रतिस्थापित करने का अर्थ यही प्रतीत होता है कि एक आदमी पशुदेहस्थित देहपुरुषों से भी शक्ति प्राप्त कर सकता है, और उससे अपनी कुण्डलिनी को जागृत कर के, उससे अपने मस्तिष्क को उन्नत कर सकता है। तांत्रिक बलि-प्रथा के पीछे भी यही रहस्य प्रतीत होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं

कि देहपुरुषों का सान्निध्य केवल बलि-भोज में ही प्राप्त होता है। पशुसेवा से उससे भी अधिक सान्निध्य मिलता है। प्रेमयोगी वज्र ने देहपुरुषों के ध्यान के साथ, खूब पशुसेवा की, और बीमार पशुओं की चिकित्सा की। बलि-भोज तो वह दुर्लभ स्थिति में ही लेता था, वह भी तब, जब पशुओं की उचित सेवा/चिकित्सा में और उनके/अपने शरीर में स्थित देहपुरुषों के ध्यान में कोई विशेष विघ्न उपस्थित होता था, जो अन्य साधारण विधियों से नहीं टलता था। इससे सब कुछ ठीक-ठाक हो जाता था, और प्रेमयोगी वज्र अपनी कुण्डलिनी के विकास को पुनः पूर्ववत अनुभव करने लग जाता था। इसी तरह, जब भगवान शिव दक्ष के यज्ञ में मृत पार्वती को कंधे पर उठा कर अंतरिक्ष में घूम रहे थे, तब देवी के विभिन्न अंग विभिन्न स्थानों पर गिर गए, और वे विशेष भू-स्थान शक्तिपीठों के रूप में संपन्न हो गए। यह हमने पुस्तक में अन्यत्र भी सिद्ध किया है कि वे शक्तिपीठ देहपुरुषों से किस प्रकार से जुड़े हुए हैं।

यह सत्य प्रतीत होता है कि आत्मज्ञान के लिए कामोन्माद की भी आवश्यकता होती है, विशेषतः समाधि का प्रारम्भ कराने के लिए। समाधि तो दूर की बात है, धारणा-ध्यान की छोटी-मोटी आग को भड़काने के लिए भी कामोन्माद की चिंगारी आवश्यक है। कामोन्माद की चिंगारी से या तो स्थूल संसर्ग के रूप में स्थूल अग्नि (भौतिक जगत) प्रज्वाल्यमान रहती है, या फिर सूक्ष्म व मानसिक संसर्ग के रूप में सूक्ष्म अग्नि (मानसिक जगत) प्रज्वलित रहती है। स्थूल अग्नि केवल भौतिक सुख देती है, जबकि सूक्ष्म अग्नि भौतिक सुख के साथ आत्मज्ञान भी उपलब्ध कराती है। स्थूल संसर्ग की राह में विघ्न भी बहुत होते हैं, जैसे कि सामाजिक अव्यवस्था व यौन रोगों के संक्रमण का संचार आदि। सूक्ष्म संसर्ग की राह में ऐसे कोई विघ्न नहीं होते, इसीलिए जगत में अंतरलैंगिक हंसी-ठिठोलियाँ काफी मशहूर हैं। अतः सूक्ष्म यौनसम्बन्ध एक आश्चर्यमयी कलाकारी है। इससे शारीरिक व मानसिक शक्ति का रक्षण भी होता है। यह प्राचीन तंत्र का एक सामाजिक व आधुनिक रूप है। यदि कोई पुरुष आत्मज्ञान को बिना किसी यौन-प्रेम के अनुभव से प्राप्त करता है, तो उसे इसका अनुभव अपने पूर्व के जीवन में या पूर्वजन्मों में अवश्य ही होया हुआ प्रतीत होता है, या बालपन में अतितीव्र स्त्री-ममता व स्त्री-स्नेह की पात्रता प्राप्त होने से उसे अप्रत्यक्ष रूप में यौनाकर्षण का अनुभव मिला हुआ होता है, क्योंकि तीव्र ममता में भी वह शक्ति है, जो यौनाकर्षण की कमी को काफी अधिक सीमा तक पूर्ण कर देती है। यह लगता है कि आत्मज्ञान, और कुछ नहीं, अपितु परम मानसिक यौनप्रेम ही है। एक यौन-प्रेमी से अधिक दृढ़ता से, भला कौन मन में स्थिर हो सकता है? अधिकाँश यौगिक रचनाओं में शब्द, सूर्य, प्रकाश, ज्योति, आकाश आदि नीरस

वस्तुओं पर जबरदस्ती ध्यान लगाने को कहा जाता है। अभ्यास से ध्यान तो लग जाता है, परन्तु वह शीघ्र फलदायक नहीं होता। यौन-प्रेमी से अधिक रुचिकर वस्तु क्या हो सकती है, ध्यान लगाने के लिए? यदि गुरु आदि किसी अन्य प्रेमी पुरुष पर भी ध्यान लगता है, तो उसमें भी यौन-प्रेमी का योगदान अवश्य होता है, क्योंकि यौन-प्रेमी का मानसिक चित्र उस प्रेमी पुरुष के मानसिक चित्र के साथ समारोपण (पुस्तकोक्त यौनसम्बन्धसिद्धांत) के कारण जुड़ जाता है। यही तो तांत्रिक गुरु व तांत्रिक प्रेमिका (consort) की एकसाथ संगत करने के पीछे का छिपा हुआ रहस्य है। एक जीवंत, प्रिय, स्वभावानुकूल व समराही अंतरलैंगिक मित्र से अधिक आकर्षक वस्तु क्या हो सकती है? ऐसे रुचिकर मित्र की संगति मात्र से ही साधना का आधे से अधिक मार्ग तय हो जाता है। यदि ऐसा मित्र, देहपुरुष की तरह द्वैताद्वैत से सम्पन्न हो, तब तो परस्पर आकर्षण व सम्बंधित ध्यान अपने चरम पर आसानी से पहुँच जाता है। शेष मार्ग सद्वृद्ध/गुरु की कृपा व थोड़ी सी साधना के अतिरिक्त बल से अनायास ही तय हो जाता है, और आत्मज्ञान हो जाता है। क्योंकि केवल भौतिक कामोन्माद से ही समाधि दृढ़ नहीं हो सकती व मानसिक कामोन्माद के बिना भी समाधि असंभव-सदृश ही है, इसलिए साँकेतिक रूप में भौतिककामोन्माद का आश्रय लेने का माध्यमिक तंत्रमार्ग ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। तंत्र के साथ, विशेषतः पूर्वोक्तानुसार विषमवाही तंत्र (जिसमें कुण्डलिनीवाहक अन्य होता है, और कुण्डलिनी कोई अन्य ही होती है) के साथ गुरु इसलिए भी आवश्यक हैं, क्योंकि यदि मन में गुरुरूपी कुण्डलिनी नहीं बसी होगी, तो तंत्र की अपार शक्ति से उसके मन में व्यर्थ के, मोहकारक व अज्ञानकारक विचार पुष्ट होंगे, जिससे बंधन होगा; परन्तु यदि मन में गुरु के रूप की कुण्डलिनी बसी होगी, तब उस शक्ति से वह कुण्डलिनी पुष्ट होती रहेगी, जिससे मुक्ति प्राप्त होगी। समवाही तंत्र में, गुरु यौनसीमा के उल्लंघन से बचाता है, और मानसिक यौनोन्माद को निरंतर रूप से चरम पर बना कर रखता है।

वास्तव में, आत्मज्ञान को हम प्रणय-सम्बन्ध (romance) से ही अच्छी तरह से समझ सकते हैं, सीधे तौर पर नहीं, क्योंकि वह तो अनिर्वचनीय है। यदि कई वर्षों तक, मन में प्रणयसंबंधी (consort) का चित्र निरंतर रूप से बना रहे, तब हम उसे सर्वोत्तम प्रणयसम्बन्ध कहेंगे। परन्तु यदि सर्वोत्तम प्रणयसम्बन्ध के साथ, प्रणयसंबंधी के साथ अनासक्ति भी विद्यमान हो, तब तो हम उसे परम प्रणयसम्बन्ध कहेंगे। आत्मज्ञान भी प्रभावरूप में परम प्रणय की तरह ही होता है। इसका अर्थ है कि आत्मज्ञान हो जाने पर, सर्वोत्तम प्रणय भी परमप्रणय के रूप में रूपांतरित हो जाता है। एक प्रकार से, परमप्रणय से आत्मज्ञान की क्षणिक अनुभूति तो नहीं भी हो सकती, परन्तु आत्मज्ञान

के पूर्णप्रभाव के जैसा अनुभव तो हो ही सकता है। पूर्णतः संभव है कि उसके प्रभाव से, कालान्तर में वह भी हो जाए, क्योंकि कारण व कार्य एक-दूसरे को उत्पन्न करते रहते हैं। देवी मीरा को भी इसी परमप्रणय से आत्मज्ञान हुआ था। कुण्डलिनीयोग भी इसी परमप्रणय को सिद्ध करता है। यह जो समाज में प्रणयसम्बन्ध व आत्मज्ञान को भिन्न-भिन्न करके देखा जाता है, उसी से आत्मज्ञान के बारे में भ्रम बना हुआ है। वास्तव में ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

पूर्वोक्तानुसारं स्पष्टे कथिते च, यौनाङ्गः मस्तिष्कः च उभयौ युग्मितौ। चेत् कुण्डलिनी यौनाङ्गे, तस्य संवेदनायां प्रसारणे च ध्याता, तर्हि सा यौनान्गसंकुचनेन स्वयमेव मस्तिष्कं धावति तत्र च प्रज्वलति, अपि च दीर्घकालपर्यन्तं (न्यूनतमेन एकदिवसपर्यन्तं) मस्तिष्के एव प्रतिष्ठति। एवमेव तंत्रानुसारमेव वज्रप्रक्षालनकाले, चेत् कुण्डलिनी वज्रसंवेदानायाम् ध्याता, तर्हि सा सहसा प्रज्वलिता जायते।

उपरोक्त यौनयोगसिद्धांत के अनुसार ही, यौनयोग के साथ-साथ, गुरु इसलिए भी अत्यधिक आवश्यक है, क्योंकि यौनयोग के समय सद्गुरु की निकट की संगति से, उनका जीवन-चरित्र धीरे-धीरे, यौनयोगी की कुण्डलिनी के रूप में स्वतः व अनायास ही मन में उभर जाता है, जैसा कि पूर्वोक्त विषमवाही तंत्र (इसमें कुण्डलिनी अन्य होती है, व कुण्डलिनीवाहक अन्य) में होता है। उपरोक्त बात पूर्णतः सत्य है कि यदि गुरु साथ नहीं होंगे, तब यौनयोग की ऊर्जा, शरारतपूर्ण, व्यर्थ व कई बार हानिकारक विचारों के झुण्ड के रूप में बर्बाद हो जाएगी। यदि साथ में गुरु अद्वैतशाली भी हों, तब तो उनके रूप के मानसिक चित्र (कुण्डलिनी) से विकसित अद्वैत के साथ, अतिरिक्त अद्वैत भी विकसित हो जाता है; जिससे कुण्डलिनीजागरण, आत्मज्ञान व मुक्ति, तीनों को एकसाथ प्राप्त कराने वाला महान बल प्राप्त हो जाता है। उसके साथ, यदि शरीरविज्ञान दर्शन का भी साथ में सहयोग लिया जाए, तब तो उससे भी अद्वैत प्राप्त हो जाता है, और "सोने पे सुहागा" वाली लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है। वास्तव में अद्वैत, आनंद व कुण्डलिनी; ये तीनों एकसाथ रहते हैं, और एक-दूसरे को बढ़ाते रहते हैं। निर्धारित लक्ष्य के अनुसार, तंत्र के पञ्चमकार (मैथुन, मद्य, माँस, मत्स्य व मुद्रा) जगत/पाप को भी उपलब्ध करवा सकते हैं, और मुक्ति/कुण्डलिनी/पुण्य को भी। यह कहना कि वाममार्गी-तंत्र को उन लोगों के लिए बनाया, जो भौतिक पञ्चमकारों में डूबे हुए होते थे, ताकि वे उनको धीरे-धीरे करके छोड़ देते, जिससे वे भी मुक्ति को प्राप्त कर पाते; तंत्र को गौण रूप में प्रदर्शित करता है। परन्तु इसके विपरीत, वास्तव में तंत्र तो शक्ति प्राप्त करने का मुख्य साधन है, और सबके लिए श्रेयस्कर है। शक्ति से ही सभी कुछ संभव है। शक्ति/कुण्डलिनी का

जागरण इसीसे प्रतीत होता है, अन्यथा नहीं। शक्ति-जागरण के बाद तो साधक को पञ्चमकारों की आवश्यकता कम ही पड़ती है, अतः वह उनका प्रयोग बंद या बहुत कम कर देता है। तथाकथित, आधुनिक बियर-योग (beer-yoga) व अप्सरा-योग भी तो तांत्रिक-योग/पञ्चमकार-योग पर ही आधारित प्रतीत होते हैं।

प्रेमयोगी वज्र भी किशोरावस्था के प्रारम्भ में अंतरलैंगिक-अंतर्जातीय प्रेमसंबंध से प्रभावित हुआ था। वह प्रेम शुद्ध, मानसिक, साँकेतिक व तांत्रिक प्रकार का था। तांत्रिकता का कारण था, प्रेमयोगी वज्र व प्रेमिका (consort) के बीच में संयोगवश व अप्रत्यक्ष रूप में (मानवीय उद्देश्य की पूर्ति करते समय, जैसे कि नाटक, मंच आदि में यौन-मुद्राओं के चित्रादि के अप्रत्यक्ष रूप में चलन के कारण, सिने कलाकारों की तरह) या यूं कहो; पूर्णतया शुद्ध, मानसिक व सात्विक रूप में यौनसम्बन्ध का अनायास अर्थात संयोग से व बिना इच्छा के ही बन जाना, जिसे हम तंत्र की भाषा में इनिशिएशन (initiation) अर्थात शारीरिक आकर्षण की शुरुआत भी कह सकते हैं। अतः यह शुरुआत इच्छारहित, प्राकृतिक व अहंकार से रहित थी। फिर एक दिन प्रेमयोगी वज्र की तन्त्रसम्मत अग्निपरीक्षा का दिन था। वह उस दिन समयपूर्व ही अपनी कक्षा में पहुँच गया था। वह कक्षा में अकेला ही, कमरे के मध्यस्थ व गोलाकार मेज (central table) के चारों ओर रखे बैंच के एक भाग पर बैठा हुआ था। तभी कक्षा में प्रेमिका-देवीरानी (consort) भी प्रविष्ट हो गईं। वह कुछ असहज व कामोत्तेजित सा हो गया, जिससे वह कुछ बोल भी नहीं सका। वह अपनी पुस्तक मेज पर रखकर, कुछ पढ़ने का दिखावा जैसा करने लगा। देवीरानी भी उसी के जैसी स्थिति में थीं। उसने ऊब जैसे जाने का दिखावा किया व किसी दिव्य प्रेरणा से उस मेज पर पीठ के बल लेटकर छत की ओर देखने लगी, पैरों को भूमि पर ही लगाए हुए। प्रेमयोगी वज्र उसके ऊपर पल भर के लिए भी दृष्टि नहीं टिका सका, क्योंकि वह अत्यधिक कामोत्तेजित हो गया था। उसमें यौनांगों में प्रसार के साथ, अत्यधिक व अपने जीवन की अभूतपूर्व उत्तेजना (genital orgasm) उत्पन्न हो गई। अपने यौनांगों की ओर दौड़ता हुआ रक्त-संचार उसे स्पष्टता से अनुभव हो रहा था। उसकी वज्र-उत्तेजना पूरे शरीर में व्याप्त होकर, पूर्णशरीर-उत्तेजना (whole body orgasm) का रूप ले चुकी थी। उसे अपना हृदय जोर-जोर से उछलता हुआ स्पष्ट रूप से सुनाई दे रहा था, जिसका कम्पन पूरे शरीर में व्याप्त हो रहा था। वह अपने शरीर की रक्त-वाहिनियों में दौड़ते हुए रक्त की आवाज को स्पष्ट रूप से अनुभव कर पा रहा था। उसके पूरे शरीर, विशेषतया मुख पर सुर्ख लाली छा गई थी। उसके शरीर में अत्यधिक गर्मी उत्पन्न होने से, उसका शरीर जैसे एक जीवित अंगारा

बन गया था। रक्तदाब की उच्चता के कारण उसे अपना मस्तिष्क भारी, दबावयुक्त व धड़कता हुआ सा प्रतीत हो रहा था। उसके मन में कामोन्माद की लहरें ताबड़तोड़ ढंग से कुलांचें मार रही थीं। मन संकल्प-विकल्प की तरंगों से भर गया था, मुख्यतया देवीरानी से सम्बंधित क्षेत्रों से। उसके मन में चारों ओर उमंग व प्रकाश का बोलबाला हो गया था। प्रेमयोगी वज्र अपने जीवन में पहली बार अपने आप को इतने अधिक व्यक्त रूप में अनुभव कर रहा था। जहाँ-जहाँ पर भी उत्तेजना अनुभव हो रही थी, वहीँ-वहीँ पर प्रेमयोगी वज्र को देवीरानी का बहुत ही स्पष्ट व मनमोहक रूप दिखाई दे रहा था। मन की उमंग-तरंग के बीच भी, रानी का चित्र उतने अधिक स्पष्ट व प्रचंड रूप में विद्यमान था, जितना अधिक चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से, प्रत्यक्ष रूप में भी अनुभव नहीं होता। प्रेमयोगी वज्र को एक अद्वितीय, दिव्य, सूक्ष्म व इन्द्रियातीत आनंद का अनुभव हो रहा था। उसने बाहर को ज़रा सा भी यह जाहिर नहीं होने दिया कि वह उस सब से उत्तेजित या विशेष प्रभावित था। वह पूर्णतः शाँत होने का जबरदस्त दिखावा कर रहा था। अध्यापक के कक्षा में आने के भय, उन वृद्ध व आध्यात्मिक पुरुष के मानसिक चित्र से प्राप्त सद्प्रेरणा के कारण, तथा देवीरानी के द्वारा संभावित रूप से फंसाए जाने के भय से वह मर्यादा का उल्लंघन करने से बच गया। तभी किसी दिव्य प्रेरणा से, प्रेमयोगी वज्र मेज पर पड़ी पुस्तक में कुछ पढ़ने-समझने के लिए, अपने दिमाग पर कुछ जोर जैसा डालने लगा। इससे उसके मन में कुछ दूसरे विचार भी उमड़ने लगे। तभी एकदम से उसके यौनांगों का प्रसार व उनकी उत्तेजना शाँत हो गई। हृदय की धड़कन व रक्त संचार सामान्य हो गए। प्रेमयोगी वज्र के शरीर का कम्पन समाप्त हो गया, और वह सामान्य, स्थिर व लम्बे-गहरे श्वास लेने लगा। ऐसा लगा, जैसे कि यौनांगों का, शक्ति से भरपूर रक्त मस्तिष्क को चला गया हो। उसी रक्त के साथ देवीरानी का चित्र भी वहाँ से निकलकर मस्तिष्क में प्रविष्ट हो गया, अर्थात कुण्डलिनी क्रियाशील हो चुकी थी। तंत्रयोग के रहस्य का द्वार प्रेमयोगी वज्र के समक्ष खुल चुका था। देवीरानी भी लगभग आधे मिनट के बाद उठकर चहलकदमी करने लग गई थीं। प्रेमयोगी वज्र के आत्मसंयम से देवीरानी हमेशा के लिए अचंभित सी व प्रभावित सी हो गई। उसके बाद तो प्रेमयोगी वज्र ने बिना थके-रुके, जी-जान से अपनी पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन करना शुरु कर दिया। वह विवशता के साथ, ऐसा इसीलिए कर रहा था, ताकि उसकी कुण्डलिनी के रूप में, प्रेमयोगिनी (उपरोक्त प्रथम देवीरानी) का मानसिक चित्र, सदैव उसके मस्तिष्क में स्थित रह सकता, न कि वहाँ से नीचे उतरता, क्योंकि नीचे उतरकर वह चित्र शारीरिक यौनोत्तेजना (body orgasm), शारीरिक बेचैनी व यौनप्रसारण (erection) को उत्पन्न कर देता

था। इस तरह से, समाधि के साथ-साथ, उसकी भौतिक उन्नति भी सुदृढ़ होती गई। तंत्र के द्वारा भौतिक व आध्यात्मिक, दोनों प्रकार की विधाओं के एक साथ विकसित होने के पीछे संभवतः यही रहस्य छिपा हुआ है।

उपरोक्त प्राकृतिक तंत्र में, प्रेमयोगी वज्र को मुख्यतः केवल ३ चक्रों का ही अनुभव होता था, जहाँ पर अधिकाँशतः प्रथम देवीरानी (कुण्डलिनी) का वास हुआ करता था। वे चक्र थे; यौनचक्र, हृदयचक्र व मस्तिष्कचक्र। कुण्डलिनी इन चक्रों के बीच में दोलायमान रहती थी। हो सकता है कि अन्य क्षेत्रों का भी योगदान रहा हो, परन्तु ये ३ क्षेत्र मुख्य थे। वास्तव में, ये तीनों चक्र लगभग इकट्ठे ही अभिव्यक्त होते थे। हो सकता है कि बारी-बारी से व कुछ क्षणों के अंतर से अभिव्यक्त होते हों, इसलिए इकट्ठे लगते हों, क्योंकि मानसिक चित्र को तीनों स्थानों पर तो एकसाथ अनुभव नहीं किया जा सकता। ये तीनों क्षेत्र एक-दूसरे को प्रभावित करते थे, अर्थात बढ़ाते थे। वास्तव में, तांत्रिक प्रेमिका (consort) के सुदृढ़ मानसिक चित्र को ही तांत्रिक-कुण्डलिनी कहते हैं। उसके बाद तांत्रिक गुरु की अप्रत्यक्ष व अनायास कृपा से वह कुण्डलिनी दिनोंदिन सुदृढ़ होती गई। देवीरानी के रूप के मानसिक चित्र को संतुलित करने के लिए, अंततः प्रेमयोगी वज्र को लोकमर्यादा की सीमा के उल्लंघन से बचाने के लिए, उसके तांत्रिक गुरु का चित्र भी उसके मन-मंदिर में छा जाता था। अब प्रेमयोगी वज्र को भौतिक यौन सम्बन्ध से भी कहीं अधिक स्पष्ट, आनंददायक व चेतानापूर्ण, वह मानसिक समाधि-सम्बन्ध लगता था। एक प्रकार से मानसिक-यौनसम्बन्ध ने भौतिक यौनसम्बन्ध को हरा दिया था। उसके बाद यद्यपि उसमें अत्यधिक आत्मसंयम उत्पन्न हो गया था, परन्तु पूर्ण संयम तो उसमें आत्मज्ञान होने के बाद ही उत्पन्न हो पाया था, जब वह उच्च से उच्च यौन प्रलोभन को भी अनायास ही ठुकरा देता था, यद्यपि तांत्रिक यौनसंबंध के प्रति उसकी इच्छा बनी रहती थी, जो उसे योग्य गुरु की अनुपलब्धता के कारण उपलब्ध नहीं हो सका। प्रेमयोगी वज्र की इच्छा तो किसी भी प्रकार से उसके साथ मानसिक समाधि-सम्बन्ध (tantric orgasmic samadhi) बनाए रखने की होती थी। जब प्रेमयोगी वज्र का वह सम्बन्ध बिना किसी भी बाह्य प्रयास के स्वतः ही बन गया था, तो उसे व्यर्थ के जंजालों में पड़ने की क्या आवश्यकता थी। यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से अपमान तो प्रेमयोगी वज्र का भी बहुत होता था। अप्रत्यक्षतः या कुछ संकेतों में कई लोग उसे मूर्ख समझते थे कि एक स्त्री को वह मन में बसा कर रखता था, कुछ बोलता नहीं था, कुछ करता नहीं था आदि-आदि। कई निकट के मित्र तो हास्य-विनोद में, तद्सम्बंधित अश्लील बातें भी करने लग जाते थे, प्रेमयोगी वज्र जिसका बुरा नहीं मानता था,

अपितु उसमें प्रेमिका की मानसिक कुण्डलिनी, और अधिक पुष्ट हो जाया करती थी, यद्यपि उसमें यौनोत्तेजना भी छा जाती थी, इसलिए वह वैसी बातों से अधिकाँशतः बचता ही था; विशेषकर जब यौनोत्तेजना सीमा से ऊपर जाने लगती थी, उसकी साँसें अनियमित होने लगती थी, व उसे अपना दम घुटा हुआ सा महसूस होने लगता था; साथ में विचारों की क्रियाशीलता/चमक गिरने लगती थी। तेज दिमाग रखने वाली देवीरानी को उसकी भनक संकेतों व हाव-भावों से मिल जाती थी, यद्यपि वह भी बुरा न मानकर केवल सावधान ही रहती थी, और साथ में तंत्रसम्मत मानसिक आनंद भी उठाती थी, जैसा कि उसकी मधुर मुस्कान से परिलक्षित होता भी था। एक बार तो उसने प्यार, रोमांच, चमक, मधुर मुस्कान/आनंद, आत्मगौरव व उत्तेजना के साथ हँसते हुए, तथा बच्चे को बहलाने-फुसलाने की तरह, प्रेमयोगी वज्र को इस बारे में कम से कम शब्दों व संकेतों में बताया भी था। उससे वह बड़ा संतुष्ट, प्रसन्न व गौरवान्वित हो गया था। फिर भी, वह मित्रों की अटखेलियों से, टस से मस नहीं हुआ। वैसे भी प्रेमयोगी वज्र को लगता था कि प्रत्यक्षयौनसंसर्ग से वह समाधिकारक आकर्षण समाप्त हो जाता व आत्मज्ञान प्राप्त न होता, क्योंकि भौतिकता में कुछ न कुछ विकार तो होते ही हैं, जिनके साक्षात्कार से मानसिक चित्र कुछ न कुछ तो धूमिल हो ही जाता है। जब भौतिक रूप से भी अधिक स्पष्ट व आनंददायी, मानसिक रूप बन जाए, तो भौतिक विकारों को गले लगाने से भला क्या लाभ हो सकता है? यही सिद्धांत कुण्डलिनीयोग का सिद्धांत है। तंत्र में भौतिक रूप/विकारों को अनदेखा करते हुए, भौतिक रूप की सहायता से मानसिक रूप को सुदृढ़ किया जाता है। वैसे, भौतिक विकारों को द्वैतयुक्त मनुष्य अनदेखा नहीं कर सकता, तभी तो द्वैतपूर्ण पुरुष के लिए यौनयोग हानिकारक भी हो सकता है। इसीलिए यौनयोग का आश्रय लेने से पहले यौनाश्रयरहित व आधारभूत कुण्डलिनीयोग, शविद, पुराणों आदि के आश्रय से द्वैताद्वैत निष्ठा को सुदृढ़ किया जाता है। प्रेमयोगी वज्र उस समय द्वैतपूर्ण स्थिति में था, अतः आत्मप्रेरणा से उसने ठीक ही निर्णय लिया। पूर्ण आत्मसंयम की वह स्थिति, कालांतर में हुए क्षणिकात्मज्ञान के बाद के केवल ३-४ वर्षों तक ही रह सकी। वास्तव में आत्मज्ञान का अधिकाँश प्रभाव ३-४ वर्षों तक ही रहता है। वह उस दौरान कनिष्ठ ब्रम्ह (junior god) जैसा ही होता है। उस दौरान वह सही बोलता है, सही लिखता है, व सही करता है। उस दौरान उसके द्वारा गहनता से विचारी, बोली व लिखी गई अधिकाँश बातें सत्य सिद्ध हो जाती हैं। यद्यपि वह क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठा हुआ होता है, और जगत के कल्याण के लिए ही चेष्टा करता है, वह भी यदि अत्यावश्यक हो, तभी। उसके बाद वह ईशत्व-प्रभाव धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है। फिर उसे अंशमात्र में कायम रखने के

लिए, द्वैताद्वैत शास्त्र (शविद, पुराण आदि) तथा/या कुण्डलिनीयोग का आश्रय लेना पड़ता है। यदि दोनों विधियों का आश्रय एकसाथ लिया जाए, तो सर्वोत्तम प्रभाव बना रहता है। प्रेमयोगी वज्र को केवलमात्र शविद का ही आश्रय लेना पड़ा था, क्योंकि उस समय योग का बोलबाला नहीं था, व पुराण-प्रेमी भी उसे दूर-दूर तक नहीं दिखाई देते थे। शविद इसलिए भी उसे अपने अनुकूल प्रतीत हुआ, क्योंकि वह स्वयं भी स्वास्थ्य क्षेत्र से ही सम्बंधित था।

प्रेमयोगी वज्र तो वृद्धाध्यात्मिकपुरुष के जीवनचरित की कुण्डलिनी की दिनोंदिन हो रही वृद्धि से अधिकाधिक आनंद व उन्नति प्राप्त करता गया, क्योंकि संभवतः वह कुण्डलिनी यथोक्त प्रथम देवीरानी के सान्निध्य से सिद्ध तांत्रिकयौनबल से शक्ति प्राप्त कर रही थी। इससे उसकी यौनसंपर्क की जिज्ञासा भी क्षीण/इच्छारहित हो गई थी। परन्तु देवीरानी की मानसिक प्यास संभवतः बुझ नहीं रही थी, क्योंकि उसके मन में संभवतः कोई कुण्डलिनी क्रियाशील ही नहीं थी, या फिर निर्बलता के साथ क्रियाशील थी, जिसे वह तांत्रिक यौनसम्बन्ध से पुष्ट करना चाह रही हो। संभवतः उसे किसी ज्ञानयुक्त प्रेमी का वैसा साथ नहीं मिल रहा था, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र को उन वृद्ध पुरुष/गुरु का मिल रहा था। संभवतः तभी उसकी कुण्डलिनी विकसित न हो पाई हो। संभवतः इसी कारणवश, बाद-बाद में, उसमें प्रेमयोगी वज्र के प्रति मानसिकद्वेष उत्पन्न हो गया था, जिसका आभास प्रेमयोगी वज्र को क्षणिकात्मज्ञान के बाद हुआ, अन्यथा संभवतः आत्मज्ञान ही न होता। यह भी अनेक अनुकूल परिस्थितियों में से एक थी। फिर भी, उसके विचित्र, द्वेषयुक्त व आरोपकारी जैसे मुख का मानसिक चित्र, प्रेमयोगी वज्र को कई वर्षों तक बीच-बीच में व कुछ-कुछ तो परेशान करता ही रहा। वैसे, उस देवीरानी के प्रति प्रेमयोगी वज्र की अनासक्ति भी गजब की थी। उससे अत्यंत प्रेम करते हुए और उसके रूप की नित्य समाधि को अनुभव करने पर भी वह कभी भी, यहाँ तक कि अपने को भी यह विश्वास नहीं दिला पाया कि वह उससे प्रेम करता था, अन्य लोगों को तो कैसे विश्वास दिला पाता। उसने यौनयोग का लगभग पूर्ण आनंद लिया, फिर भी उसके और उसकी प्रेमिका (consort) के यौनाचरण के ऊपर कोई भी, कभी भी उंगली नहीं उठा सकता। यदि यह आश्चर्य नहीं है, तो और क्या है। ऐसा ही अनासक्ति-कौशल उसने द्वितीय देवीरानी के प्रति भी दिखाया था। वैसे चाहे वैवाहिक हो या अन्य प्रेमसम्बन्ध, योगी व योगिनी को कभी भी एक-दूसरे के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं करनी चाहिए, तभी यौनयोग की दृढ़ नींव (foundation) तैयार होती है। वास्तव में, तांत्रिक सहयोगी के भौतिक रूप के प्रति अनासक्ति का

होना अत्यावश्यक है, अन्यथा सारा ध्यान मन की कुण्डलिनी से हट कर, सहयोगी के भौतिक शरीर पर चला जाता है, जिससे मानसिक कुण्डलिनी का क्षरण होता है।

प्रेमयोगी वज्र के अनुभव के आधार पर, आत्मज्ञान का पूर्णप्रभाव तो व्यक्ति में कुछ ही क्षणों तक, अर्थात तब तक रहता है, जब तक वह अनुभव हो रहा होता है। उसके बाद तो उसे यह अनुभव होता है कि उसने सब कुछ पा लिया है, अर्थात वह आप्तकाम हो गया है, और उससे उसमें अनासक्ति व अद्वैतनिष्ठा स्वयमेव छा जाती है। पूर्णसंतुष्टि व अद्वैतनिष्ठा की अनुभूति तो बिना आत्मज्ञान के, केवल शविद/पुराणों के निरंतर परिशीलन से भी हो जाती है। आत्मज्ञान का शेष प्रभाव लगभग ३-४ वर्षों तक ही रहता है। इन वर्षों में वह द्वैताद्वैतनिष्ठा को अपनाना, अच्छी तरह से सिखा देता है। प्रेमयोगी वज्र के अनुभव के आधार पर, आत्मज्ञान के बाद, पुरुष में देहपुरुष की तरह का अद्वैतभाव/द्वैताद्वैतभाव दृढ़ हो जाता है। इसका अर्थ है कि द्वैताद्वैतभाव ही मुक्ति के लिए प्रत्यक्षरूप से उत्तरदायी है, आत्मज्ञान नहीं, क्योंकि पूर्वोक्तानुसार, आत्मज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव तो नश्वर है। यह तो आत्मज्ञान के द्वारा सिखाया गया द्वैताद्वैत का भाव ही है, जो मुक्ति तक ले जाता है। देवता-प्रेमी देवलोक को, भूत-प्रेमी भूतलोक को, मानव-प्रेमी मानवलोक को व पश्वाचारी पशुलोक को जाता है। फिर जो अद्वैत से सभी कुछ को एकसमान रूप से प्रेम करता है, वह कहाँ जाएगा? वास्तव में वह हर स्थान पर एकसाथ उपस्थित रहेगा। यह तो तभी संभव है, यदि वह ब्रम्हलीन हो जाए, क्योंकि ब्रम्ह ही सदैव व सर्वत्र विद्यमान होता है। इससे सिद्ध होता है कि अद्वैतशाली पुरुष मुक्त हो जाता है। इसलिए मुक्ति के इच्छुक को शविद के जैसे द्वैताद्वैतशास्त्र से बंधे रहना चाहिए, जीवनभर, आत्मज्ञान के पीछे भागने की अपेक्षा। ऐसे में, यदि आत्मज्ञान होना हो, तो वह स्वयं ही हो जाता है, क्योंकि आत्मज्ञान के पीछे जितना अधिक भागते हैं, वह उतना ही दूर चला जाता है। वास्तव में आत्मज्ञान की कल्पना करना ही व्यर्थ है, क्योंकि इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। आत्मज्ञान तो उस मस्त-मौला आदमी के तरह की एक स्थिति होती है, जो वास्तव में किसी भी प्रकार का ज्ञान लगती ही नहीं। इसलिए आत्मजागरण कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। आत्मज्ञान के पीछे भागने से, अद्वैतनिष्ठा के ऊपर भी संकट मंडराने लग जाता है। विरले व्यक्ति को ही कुण्डलिनीजागरण या आत्मज्ञान का अनुभव इसीलिए होता है ताकि वे अद्वैत के महत्त्व को समझ सकें व औरों को भी समझा सकें। यदि कोई व्यक्ति अद्वैत को छोड़ कर, कुण्डलिनीजागरण या आत्मज्ञान की ओर भागे; तो वह वैसा ही मामला होगा, जिसमें कोई व्यक्ति अपने अध्ययनपूर्ण दैनिक जीवन को छोड़ कर अध्यापकवृत्ति की ओर भागे, परन्तु दोनों से ही हाथ

धो बैठे। या यह इस तरह का मामला है कि कोई व्यक्ति स्वर्णभूमि को त्याग कर, सूर्य की लालिमा से चमक रहे पर्वत-शिखर को स्वर्ण-शिखर समझ कर, उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ पड़ता है। शविद से जब यह अच्छी तरह से पता चल जाता है कि सृष्टि के हर स्थान पर अनगिनत देहें हैं, व अनगिनत देहपुरुष हैं, तो वह अपनी व अन्य जीवों की देहों के प्रति आसक्त नहीं होता, जिससे उसके पुनर्जन्म का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। कुण्डलिनीजागरण के समय, प्रेमयोगी वज्र, शविद के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैत दृष्टिकोण से संपन्न था। उसने उस समय कुण्डलिनी को इसलिए नीचे उतारा, क्योंकि उसे उसमें, उस समय कोई विशेषता प्रतीत नहीं हुई। उसे क्षणिक तड़क-भड़क व उंच-नीच वाले अनुभव से अच्छा व लाभदायक तो अद्वैत की समरसता वाला अपना वही आत्मरूप लग रहा था। फिर भी, प्रकाश व अन्धकार (जगत), दोनों को सरलता से व सदैव के लिए नतमस्तक करने के लिए कुण्डलिनीजागरण का होना आवश्यक है। उसे कुण्डलिनी को नीचे उतारने का भी कोई विशेष दुःख नहीं हुआ। इसका सीधा सा अर्थ है कि शविदप्रेमी कुण्डलिनीजागरण की भी परवाह नहीं करता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अद्वैतदृष्टिकोण कुण्डलिनीजागरण से भी बड़ा है, और मुक्ति के लिए अत्यावश्यक है। कुण्डलिनीजागरण तो केवल अद्वैत को ही पुष्ट करता है। वास्तव में, आत्मज्ञान व कुण्डलिनीजागरण, दोनों ही क्षणिक, तीक्ष्ण व सर्वोत्तम प्रकार की मानसिकता को उत्पन्न करते हैं। मन उस स्तर की मानसिकता के लोभ में छटपटाता रहता है, और उसकी खोज में यहाँ-वहाँ भागता फिरता है। उसे अद्वैत के अतिरिक्त कहीं पर भी, उससे अधिक मिलती-जुलती मानसिकता प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार से वह अप्रत्यक्ष रूप से ही अद्वैतभाव को निरंतर रूप से धारण करना सीख जाता है, जो मुक्ति के लिए अत्यावश्यक है। उस अद्वैत से, उसकी शक्ति व्यर्थ के क्रियाकलापों व विचारों में बर्बाद होने से बचती रहती है। इससे अगले व पूर्व वाले से अधिक बलवान कुण्डलिनीजागरण की संभावना भी उसमें निरंतर बनी रहती है। यदि कुछ न कर सको तो अन्तर्यामी देहपुरुष, भगवान् श्रीकृष्ण की तरह कहते हैं, "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं हि त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"। इसका अर्थ यह है कि यदि तन्त्र का ज्ञान न हो, कुण्डलिनी क्रियाशील न हुई हो व यौनयोग भी करना न आए, तो केवलमात्र इतना तो करना ही चाहिए कि किसी भी प्रेम विशेषतः यौनप्रेम के समय, अपने शरीर व अपनी प्रेमिका (consort) के शरीर के प्रत्येक स्थान पर महान देहपुरुषों का ध्यान किया जाए। इससे अद्वैतदृष्टिकोण स्वयं ही पुष्ट होता रहता है, व कुण्डलिनी भी क्रियाशील होने लग जाती है।

इसी तरह से, कुण्डलिनीजागरण भी मुक्ति जैसी किसी विशेष वस्तु को उपलब्ध न करा कर, अनासक्ति को ही उत्पन्न करता है (क्योंकि पूर्वोक्तानुसार, इससे विश्वास हो जाता है कि सभी कुछ मस्तिष्क के अन्दर ही है, और अपना ही रूप है), जिससे अद्वैत (द्वैताद्वैत/द्वैत के बीच में रहते हुए भी अद्वैत) स्वयं ही उत्पन्न होने लगता है, और बढ़ने लगता है। इसीलिए तो बहुत से अद्वैतसिद्धपुरुष, कुण्डलिनीजागरण व आत्मज्ञान की अभिलाषा भी नहीं रखते। वे शविद के जैसी स्वाभाविकता को ही स्वीकार करते हैं, अन्य कुछ नहीं। वे आत्मज्ञान, कुण्डलिनीजागरण आदि किसी भी विशेष व प्रयत्नप्राप्त अवस्था की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते, फिर भला अहमियत क्यों देंगे? अतः ऐसी अवस्थाओं की वे अभिलाषा ही नहीं करते। उन्हें वास्तव में सब कुछ स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। इसका अर्थ है कि शविद में सभी कुछ विद्यमान है। शविदप्रेमी के मन में कोई प्रश्न नहीं होता, केवल स्वाभाविकता होती है, और आनंद ही आनंद होता है। वे जिस किसी भी स्वतःप्राप्त अवस्था में सदैव प्रसन्न रहते हैं। वे ऐसी-वैसी विशेष अवस्थाओं को मानसिक भ्रम से उत्पन्न द्वैत की उपज मानते हुए, उन्हें मिथ्या समझते हैं। उनके दृष्टिकोण से सभी कुछ शविद की तरह ही अद्वैतपूर्ण, सामान्य व स्वाभाविक है। इन सभी तथ्यों से प्रतीत होता है कि द्वैताद्वैतनिष्ठा में ही वास्तविक धर्म, वास्तविक कल्याण व वास्तविक मुक्ति छिपी हुई है।

इस तरह से, तांत्रिक रहस्य का द्वार प्रेमयोगी वज्र के समक्ष खुल चुका था। फिर प्रेमिका (consort) का चित्र/कुण्डलिनी, उसके निचले व ऊपरी चक्रों के बीच में स्वयं ही घूमता रहा, जिससे वह कुछ महीनों के प्राकृतिक/स्वतःस्वाभाविक अभ्यास से, उसके मस्तिष्क में समाधि के रूप में स्थिर हो गया। प्रेमयोगी वज्र की संगति में जो एक वृद्ध आध्यात्मिक पुरुष थे, वे उसके प्राकृतिक तंत्र-गुरु के रूप में स्वयं ही सिद्ध हो गए, क्योंकि वे शान्ति-स्थापक के रूप में अनजाने में ही तांत्रिक-कार्य कर रहे थे, अर्थात उसकी यौन ऊर्जा को जोखिम-भरी सीमा के ऊपर जाने से रोक रहे थे। उससे वह ऊर्जा बर्बाद न होती हुई, मस्तिष्क में जाकर कुण्डलिनी का पोषण व वर्धन कर रही थी। क्षणिक दृष्टि से देखते हुए ही, प्रेमयोगी वज्र को अपनी मानसिक प्रेमिका (consort) के भौतिक शरीर में अपनी कुण्डलिनी दृष्टिगोचर होती थी। वह कुण्डलिनी, और कुछ नहीं, अपितु उसके अपने तांत्रिक गुरु का मानसिक चित्र ही था, अर्थात अपने तांत्रिक गुरु के रूप को उसने अनजाने में ही, प्रेमिका (consort) की देह में स्थित, तंत्रदेवस्वरूप देहपुरुष को प्रदान किया हुआ था। इसी तरह से प्रेमयोगी वज्र को अपनी प्रेमिका (consort) का मानसिक चित्र (स्त्रीलिंग कुण्डलिनी) अपने तंत्र गुरु के देहपुरुष के रूप में दृष्टिगोचर होता था। इस तरह से प्रेमयोगी वज्र के

मन में दोनों कुण्डलिनियों का समावेश दृढ़ हो गया। एक कुण्डलिनी पुरुषरूप थी तो दूसरी स्त्रीरूप। वे दोनों कुण्डलिनियां एक दूसरे को प्रवृद्ध कर रही थीं। वे दोनों वैसी ही थीं, जैसी कि तांत्रिक बुद्धवाद/बुद्धिस्म में विजुवलाईजड डाईटी (visualized deity) व तंत्रगुरु के साथ, उनकी अपनी-अपनी प्रेमिकाएं (consorts) होती हैं। वास्तव में देहपुरुष में पुरुष-स्त्री, दोनों के गुण होते हैं, परन्तु उस उभयलैंगिक (bigender) रूप तक पहुँचने के लिए हमें देहपुरुष को पुलिंग-देहपुरुष व स्त्रीलिंग-देहपुरुष में विभक्त करना पड़ता है। ये परस्पर आकर्षक रूप एक दुसरे को तब तक बढ़ाते रहते हैं, जब तक कि संपूर्ण देहपुरुष (आत्मज्ञान) की उपलब्धि नहीं करा देते। यही शरीरविज्ञानदर्शन का तंत्रसम्मत सार है। उपरोक्त दोनों कुण्डलिनियोंके बीच में बढ़ते हुए परस्पर लैंगिक आकर्षण से, प्रेमयोगी वज्र की कुण्डलिनी को सहस्रार तक उठाने वाला एक महान बल तीव्रता से उत्पन्न हो गया। संभवतः वे दोनों कुण्डलिनियां एक साथ सहस्रार तक उठीं व वहाँ मिश्रित होकर आत्मज्ञान के रूप में परिणत हो गईं। क्षणिकात्मज्ञान के शिखर से उतर कर, वह कुछ क्षणों के लिए अपनी प्रेमिका (consort) की मुख्य सखी के भौतिकरूप से निर्मित मानसिक चित्र के साथ समाधिस्थ हो गया था, अर्थात उसे पूर्णरूपता व प्रचंडता के साथ, केवल प्रेमिका (consort) की उस सखी के रूप का अनुभव हुआ, बाकी का नेपथ्य-दृश्य (background scene) तो बहुत धीमा था। इससे यह संभावना भी प्रबल हो जाती है कि उसने प्रेमिका (consort) के रूप के साथ लगे समाधि-रूपी प्रक्षेपण-स्थान से, सीधे ही आत्मज्ञान के शिखर के लिए उड़ान भरी हो, अर्थात असम्प्रज्ञात समाधि के प्रारम्भ में ही आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया हो। कई वर्षों के बाद, जब प्रेमयोगी वज्र ने केवल पुरुष-कुण्डलिनी को सहस्रार तक उठाया, तो केवलमात्र १० पलों/सैकंड की समाधि से ही संतोष करना पड़ा, बिना आत्मज्ञान के। वह उस समाधि को स्थिरता नहीं दे सका, क्योंकि उस समय कुण्डलिनियों के मध्य में अंतरलैंगिक आकर्षण नहीं था, यद्यपि वह पुरुष-कुण्डलिनी को उठाने के लिए अंतरलैंगिकसंसर्ग का सहयोग ले रहा था। अतः सिद्ध होता है कि स्त्री-पुरुष संबंधित मानसिक-प्रणय (mental romance) वाले पूर्णरूपेण (full-fledged) तंत्रयोग के बिना, पूर्ण रोमांच से भरा हुआ आत्मज्ञान-अनुभव बहुत कठिन व अव्यावहारिक जैसा है। यह वर्णन तो केवल समझने मात्र के लिए ही है। सिद्धांतदर्शनानुसार तो कुण्डलिनी स्त्रीलिंग ही प्रतीत होती है।

उपरोक्तानुसार ही, कई बार प्रेमयोगी वज्र ने स्त्री (प्रथम देवीरानी) के रूप की कुण्डलिनी बना कर भी द्वितीय देवीरानी के साथ तांत्रिकसम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह सफल नहीं

हुआ। इसका अर्थ है कि विषमवाही तंत्र में, तांत्रिक साथी से विपरीत लिंग की कुण्डलिनी बना कर ही प्रभावकारी अंतरलैंगिक आकर्षण उत्पन्न होता है।

किसी दिव्य वरदान/आशीर्वाद से ही, दोनों की सटीक किशोरावस्था में, प्रेमयोगी वज्र व उसकी तांत्रिक प्रेमिका (consort) के मध्य में वह मानसिक तांत्रिक प्रारम्भ (visualized tantric initiation) स्थापित हो गया था। उससे प्रेमयोगी वज्र तंत्रयोग के अभूतपूर्व तेज से भर गया था। आश्चर्य की बात है कि तांत्रिक प्रेमिका (consort) की सखी-सहेलियाँ भी प्रेमयोगी वज्र के साथ मानसिक प्रेमिका (consort) के जैसा ही व्यवहार करती थीं, यद्यपि कुछ अधिक अप्रत्यक्षता के साथ। वे संभवतः वैसी ही थीं, जैसी कि शविद-वर्णित देहदेश की राजकुमारी का अनुगमन करने वाले उसके सखी-समूह व किंकर आदि। प्रेमयोगी वज्र के तांत्रिक तेज से प्रभावित होकर, उसके गुरु भी उसकी ओर स्वतः ही आकर्षित होने लगे, व अपने पूरे जीवन की साधना का फल अनजाने में ही उसे दे बैठे। उस साधना के अद्वितीय व पौरुषीय तेज के प्रकाश से प्रभावित होकर, प्रेमयोगी वज्र की प्रेमिका (consort) भी प्रेमयोगी वज्र की ओर, मानसिक रूप से, और अधिक आकर्षित हो गई। उससे, प्रेमयोगिनी का चित्र, प्रेमयोगी के मन में, और अधिक सुदृढ़ हो गया। उसके परिणामस्वरूप, प्रेमयोगी वज्र में परिलक्षित उसकी प्रेमिका (consort) के, और अधिक तेज से प्रभावित होकर, उसके गुरु उसकी ओर पहले से भी अधिक आकर्षित हो गए। इस तरह से वह सिलसिला चलता रहा, और प्रेमयोगी वज्र के गुरु व उसी की तांत्रिक प्रेमिका (consort), दोनों ही प्रेमयोगी वज्र के मन में एक दूसरे के ध्यान को बढ़ाते गए। वृद्ध-गुरु के सान्निध्य से प्रेमयोगी वज्र को आत्मसंयम की शक्ति भी मिलती रही, जिससे वह प्रेमिका (consort) के साथ प्रत्यक्षतांत्रिकयौनसंसर्ग से बचा रह सका, व मानसिक यौन-आकर्षण को पूरी प्रचंडता के साथ कायम रख सका, जिससे जल्दी ही प्रेमयोगी वज्र के मन में प्रेमिका (consort) के रूप के साथ सम्प्रज्ञात समाधि (प्रेमिका के चित्र का निरंतर रूप से मन में बस जाना) लग गई। फिर प्रकृति की किसी दिव्य योजना के प्रभाव से प्रेमयोगी वज्र व उसकी प्रेमिका (consort) का वियोग हो गया। उससे पतंजलि-योग के सिद्धांतानुसार, प्रेमयोगी वज्र असम्प्रज्ञात समाधि (अ=नहीं, सम्प्रज्ञात=प्रचुरता से जाना गया, अर्थात प्रेमिका (consort) के साथ जुड़ा हुआ, प्रेमयोगी वज्र का सभी कुछ क्षीण व निष्प्रभावी हो गया; यह आनंदमयी व संकल्पशून्यता जैसी अवस्था होती है) में प्रविष्ट हो गया, जिसके अन्दर वह क्षणिकात्मज्ञान छिपा हुआ था। प्रेमिका के साथ तो प्रेमयोगी वज्र का सभी कुछ जुड़ा हुआ था, यहाँ तक कि उसकी अपनी मन-आत्मा भी।

इसलिए वह स्वयं भी शून्य हो गया। वह शून्यता आभासिक थी। वास्तव में था तो सभी कुछ, परन्तु शून्य जैसा था। संभवतः वह महान अनासक्ति व महान अद्वैत की स्थिति होती है। वास्तव में, प्रेमयोगी वज्र की तरह का, अपनी प्रेमिका (consort) को मन में बैठाने का काम तो बहुत से लोग कर लेते हैं, परन्तु बाद में वे अपने मन से, उसका पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर पाते। इसी कारण से उन्हें आत्मज्ञान नहीं हो पाता। दूसरे शब्दों में, वे सम्प्रज्ञात समाधि की मोह-माया को त्याग कर, पूर्णत्याग-रूपी उस असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त ही नहीं कर पाते, जिसमें आत्मज्ञान छिपा हुआ होता है। वास्तव में वे प्रेमिका (consort) को इसलिए नहीं भुला पाते, क्योंकि उन्होंने प्रेमिका (consort) से, आसक्ति के साथ प्रेम किया हुआ होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रेम के समय भी शविद, पुराण, सद्गुरु, सद्वृद्ध आदि अद्वैतपरकों की संगति का अप्रतिम महत्त्व है। यह तंत्रसिद्धांत के अनुरूप ही है।

उस समय तो प्रेमयोगी वज्र को ऐसा लगा, जैसे कि समाज में भय का होना भी आवश्यक होता है। यदि उसे समाज का भय न होता, तो वह मर्यादा का उल्लंघन कर देता, जिससे यौनाकर्षण से उत्पन्न सम्प्रज्ञात समाधि में विघ्न पड़ जाता। इसी तरह से, यदि भय न होता, तो प्रेमयोगी वज्र व उसकी मानसिक प्रेमिका (consort/प्रेमयोगिनी) का वियोग न हुआ होता, जिससे वह असम्प्रज्ञात समाधि (शून्यत्व समाधि) न उत्पन्न हुई होती, जिसने प्रेमयोगी वज्र को आत्मज्ञान कराया। उपरोक्त भयनिर्मित अनुकूल परिस्थितियों के न होने से, योगी व योगिनी, दोनों ही भौतिक रूप से अवश्य चमक जाते, मुक्तसंस्कृति वाले पाश्चात्य लोगों की तरह, यद्यपि फिर उनका आध्यात्मिक विकास नहीं, अपितु संभवतः आध्यात्मिक हानि ही हुई होती।

प्रेमयोगी वज्र को यह भी लगा कि वह आत्मज्ञानकारक व प्रचंड मानसिक यौनाकर्षण तब भी संभव न हुआ होता, यदि प्रेमयोगी वज्र व प्रेमयोगिनी, दोनों ही किशोरावस्था के प्रवेशद्वार पर न होते। उसे यह भी लगा कि वह तब भी संभव नहीं हुआ होता, यदि दोनों लगभग एकसमान आयु के व एकसमान व्यवहार वाले न होते। वह तब भी संभव न हुआ होता, यदि उनके बीच में, कभी एकांत में बातचीत भी हुई होती। वह तब भी संभव न हुआ होता, यदि दोनों में से किसी ने भी परिपक्व आयु में प्रत्यक्षयौनसम्बन्ध का, किसी भी रूप में या कभी भी आस्वादन किया होता। वह तब भी नहीं हुआ होता, यदि उतने स्तर का निकटपरिचय (close interaction) उनके बीच में पहले भी कभी हुआ होता। वह तब भी न हुआ होता, यदि दोनों एक दूसरे के आत्मीय मित्र (soul mate) व शिव-शक्ति (twin flame) न होते। वह तब भी न हुआ होता, यदि दोनों आपस में

भौतिक रूप से बंध जाते। वह तब भी न हुआ होता, यदि प्रेमयोगिनी ने प्रेमयोगी वज्र के साथ अप्रत्यक्ष तांत्रिक सम्बन्ध (indirect tantric initiation) बनाने के लिए अत्यल्प सी पहल न की होती। वह तब भी न हुआ होता, यदि प्रेमयोगी वज्र ने स्वतःप्राप्त अप्रत्यक्षतांत्रिक प्रारम्भ (initiation) को बनाने में संकोच किया होता। वह तब भी न हुआ होता, यदि प्रेमयोगी वज्र उस पूर्वोक्त तांत्रिक प्रारम्भ (tantric initiation) में अपने प्रत्यक्ष जुड़ाव (involvement) का, प्रेमयोगिनी को जरा भी भान होने देता। वह तब भी नहीं हुआ होता, यदि प्रेमयोगी वज्र तांत्रिक इनिशिएशन को अहंकार व स्वेच्छा से करता। वह तब भी नहीं हुआ होता, यदि प्रेमयोगिनी निरंतर अपने हावों-भावों से उसके मन में अपने प्रति आकर्षण न बढ़ा रही होती। वह तब भी न हुआ होता, यदि प्रेमयोगिनी उसे अत्यधिक सुन्दर, चतुर, हँसमुख व आकर्षक रंग-रूप वाली न प्रतीत होती। वह तब भी न हुआ होता, यदि प्रेमयोगिनी प्रेमयोगी वज्र के आत्मज्ञान से पहले ही, उससे नाराज हुई होती। वैसा होने पर, प्रेमयोगिनी का श्राप (बददुआ) प्रेमयोगी वज्र को लगता, जिससे क्षणिकात्मज्ञान होने में अत्यधिक बाधा पहुंचती। यह तो अच्छा हुआ कि उसकी साँकेतिक नाराजगी का सामना, प्रेमयोगी वज्र को क्षणिकात्मज्ञान के बाद करना पड़ा। यहाँ तक कि जिस दिन उसकी अध्यापिका ने कक्षा में प्रजनन-सम्बंधित अंगों व उनकी कार्यप्रणालियों का सचित्र वर्णन किया था, उस दिन वह कक्षा में किसी दैवीय संयोगवश अनुपस्थित था। यदि वह उस दिन उपस्थित होता, तो उसके व देवीरानी के बीच में यौनाकर्षण संभवतः कम हो जाता, जिससे उस समाधि में क्षीणता उत्पन्न हो जाती, जो आत्मज्ञान कराती है। वह तब भी न हुआ होता, यदि सभी अध्यापकों व अध्यापिकाओं ने उसे उचित सहयोग व मार्गदर्शन न दिया होता। वह तब भी न हुआ होता, यदि प्रेमयोगी वज्र प्रेमयोगिनी का, मन से अत्यधिक आदर न करता। वह तब भी न हुआ होता, यदि प्रेमयोगी वज्र को उन वृद्धाध्यात्मिकपुरुष की संगति न मिली होती। अति निकट के व परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध के कारण ही, कालांतर में उन वृद्धाध्यात्मिकपुरुष का मानसिक चित्र प्रेमयोगी वज्र की कुण्डलिनी बन गया। संभवतः इसीलिए कहा जाता है कि तंत्र में गुरु की अत्यधिक आवश्यकता होती है। वे वृद्धाध्यात्मिक पुरुष (पितामह) तो उसके गुरु स्वयं ही व अनजाने में ही बन गए थे, जिससे प्रेमयोगी वज्र को बिना किसी विशेष साधना के, आत्मज्ञान के केवल २० वर्षों के बाद, इतनी शीघ्रता व सरलता से कुण्डलिनीजागरण का अनुभव हो सका। प्रेमयोगी वज्र के गुरु, वे पूर्वोक्त वृद्धाध्यात्मिक पुरुष, उसके कुण्डलिनीजागरण से लगभग २० वर्ष पूर्व ही स्वर्ग सिधार गए थे। इसका अर्थ है कि उन पुराने गुरु पर भी ध्यान लगाया जा सकता है,

और उन्हें भी कुण्डलिनी के रूप में जागृत किया जा सकता है, जो कई वर्ष पहले ही मर्त्यलोक से मुक्त हो गए हों। जीवंत व्यक्ति को कुण्डलिनी बनाना तभी सफल होता है, यदि उसके भौतिक रूप के प्रति अनासक्ति विद्यमान रहे, अन्यथा उसके भौतिकरूप के सम्बन्ध से, उसका शुद्धरूप में मानसिक ध्यान करना कठिन हो जाता है। फिर भी, जीवित गुरु के ऊपर निःसंकोच ध्यान लगाया जा सकता है। इसीलिए तो गुरु के प्रति श्रद्धा व आदर का भाव बनाया जाता है, ताकि उनके भौतिक रूप के प्रति आसक्ति न उत्पन्न हो पाए। प्रेमयोगी वज्र ने तो प्रथम देवीरानी के भौतिक रूप के सम्बन्ध को भी ठुकरा दिया था, तभी तो उसके मन में देवीरानी के रूप की नित्यसमाधि लग पाई थी, जिससे उसे क्षणिकात्मज्ञान होने में सहायता मिली। यद्यपि वैसा कर पाना कठिन होता है, फिर भी अभ्यास से सरल हो जाता है। उन वृद्धाध्यात्मिक पुरुष/गुरु की संगति से ही प्रेमयोगी वज्र वैसा कर पाया था। इस तरह से हम देख सकते हैं कि व्यावहारिक जीवन में आत्मज्ञान कराने के लिए, कितनी अधिक अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, व कितने अधिक जन्मों के पुण्यों के फल की, सद्गुरु के आशीर्वाद की व दैव-कृपा की आवश्यकता भी होती है; फिर भी युक्तियुक्त व शुभ प्रयासों को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। वैसे, शविद या वेद-पुराण तो केवल अनुकूल मानसिक परिस्थितियों को ही तैयार करते हैं, भौतिक परिस्थितियों को नहीं या बहुत अल्परूप में। भौतिक परिस्थितियों की अनुकूलता के लिए तो भौतिक प्रयास करना ही पड़ेगा। वैसे तो न्यूनाधिक रूप से शविद सदैव लाभकारी है, परन्तु भौतिक प्रयासों व भौतिक परिस्थितियों की अनुकूलता के साथ तो यह सर्वाधिक लाभकारी होता है।

वियोग के बाद, समय बीतता गया, और वह देवीरानी व वृद्धाध्यात्मिकपुरुष के मानसिक चित्रों के रूप में विद्यमान कुण्डलिनी के सहारे आनन्दमय जीवन जीता गया। परन्तु लम्बे समय के बाद, प्रेमयोगीवज्रः स्वकुण्डलिनीम अर्थात् प्रथमदेवीरानीचित्रं वृद्धाध्यात्मिकपुरुषचित्रं च विस्मरन् आसीत। तद्कुण्डलिनी स्वयमेव तं यौनयोगप्रति प्रेरयन् आसीत। सः तद्प्रेरणां साधारणयौनसंबन्धं निर्मातुं प्रदत्तां अवागच्छत्, यतोहि सः यौनयोगसंबन्धे अपरिचितः आसीत। परं सः गर्भधारणभयात् समाजसंस्कृतिभयाच्च स्त्रीं अन्वेषितुम् अस्मर्थः अभवत्। अतः सः पुरुषप्रति एव आकर्षितः भूत्वा, तद्सह एव अंतरंगसम्बन्धं स्थापितुं अग्रसरः अभवत्, परं ईश्वरस्य दिव्यप्रेरणया रक्षितः येन् तद्संबन्धं सान्केतिकं एव । अनेन लेखकलिखिततन्त्रसूत्रबलेन च पर्याप्तबलं लब्ध्वा तद्कुण्डलिनी पुष्टा अभवत्। ततः कुण्डलिनीधारणेन सः अतीव कार्यक्षमः अभवत् तदुद्वाहपर्यन्तं। ततः तद्कुण्डलिनीं तद्पत्नीदेवी अर्थात द्वितीयदेवीरानी अपोषयत्। उसकी

कुण्डलिनी उसे यौनसंबंध बनाने के लिए प्रेरित व प्रोत्साहित कर रही थी, क्योंकि यौनसंबंध के विचार के साथ ही, उसकी कुण्डलिनी जगमगा जाया करती थी। इससे यह प्रतीत होता है कि तीव्र यौनेच्छा वाले अधिकाँश लोगों में, कुण्डलिनी क्रियाशील होती है, या क्रियाशील होने के लिए ललायित रहती है, और वह अपने क्रियाशीलन या जागरण के लिए, उन्हें यौनसंबंध बनाने के लिए प्रेरित करती रहती है। यद्यपि अधिकाँश लोग इस बात को समझ नहीं पाते, और उन्हें उचित मार्गदर्शन भी नहीं मिल पाता, जिससे उनमें से बहुत से, या तो यौनापराधी बन जाते हैं, या फिर वे कुण्डलिनीजागरण के लिए, यौनयोग की सहायता ही प्राप्त नहीं कर पाते।

यह एक विचित्र विरोधाभास ही है कि प्रेमयोगी वज्र को प्रथम देवीरानी के साथ अप्रत्यक्षयौनयोग से ही क्षणिकात्मज्ञान-अनुभव उपलब्ध हो पाया; जबकि द्वितीयदेवीरानी के साथ प्रत्यक्षयौनयोग से ही उसकी कुण्डलिनी जागृत हो सकी। प्राचीनतंत्र में लिखा भी है कि प्रत्यक्षयौनयोग से आत्मज्ञान सर्वाधिक सुलभ होता है। इसका अर्थ यह है कि यौनयोग आवश्यक है, अप्रत्यक्ष हो या प्रत्यक्ष। हो सकता है कि उसे प्रथम देवीरानी के साथ प्रत्यक्षयौनयोग से पूर्णात्मज्ञान (अधिक देर तक टिकने वाला या जागृतावस्था में आत्मज्ञान) मिलता, परन्तु अप्रत्यक्षयौनयोग से उसे केवल क्षणिकात्मज्ञान (स्वप्नकालिक) से ही संतुष्ट होना पड़ा। फिर भी, प्रत्यक्षयौनयोग की क्या आवश्यकता है, यदि अप्रत्यक्षयौनयोग से ही सर्वाधिक सुदृढ़ समाधि उत्पन्न हो जाए। प्रत्यक्षयौनयोग के साथ तो बहुत से विघ्न भी उपस्थित रहते हैं, विशेषतः तथाकथित आधुनिक सभ्य समाज में, जो आत्मज्ञान में रुकावट डाल सकते हैं। वैसे, आजतक यह जानने-सुनने में नहीं आया यदि स्वप्न में भी किसी को पूर्ण आत्मज्ञान हुआ हो। फिर भी, वास्तव में स्वप्नकालिक आत्मज्ञान अत्यधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें किसी बाह्य-इन्द्रिय के सहयोग के बिना ही परमानन्द मिल रहा होता है। इसलिए उसमें आनंद के लिए इन्द्रियों की व्यर्थता का सबसे अधिक पता चलता है। फिर भी, अपने व्यवहारकाल में या अन्य लोगों के लिए तो जागृतावस्था का आत्मज्ञान ही अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। स्वप्नकाल के आत्मज्ञान को तो अधिकाँश लोग केवलमात्र एक स्वप्न ही समझते हैं। यदि उसका स्वप्नकालिक आत्मज्ञान पूर्ण होता, तो उसमें आत्मज्ञान की ललक बरकरार न रहती। परन्तु उस आत्मज्ञान से उसका मन नहीं भरा था, और वह लम्बे समय तक दूसरी झलक की प्रतीक्षा करता रहा। हो सकता है कि प्रथम मामले में, उसे आत्मज्ञान के लिए प्रत्यक्षयौनसम्बन्ध इसलिए हानिकारक लगा, क्योंकि उसमें उसे तांत्रिकयौनयोग सिखाने वाले कोई तांत्रिकगुरु उपलब्ध नहीं हुए। यह सैद्धांतिकरूप से

सत्य/स्वाभाविक ही है कि तांत्रिकयौनयोगविहीन-यौनसम्बन्ध से आध्यात्मिक अवनति ही होती है।

वह पूर्वोक्त तांत्रिक इनिशिएशन-सम्बन्ध (सिने कलाकारों की तरह) भी अद्वितीय संयोगवश ही था। प्रतियोगिताएँ आदि तो विद्यालय में चलती ही रहती हैं। एतादृशायां एव एकायां दाम्पत्यप्रबंधनशिशुप्रबंधनसम्बंधितायां आयोज्यमानप्रश्नोत्तरीप्रकारप्रतिस्पर्धायां प्रेमयोगीवज्रतद्प्रियतमायुगलः अन्यान्तरलैङ्गिकयुगलसमूहसह ज्ञानयुद्धार्थम् सज्जीभूतः। सज्जाकाले एकः प्रियतमावांछिततद्विषयसम्बंधितग्रन्थः तद्याचनोपरांतम् प्रेमयोगीवज्रेन उपलब्धीकृतः। तद्सार्वजनिकप्रकाराधुनिकग्रन्थे द्वे दंपत्तिबालसंख्यानिवारकोपाये कामोत्तेजकवर्णरहितरेखाचित्रसह वर्णिते (एका सचित्रवज्रावरणविधिः एका च सचित्रनीरजावरणविधिः)। संभवतया अनेन एव उभयपक्षयोः कोमलमनमन्दिराभ्यां परस्परयौनसहमतिः कल्पिता, येन् अनुकूलतासहचरेण मानसिकयौनाकर्षणेन् शीघ्रमेव नभोच्चता स्पृष्टा। तद्परस्परमानसिकसहमतिक्षणमेव उभयपक्षमध्ये सूक्ष्माप्रत्यक्षतांत्रिकप्रारम्भक्षणम्। तत्क्षणात् सम्प्रज्ञातसमाधिपर्यंतम् यौनाकर्षणम् विवर्धमानम् सुदृढमानं च निरन्तरं। इसी बीच, एक बार अज्ञात आत्मप्रेरणा से देवीरानी ने हास्य-विनोद के साथ प्रेमयोगी वज्र को, तीसरे नेत्र को खोल कर अनर्थ ढाने की संभावना वाला त्रिनेत्रधारी भी कहा था। इससे भी सिद्ध हो जाता है कि वे दोनों ही शिव-शक्ति/ ट्विन फ्लेम (twin flame) के रूप में अवतरित थे। यह पूर्वजन्मों का एक सम्बन्ध होता है, जिसमें एक पूर्ण आत्म-ज्योति यिन व याँग (yin and yang) नामक दो विपरीत लिंग की अपूर्ण ज्योतियों में विभक्त हो जाती है, जो फिर पुनः पूर्ण होने के लिए एक-दूसरे को आकर्षित करती रहती हैं। इनको वास्तव में एक-दूसरे के अन्दर अपना पूर्णरूप दिखाई देता है। अधिकाँशतः ये आपस में भौतिक सम्बन्ध नहीं बना पाते, क्योंकि पुरुष को अपनी शिवशक्ति-प्रेमिका (twin flame-consort) में अपना ही रूप दिखाई देता है, फिर अपने आप से भौतिक सम्बन्ध कैसा? ये अधिकाँशतः मिलते व बिछुड़ते रहते हैं। ये अपनी उपस्थिति-मात्र से ही एक-दूसरे को आत्मरूप से पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। इसमें कुण्डलिनी/आत्मा के जागृत होने की अत्यधिक संभावना होती है, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र के साथ हुआ। देवीरानी अप्रत्यक्षरूप से प्रेमयोगी वज्र को त्रिनेत्रधारी कह कर, वास्तव में उसे प्रेम के साथ चिढ़ा रही थी, अर्थात अपने को भौतिकवादी व विज्ञानवादी समझते हुए, उसकी आध्यात्मिक जैसी शाँत अवस्था को प्रेम से अपमानित कर रही थी। प्रेमयोगी वज्र को इससे अपने आप को आध्यात्मिक सिद्ध करने के लिए

बहुत अधिक प्रेरणा मिली थी। इससे सिद्ध होता है कि अनाध्यात्मिकता भी यदि प्रेम-भरे हास्य-विनोद, उचित विधि व सहनशीलता के साथ हो, तो वह भी आध्यात्मिकता की सहयोगी ही होती है, क्योंकि वह आध्यात्मिकता को गति व सही दिशा प्रदान करती रहती है। प्रेमयोगी वज्र को भी एक बार, जब वह अनाध्यात्मिकता का बल, अन्य अनाध्यात्मिक पुरुषों से, उनके असहयोगात्मक रवैये के कारण नहीं मिला था, तो उसे भी स्वयं अपने आप को ही, आभासिक अनाध्यात्मिक (virtual non-spiritual) /देहपुरुष की तरह द्वैताद्वैत से पूर्ण कर्मयोगी बनना पड़ा था। कुछ वर्षों के अभ्यास के बाद उसे आवश्यक आध्यात्मिक बल मिला, और वह पूर्वोक्त क्षणिक समाधि/कुण्डलिनीजागरण को अनुभव कर पाया। उसके उन अप्रत्यक्षतांत्रिकप्रेमसंबंधों व क्षणिकात्मज्ञान के समय, अत्यधिक प्रगति का आधुनिक दौर आरम्भ नहीं हुआ था, जैसा कि पुस्तक के समर्पण-भाग में स्पष्ट किया जा चुका है। प्रेमिका (consort) का परिवेश शहरी होने के कारण, कुछ अधिक सुविधापूर्ण था। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आत्मज्ञान व समाधि पुरातन युग में ही संभव हैं, क्योंकि प्रेमयोगी वज्र को प्रत्यक्षतांत्रिकसमाधि का पूर्ण अनुभव, जैसा कि पूर्व में वर्णित किया भी जा चुका है, आधुनिकता के चरम पर होने के समय ही हुआ। उस समय वह तकनीकी आधुनिकता के चरम का पूरा लाभ उठा रहा था। अतः सिद्ध होता है कि शविद व कुण्डलिनीयोग का मिश्रण आधुनिक समय के लिए सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म-साधना है। शविद-अभ्यास व कुण्डलिनीयोग, दोनों साथ मिलकर अच्छा काम करते हैं। कुण्डलिनीयोग से भरपूर प्राणवायु मिलती है, जिससे मन को चिंतन की शक्ति प्राप्त होती है। उस चिंतनशक्ति से शविदचिंतन भी सुलभ व सुकर हो जाता है। शविदचिंतन से व्यर्थ का चिंतन भी रुक जाता है, जिससे जीवनी-शक्ति (चिंतन-शक्ति) की बहुत बचत होती है, जो बहुत आवश्यक है, क्योंकि आजकल के आपाधापी के युग में शक्ति या ऊर्जा की सदैव बहुत मांग बनी रहती है। जिस चिंतन शक्ति से काम-काज चलते हैं, उसी से शविद-प्रदर्शित द्वैताद्वैत भी सिद्ध हो जाता है।

आत्मज्ञान का विश्लेषण करने वाले आधुनिक वैज्ञानिक भी यही सिद्ध करते हैं कि अत्यधिक मानसिक क्रियाशीलता के उपरान्त, एकदम से अत्यधिक मानसिक स्तम्भन होने पर आत्मज्ञान की संभावना बढ़ जाती है। दोनों परस्पर विपरीत मानसिक स्थितियों की क्रियाशीलता के मध्य में जितना अधिक अंतर होता है, आत्मज्ञान की संभावना उतनी ही अधिक होती है। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी तो वही हुआ। उस सम्प्रज्ञात समाधि से अधिक मानसिक क्रियाशीलता क्या हो सकती है, जिसमें वस्तु का मानसिक रूप उसके भौतिक रूप से भी अधिक स्पष्ट व वास्तविक प्रतीत होता है।

प्रथम देवीरानी के वियोग के बाद भी वह उसके रूप की मानसिक समाधि को कायम रख सकता था, परन्तु परिवार व सामाजिक परिवेश के संस्कारों के कारण वैसा नहीं हुआ, क्योंकि सनातन-संस्कृति में परस्त्री को मन में बसा कर रखना पाप समझा जाता है। उससे प्रेमयोगी वज्र ने उसको पाने की आशा का भी परित्याग कर दिया, और वह पूर्ण मानसिक क्रियाशीलता के आकाश से पूर्ण मानसिक स्तम्भन के गर्त में एकदम व अचानक से गिर गया। वास्तव में प्रेमयोगी वज्र ने किसी का भी परित्याग नहीं किया, अपितु परित्याग स्वयं ही हो गया, जैसे फल पक कर वृक्ष से स्वयं ही गिर जाता है। वियोग आदि तो केवलमात्र बाहरी बहाने हैं। मन में सब कुछ स्वयं ही होता है। साधक का काम तो केवलमात्र यही है कि कुण्डलिनी का ध्यान निरंतर बनाए रखे, नियमित व निरंतर साधना से। फल की तरह, कुण्डलिनी भी पक कर स्वयं ही तैयार हो जाती है, और फिर स्वतः गिर भी जाती है। प्रगति करना प्रत्येक जीव का स्वतोस्वभाव है। पूर्णसमाधि की स्थिति अभीव्यक्त मन की सर्वोच्च अवस्था होती है। अतः यह स्वयंसिद्ध है कि समाधि से उच्चतर अवस्था केवल आत्मज्ञान की ही है। इस तरह से, समाधिस्थ पुरुष को आत्मज्ञान में प्रविष्ट होने से कोई नहीं रोक सकता, समयावधि में अंतर हो सकता है। यदि समाधि के आकाश से मनोहीनता के अभावरूपी गर्त में गिरने की बात करें, तो वह अभाव भौतिक अभाव की तरह अंधकारमय व अज्ञानमय नहीं होता है। वह गर्त तो पूर्ण द्वैताद्वैत व पूर्ण अनासक्ति के स्वरूप वाला ही होता है, देहपुरुष की तरह। वह गर्त तो प्रकाशपूर्ण, आनंदमय व शान्तरूप होता है। वह गर्त समता से परिपूर्ण व वासना से रहित होता है। मात्र यही अंतर होता है कि सम्प्रज्ञात-समाधिरूपी आकाश में कुण्डलिनी विशेष रूप से व अत्यंत प्रचंडता से प्रज्वलित रहती है, परन्तु असम्प्रज्ञात-समाधिरूपी गर्त में चारों और समानता छाई होती है। असम्प्रज्ञात समाधि का वह गर्त, इतना सुन्दर इसलिए होता है, क्योंकि उसकी कारणभूत सम्प्रज्ञात-समाधि में अनासक्ति की प्रचुरता होती है। इस गणना से तो शविद का आचरण भी सम्प्रज्ञात समाधि की तरह ही है, क्योंकि उसमें भी अनासक्ति की प्रचुरता होती है। इसीलिए शविद या पुराणों के परिशीलन या उनकी संगति के साथ विद्यमान सम्प्रज्ञात-समाधि से आत्मज्ञान की संभावना अत्यधिक बढ़ जाती है, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र के साथ भी हुआ, क्योंकि अपनी सम्प्रज्ञात समाधि के समय, वह अपने पुराण-पाठी पितामह की संगति में था। आकाश व गर्त के इसी अंतर से समाधि की प्रगाढ़ता का पता चलता है। स्वाभाविक है कि समाधि जितना अधिक प्रगाढ़ होगी, उसकी परिपक्वता से उत्पन्न आनंदमयी व शून्यरूपी गर्त भी उतना ही अधिक प्रगाढ़ होगा। तो हम देख सकते हैं कि इस तरह से विज्ञानवादी भी अप्रत्यक्ष रूप से समाधि की ही

महिमा का बखान करते हैं। रही बात नियमित व निरंतर अभ्यास की, तो इसके लिए “करो या मरो” वाला प्रण लेना पड़ता है। चाहे कैसी भी घोर परिस्थिति क्यों न आए, साधना के नियम को चालू रखना पड़ता है, बेशक बीमारी आदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अपेक्षाकृत थोड़े समय के लिए ही साधना की जाए। प्रेमयोगी वज्र को ऐन्काईलोजिंग स्पोंडीलोआर्थराईटस (ankylosing spondyloarthritis) नामक एक आनुवंशिक अस्थि-रोग भी था, जिसके साथ सुखपूर्वक व लंबा जीवन जीने के लिए, नियमित व्यायाम करना सर्वाधिक आवश्यक होता है। इस बहाने से भी प्रेमयोगी वज्र को नियमित साधना करने का बल मिला। इस तरह के कोई न कोई बहाने सभी साधकों को ढूंढ लेने चाहिए। बहानों से मन संतुष्ट हो जाता है, व सम्बंधित कार्य को प्रसन्नतापूर्वक करने लगता है। त्याग का फल भी इसी भीषण अवस्थांतरण के सिद्धांतानुसार प्राप्त होता है। प्राचीनकाल में ऋषि-मुनि आदि गुरुजन लोग राजाओं को अचानक ही राज्य का त्याग करके, ज्ञान-प्राप्ति के लिए वन में जाने को कहते थे, जिससे इसी सिद्धांत से उन्हें अधिकाँशतः आत्मज्ञान हो जाया करता था।

आजकल नशीली दवा आदि के प्रयोग से भी आत्मज्ञान व कुण्डलिनीजागरण को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। प्राचीनकाल में भी यह प्रथा प्रचलित थी, जब साधु लोग भोले शिव के नाम पर भांग का सेवन किया करते थे। संभवतः यह आदमी के मन में सर्वाधिक बैठी हुई, एक ही वस्तु की ओर निरंतर ध्यान लगाने के लिए प्रेरित करती है। इसी कारण से इससे आध्यात्मिक लाभ मिलता है। यद्यपि कोई न कोई वस्तु या व्यक्ति-विशेष, पहले से ही, मन में दृढ़ता से अवश्य बैठा होना चाहिए, तभी यह विधि कारगर हो सकती है। इसके दुष्प्रभाव भी होते हैं, जैसे कि यह स्मरणशक्ति, सोच-विचार करने की शक्ति, निर्णय लेने की शक्ति व कार्य करने की शक्ति को क्षीण करती है। साथ में, इससे कुण्डलिनीजागरण को सहन करने की, मस्तिष्क की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। कुण्डलिनीजागरण के समय, मस्तिष्क में अत्यधिक दबाव उत्पन्न हो जाता है, जिसे उचित समय तक सहन करने के लिए, योगसाधना से सुदृढ़ किए हुए, पूर्ण स्वस्थ मस्तिष्क का होना नितांत अनिवार्य है। वैसे तो कुण्डलिनीजागरण की छोटी-मोटी झलक अधिकाँश साधकों को देर-सवेर मिल ही जाती है। अब तो इनका परिष्कृत रूप भी अवसादरोधी दवाओं (antidepressants) के रूप में बाजार में उपलब्ध है, जिसे लगभग डेढ़ महीने तक नियमित खाने से, व्यक्ति लगभग सदैव के लिए रूपांतरित जैसा हो जाता है। वह रूपांतरण भी आत्मज्ञान व कुण्डलिनीजागरण से उत्पन्न रूपांतरण से मिलता-जुलता है, यद्यपि अपेक्षाकृत निम्नस्तर का व

उपरोक्त दुष्प्रभावों से युक्त होता है। इस पुस्तक की अन्य सभी उक्तियों की तरह ही, मैं यह सैद्धांतिक पक्ष भी प्रेमयोगी वज्र के अपने अनुभव के आधार पर ही लिख रहा हूँ, क्योंकि उसने भी ३५-४० दिनों तक, चिकित्सक के परामर्शानुसार, अवसादरोधी दवाओं का सेवन किया था।

यदि हम प्राकृतिक समाधि-अवस्था को लें, तो यह अन्य कुछ विशेष नहीं, अपितु उत्कट प्रेम की ही एक अवस्था होती है। प्रेमयोगी वज्र की पूर्वोक्त प्राकृतिक व अप्रत्यक्ष तांत्रिकसमाधि के समय, उसके मन-मस्तिष्क सहित पूरे शरीर में प्रेमिका (consort) के रूपाकार का समावेश हो गया था। उसे हर स्थान पर अपनी मानसिक प्रेमिका (consort) दृष्टिगोचर होती थी। प्रेमयोगी वज्र एक प्रकार से प्रेमिका (consort) के रूपाकार में पूरी तरह से ढल चुका था। लोगों को बाहर से वह कुछ और (पुरुष/प्रेमयोगी वज्र) प्रतीत होता था, परन्तु वास्तव में अन्दर से वह कुछ और (स्त्री/प्रेमिकारूप) ही होता था। वह तांत्रिक-समाधि उसके मन में कई वर्षों तक निरंतर चलती रही, लगभग २ वर्षों तक क्षणिकात्मज्ञान के पूर्व व १५- २० वर्षों तक उसके पश्चात। वास्तव में यही समाधि की परिभाषा है, यद्यपि इसके अनेक स्तर होते हैं। इसमें केवल समाधि का चित्र ही सदैव प्रमुख रूप से विद्यमान होता है, शेष सभी कुछ गौण होता है। इस समाधि को हम एकाग्रता भी कह सकते हैं। उस समाधि के समय वह सबका प्रिय व मित्र होता था। उसके चारों ओर एक दिव्य आकर्षण व हर्षोल्लास का वास हुआ करता था। प्रारम्भ में, समाधि की उत्कटता व यौन-उत्तेजना के समय तो कभी-कभी उसके मूत्रोत्सर्जन की पहली धारा कुछ श्वेत वर्ण की होती थी। उसका अर्थ था कि उसमें यौन-स्राव प्रचुरता के साथ उत्पादित हो रहा था, परन्तु वह उसका संरक्षण कर रहा था, जिससे उसकी यौन-शक्ति उसके मस्तिष्क में लगी हुई कुण्डलिनी-समाधि को सुदृढ़ कर रही थी, और कुछ शेष बचा हुआ श्वेत वर्ण, एक अपशिष्ट के रूप में त्यागा जा रहा था। उससे उसका यौन-द्रव्य, रक्त-संचार के साथ उसके पूरे शरीर में प्रसारित हो जाता था, जिसकी मनमोहक सुगंध उसके रोमकूपों से निकलकर, चहुँ ओर प्रसारित हो जाती थी। पालतु पशु (विशेषकर धेनुएँ) उससे आकर्षित होकर, ममता के साथ उसके शरीर को बार-बार सूंघकर व चाटकर प्रसन्न-विभोर हो जाते थे। गौवें तो उसके साथ सर्वाधिक विशिष्ट व मूक प्रेम दिखाते हुए, वहीं पर चरना पसंद करती थीं, जहाँ पर प्रेमयोगी वज्र उपस्थित होता था। वह स्वयं भी कई बार अपने को सूंघ कर, समाधि के गहरे आनंद में मग्न हो जाया करता था। संभवतः वही ऋषि-मुनियों द्वारा तथाकथित ओज होता है।

केवलमात्र देवीरानी का ही रूप-रंग प्रेमयोगी वज्र के मन में बस गया था। अतः सिद्ध होता है कि एक ही के ध्यान से आत्मज्ञान होता है। कहते भी हैं, “एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाए”। अतः कुण्डलिनीयोग व तंत्रयोग में भी केवलमात्र एक ही मानसिक चित्र का ध्यान करते रहना चाहिए। वह चित्र अपने अन्दर भिन्नता लिए हुए हो सकता है, परन्तु चित्र वही, एकमात्र होना चाहिए, जैसे कि देवीरानी कभी हँसते हुए, कभी गंभीर मुद्रा में, कभी भ्रमणरत, कभी एकांत में, कभी भीड़ में आदि-आदि प्रतीत हो सकती है। इसी तरह, एक ही गुरु, कभी बोलते हुए, कभी हँसते हुए, कभी हल चलाते हुए, कभी घास उखाड़ते हुए, कभी पूजा-साधना करते हुए आदि-आदि प्रतीत हो सकते हैं। इसी प्रकार, एक ही शिव, कभी पार्वती के साथ, कभी तांडव नृत्य करते हुए, कभी कैलाश में, कभी बैल के ऊपर, कभी प्रसन्न मुद्रा में, कभी क्रोधित आदि-आदि रूपों में दिखाई दे सकते हैं। कुण्डलिनीयोग में भी प्रत्येक चक्र के लिए जो एक बीज मंत्र, एक रंग, एक देवी की विशेष अवस्था व कमल की विशेष संख्या की पंखुड़ियों का रूप दिया गया है; वह केवल सूक्ष्म अंतर ही है। उनका अर्थ यह नहीं है कि चित्र बदलते रहते हैं, अपितु यह है कि एक ही चित्र सूक्ष्म भिन्नताओं के साथ रूप बदलता रहता है, ताकि बोरियत से बचा जा सके। उदाहरण के लिए, किसी एक विशेष चक्र पर, देवी को विशेष रंगों के वस्त्रों के साथ, विशेष बीजमंत्रों के साथ, विशेष मुद्रा में व विशेष कमल के साथ स्थित देखा जा सकता है। इसी तरह, भिन्न-भिन्न चक्रों पर वही एक देवी रहती है, केवल उसके हाव-भाव व सम्बंधित वस्तुएँ ही बदलती रहती हैं। अपनी प्रेमिका (consort) को कोई भी व्यक्ति तंत्र-देवी का रूप दे सकता है। यदि कोई, गुरु, देव आदि पुरुष-रूप का ध्यान करता है, तो वह अपनी गौण प्रेमिका (consort) के साथ, युगलरूप में उसका ध्यान कर सकता है। इससे उस ध्याता-पुरुष के द्वारा ध्येय-दर्शन/विजुवलाईजेशन (visualization), और अधिक सरल व प्रगाढ़ हो जाएगा, दोनों चित्रों के बीच में परस्पर यौनाकर्षण के कारण। हो सकता है कि रंगों, बीजमंत्रों आदि से ध्यान मजबूत हो जाता हो। वैसे, प्रेमयोगी वज्र ने केवल अपने गुरु, उन्हीं आध्यात्मिक वृद्ध पुरुष/that spiritual old man (पुस्तक के समर्पण भाग में वर्णित) का ही, कुण्डलिनी के रूप में ध्यान किया था; उनकी विभिन्न मुद्राओं, अवस्थाओं व जीवन-चरित्रों के साथ; शेष सभी औपचारिकताओं की उपेक्षा करते हुए। संभवतः तभी तो उसे अत्यधिक शीघ्रता से, जागृत-कुण्डलिनी के रूप में (१० सेकेंड की पूर्वोक्त समाधि) उनके दर्शन हो सके। वास्तव में अधिकाँश लोग उपरोक्त विभिन्न औपचारिकताओं में उलझ कर रह जाते हैं, और उस वास्तविक व एकाग्र ध्यान से वंचित रह जाते हैं, जो कि योग का मुख्य ध्येय है। संभवतः ये औपचारिकताएं

केवल प्राचीन युग के अत्यंत मूढ़ लोगों को ध्यान करना सिखाने के लिए ही बनाई गयी थीं। आजकल के तीक्ष्णबुद्धि लोगों के लिए, ये औपचारिकताएं केवल उलझनें ही पैदा कर सकती हैं, मेरे विचार से। एक अन्य धारणा भी शंकापूर्ण प्रतीत होती है, जिसके अनुसार एक-एकचक्र पर बारी-बारी से, कई-कई महीनों तक अभ्यास करना होता है। वास्तव में प्रेमयोगी वज्र एक साथ ही सभी चक्रों पर, प्रत्येक पर कुछ क्षणों के लिए रुकता हुआ, ध्यानाभ्यास करता था, जिससे ही संभवतः उसे शीघ्रता से फल मिला। संभवतः जिन साधकों को विशेष शक्ति चाहिए होती है, वे ही, एकमात्र चक्र पर दीर्घकाल तक ध्यानाभ्यास करते रहते हैं। उदाहरणतः विशुद्धिचक्र पर, दिव्यवाक् प्राप्त करने के लिए व हृदयचक्र पर, दिव्यप्रेम प्राप्त करने के लिए। यौनयोग में तो इतनी अधिक शक्ति प्रतीत होती है कि उससे सभी चक्रों पर एकसाथ आसानी से अभ्यास किया जा सकता है।

समाधि के बदलने के साथ मानसिक व्यक्तित्व भी बदल जाता है। मानसिक व्यक्तित्व ही वास्तविक व्यक्तित्व होता है, शरीर तो केवलमात्र एक दिखावा भर होता है। ऐसे बदलते व्यक्तित्व को आधुनिक विज्ञान मल्टिपल परसोनेलिटी डिसओर्डर (multiple personality disorder) कहते हैं। यह तो उसी तरह की सतही बात हुई, जिस तरह की बात आत्मज्ञानी को विक्षिप्त कहकर बनती है। आजकल पूर्णरूपेण कोई नहीं जान पाता कि कौन व्यक्ति आत्मज्ञानी है, व कौन नहीं, चाहे जो मर्जी वैज्ञानिक विधियाँ प्रयुक्त की जाएं। समाज में व्याप्त सत्यनिष्ठा व आपसी विश्वास से ही यह पता चल सकता है, जैसा कि प्राचीन भारत में अधिकाँशतः होता था। किसी के आत्मज्ञान पर विश्वास न करना तो मनुष्यमात्र का स्वभाव है। भगवान कृष्ण तो चमत्कारी कार्य भी करते थे, फिर भी अधिकाँश लोग उनको एक साधारण ज्ञानी तक नहीं मानते थे, अपितु एक साधारण या मूर्ख ग्वाला ही समझते थे। पहले अधिकाँश लोग, विशेषतः पाश्चात्य व वैज्ञानिक प्रकार के लोग कुण्डलिनीजागरण या आत्मज्ञान जैसे गहरे आध्यात्मिक अनुभवों को मानसिक दोष या भ्रम समझते थे, परन्तु अब वे भी इस बात को समझ गए हैं कि वे अनुभव मानसिक क्षीणता को नहीं, अपितु मानसिक तीक्षणता को प्रदर्शित व विकसित करते हैं। अब वे अनुभव भौतिक रूप से भी सत्य सिद्ध किए जाने लगे हैं।

प्रेमयोगी वज्र के मन का प्रेमिका (consort) के रूपाकार में ढलना, उसके प्रति स्वाभाविक व प्रचंड यौनाकर्षण से ही संभव हो पाया था। वह केवल खाली यौनाकर्षण नहीं था, अपितु उसमें प्रेम के सारे भाव व रस विद्यमान थे। यौनाकर्षण तो एक अतिरिक्त बल की तरह था, जिसने मानसिक प्रेम को समाधि के स्तर की, अत्यधिक दृढ़ता प्रदान कर दी थी। उसे उसमें प्रेम के सभी

मूक भाव, जैसे कि मातृत्व भाव, पितृत्व भाव, पत्नीत्व भाव, भगिनी भाव, गुरु भाव, पुरुषमित्र भाव, स्त्रीमित्र भाव, पुरुषशत्रु भाव, स्त्रीशत्रु भाव, दया भाव, हिंसा भाव, अहिंसा भाव, देवी भाव, स्वेच्छाचारिणी भाव, परित्यक्ता भाव, समर्पण भाव, आत्मसम्मान भाव, परसम्मान/ परप्रशंसा का भाव, चिंता भाव, मेहनत का भाव, लगन/निष्ठा का भाव, विज्ञानवादी भाव, भौतिकता का भाव, आध्यात्मिकता का भाव, भविष्य निर्माण का भाव, जीवन के संघर्ष/सत्य का भाव, मदमस्त भाव, शिशु भाव, पुत्री भाव, पुत्र भाव, धोखा भाव, अप्रसन्नता भाव, प्रसन्नता भाव, हास्य भाव, पराश्रित भाव, उत्तरदायित्व का भाव, आज्ञापालन का भाव, आसक्ति भाव, अनासक्ति भाव, द्वैत भाव, अद्वैत भाव, क्रोध भाव, ईर्ष्या भाव, लज्जा भाव, भय भाव, सामाजिकता-असामाजिकता भाव, स्वदेशी-विदेशी भाव, ज्ञात-अज्ञात भाव, लौकिक-पारलौकिक भाव, जीवन-मृत्यु भाव, सुख भाव, दुःख भाव, उबाऊपन का भाव, नेतृत्व भाव आदि-आदि। यह आश्चर्य की बात है कि उसे उसमें घृणा का भाव नहीं दिखा। उसमें घृणाभाव तो उसे अपने आत्मज्ञान के बाद प्रतीत हुआ। हो सकता है कि पहले भी उसका कुछ आँशिक प्रभाव रहा हो, क्योंकि बीज में वृक्ष पहले से ही होता है। वैसे भी, द्वैतयुक्त भौतिकवाद का भाव आत्मज्ञान के अद्वैतयुक्त भाव के साथ घृणा ही करेगा। आग और पानी का मेल कैसा? इससे यह भी सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान के लिए सभी भावों का प्राप्त होना आवश्यक है, यद्यपि अद्वैत के साथ। प्रेमयोगी वज्र भाग्यवान था, जो उसे सभी भाव उतनी अधिक शीघ्रता से मिले, जिससे वह अपने गुरु की निरंतर संगति से, प्रेमयोगिनी के सान्निध्य वाले उतने से थोड़े काल के लिए, अपने मन में अद्वैतभाव को स्थापित करके रख सका। भौतिकवादी युग में, अद्वैतभाव को लम्बे समय तक धारण करना कठिन हो सकता है, अतः किसी का आध्यात्मिक विकास उसके द्वारा सभी भावों को प्राप्त करने में लगने वाले समय पर भी निर्भर करता है। यह भी आश्चर्य ही है कि प्रेमयोगी वज्र ने कभी भी उसके साथ वार्तालाप नहीं किया, यहाँ तक कि उसको संबोधित करके एक शब्द भी नहीं कहा, न ही वह उससे एकांत में मिला, और न ही उसका या उसकी वस्तुओं का स्पर्श ही किया। यह उसके द्वारा अभिव्यक्त अत्युच्च कोटि का अद्वैतयुक्त व पूर्ण मानसिकप्रेम ही तो था, तभी तो उसके वियोग का भी उसे दुःख नहीं हुआ। किसी भी प्रकार के प्रेम से कुण्डलिनीजागरण हो सकता है, यद्यपि योजनाबद्ध रूपरेखा व तांत्रिक यौनाकर्षण से मिश्रित प्रेम सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। अतः सिद्ध होता है कि सब कुछ प्रेममयी ही है। उस तांत्रिकयौनाकर्षणमिश्रितप्रेम से उस ग्रामीण प्रेमयोगी वज्र व उसकी शहरी प्रेमिका (consort) के मध्य में, मानसिक रूप से अत्यद्भुत व सहयोगात्मक मित्रता उत्पन्न हो गई थी, भौतिक रूप से

कुछ भी नहीं। प्रेमयोगी वज्र अपने विद्यालय आते-जाते, प्रतिदिन प्रकृति के बीच से होकर गुजरता था। विद्यालय सहित उसके आसपास के क्षेत्र में कर्मठता, अनुशासन व मानवता का बोलबाला होता था; क्योंकि वह क्षेत्र सेना के अंतर्गत स्थित था। साथ में, उससे यह भी स्वाभाविक था कि वहाँ पर पशु-हिंसा (वैदिक विधि-विधान से बलिप्रथा) भी होती थी, जो संभवतः वहाँ की आध्यात्मिकता के साथ मिलकर, वहाँ पर छाए हुए वेदोक्त/शविदोक्त अद्वैत को उत्पन्न करती थी। अद्वैतमयी संस्कृति/आध्यात्मिकता के साथ मिश्रित होकर, छुटपुट मानवीय हिंसा भी कल्याणकारी बन जाती है। प्रेमयोगी भी वहाँ के अद्वैत को अनुभव करके आश्चर्यचकित था। चारों ओर हरे-भरे पेड़ हुआ करते थे। दूर-दराज में बिखरे हुए शाँत व भोले-भाले पहाड़ी घर हुआ करते थे। चारों ओर गहरी शान्ति छाई होती थी। कुछ दूर तक कच्ची सड़क पर चलकर, फिर उससे नीचे उतरकर, विरले व छोटे-मोटे पेड़-पौधों के साथ प्रकाशमय वनों से होते हुए, बरसाती नाले को पार करके फिर उसी सड़क के, नाले का मोड़ काट कर आए हुए हिस्से तक ऊपर चढ़ना, व उस पर कुछ दूर तक चलकर वही क्रम आगे भी उसी तरह से २-३ बार दोहराना, उसकी रोजमर्रा की जिंदगी का एक हिस्सा था। यात्रा के अंतिम पड़ाव के निकट, एक बहुत ऊंची व खड़ी पहाड़ी लांघ कर घर पहुँचना, जिसके उच्चतम से निम्नतर व कुछ समतल शिखर की दूसरी ओर, हल्की ढलान पर थोड़ा उतरकर, एक चौड़े मार्ग पर भगवान शिव व ग्राम देवता का युग्मित रूप से, एक भव्य मंदिर होता था; व फिर घर के खेत-खलिहान के काम में घर वालों की सहायता करते हुए अध्ययन भी करना, भी उस दिनचर्या में शामिल था। उस खड़ी पहाड़ी को चढ़ते हुए, उसकी एक वृद्ध व लघु दुकानदार से मित्रता हो गयी थी, जो कि पशुओं के लिए उगे हुए घास के बीच में बनी पगडंडी के ठीक सामने, एक छोटे से मिट्टी-लकड़ी के बने कमरे में बिस्कुट-टॉफ़ी आदि थोड़े से सामान के साथ बैठा होता था। वे लम्बी कद-काठी, मध्यम सौष्ठव; मस्तमौले व हँसमुख स्वभाव के धनी थे। उनके सिर पर चोटी व माथे पर बड़ा सा लाल तिलक सजा होता था। कंधे उनके थोड़े से झुके हुए रहते थे। उन्होंने साधारण प्रकार का कुर्ता-पायजामा पहना होता था। उनके स्वभाव में योगियों वाली एकलहरता, अर्थात तथाकथित टेर भी विद्यमान होती थी, जिससे समाज में उनकी छवि एक बावले भक्त के रूप में भी थी। उनकी उस यौगिक मानसिक लहर को उनके आसपास के कई लोग मनोरोग भी समझते थे। वे इसलिए भी इरादे के पक्के थे, क्योंकि उन्होंने कुछ समय के लिए सेना में भी काम किया हुआ था। मानसिक तंत्रयोग की शक्ति से प्रफुल्लित व पहाड़ी से नीचे की ओर तेजी से उड़ते हुए बालक को प्रतिदिन देखकर, वह उसको चोट लगने की आशंका से डर जाया करते थे।

एक दिन उन्होंने प्रेमयोगी वज्र को अपने कमरे में बैठाया व प्यार के साथ समझाया। साथ में उन्होंने अपने आप को भवानी माता के द्वारा दर्शन दिए जाने की एक बात भी बताई व आँखों को कुछ सफ़ेद सा करते हुए, क्षणभर के लिए ध्यानमग्न हो गए। फिर उन्होंने पूछने पर भी कुछ नहीं बताया व २-३ टोफियाँ (candies) पकड़ाते हुए, प्रेम से बहला-फुसला कर, प्रेमयोगी वज्र को चलता कर दिया। प्रेमयोगी वज्र को वे रहस्यमयी लगे। हो सकता है कि प्रेमयोगी वज्र के तद्समकालिक क्षणिकात्मज्ञान के पीछे उनका भी कुछ हाथ रहा हो। वह बस/वाहन की अपेक्षा पैदल ही यात्रा करना पसंद करता था, परन्तु थकान के कारण कभी-कभी या बीच-बीच में बस में भी चला जाता था। पैदल चलते हुए, कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार के मित्रों के साथ अपने अनुभवों को साझा करने का मौक़ा भी प्रेमयोगी वज्र को मिल जाया करता था। वे सभी मित्र भी प्रेमयोगी वज्र की तांत्रिक-तरंगों को अनुभव करके, उसके साथ प्रसन्नचित्त व हँसमुख दिखाई दिया करते थे। वैसे सारे नज़ारे उसकी प्रेमिका (consort) के मानसिक चित्र के साथ स्वतः ही जुड़ते गए। वे वृद्धाध्यात्मिक पुरुष पुराणों के जिन-जिन अद्वितीय व आनंदमयी आख्यानों का वर्णन करते थे, उन-उन से निर्मित प्रेमयोगी वज्र के मन की सुन्दरता व उन्मुक्तता पूरी तरह से प्रेमिका (consort) के ऊपर आरोपित हो रही थी, अर्थात प्रेमिका (consort) प्रेमयोगी वज्र के मन में एक प्रकार से पुराणों की दिव्य अप्सरा बन चुकी थी। अनेक प्रकार का संगीत भी देवीरानी के कोकिला जैसे मधुर स्वर के साथ जुड़कर, उसके मानसिक चित्र को पुष्टि प्रदान करता था। प्रेमिका (consort) अपने शहर के बंद, गली-गूचों/नालियों की गन्दगी से युक्त व घुटन भरे जैसे वातावरण में भी प्रसन्नचित्त व हँसमुख रहती थी, इसी कारणवश प्रेमयोगी वज्र ने एक बार अपने मित्र को बताया था कि वह कीचड़ का कमल थी। आश्चर्य की बात यह है कि प्रेमयोगी वज्र ने प्रेमिका (consort) के साथ कभी भी, सीधे तौर पर बात ही नहीं की, विद्यार्थी-समूहों के बीच में उसकी प्रेमभरी बातें सुनीं तो कई बार थीं। संभवतः इसी कारणवश, एकबार उसने सभी के सामने प्रेमयोगी वज्र को प्रेम व मधुर/तंत्रमयी हास्य से भरे हुए विनोद के साथ, कोयल के जैसी मीठी आवाज में, कमंडलु वाला बाबा कहा था। वैसे उसके हाथ में विज्ञानसम्बंधित एक कमण्डलुनुमा आकृति थी भी उस समय। कहते हैं कि मुंह से निकली हुई बात कई बार सत्य सिद्ध हो जाती है, क्योंकि प्रेमयोगी वज्र के लिए कही गई वह बात भी कालांतर में सत्य सिद्ध हो ही गई, जब उसे सच्चे बाबाओं वाले अतीन्द्रिय अनुभव प्राप्त हुए। यद्यपि आम लघुशहर-वासियों की सोच की तरह ही, कई बार शहर में कैद होने के जैसा भाव भी वह अनुभव करती थी, जो उसके मुख पर अत्यल्प

व क्षणिक झलक के रूप में प्रकट हो ही जाता था। प्रेमयोगी वज्र का कोमल मन उस समय अत्यंत करुणा से भर जाया करता था, यद्यपि अनासक्ति के साथ। प्रेमयोगी वज्र व उसकी प्रेमिका (consort) की मानसिक मित्रता से, जैसे सभी कुछ आपस में मिलकर एकरूप हो गया था। गाँव शहर के साथ, अध्यात्म भौतिकता/विज्ञान के साथ, सतोगुण रजोगुण व तमोगुण के साथ, मुक्ति बंधन के साथ, आसक्ति अनासक्ति के साथ, इन्द्रियलोलुपता इन्द्रियसंयम के साथ, अधिकार/आत्मसम्मान आत्मसमर्पण के साथ, परिश्रम विश्राम के साथ, सुविधा समस्या के साथ, सुख दुःख के साथ, चतुरता मूढ़ता के साथ, बुद्धिमत्ता बुद्धिहीनता के साथ, सौन्दर्य कुरूपता के साथ, प्रेम उपेक्षा के साथ, चाल निश्चलता के साथ व पहाड़ मैदान के साथ घुल-मिल कर, जैसे पूरी तरह से एकरूप हो गए थे। यिन (yin) और याँग (yang) एक हो गए थे। इस तरह से, सभी विपरीत भावों को एकसाथ ग्रहण करने से, अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति आसक्ति का नाश हो जाता है; जिसका (वास्तविकता का) अनुभव प्रेमयोगी वज्र को हो गया था। फिर तो यिन और याँग एक-दूसरे को तेजी से बढ़ा रहे थे। अपने मस्तिष्क में डेरा डाल चुकी यिन-ऊर्जा (देवीरानी का समाधि-चित्र) को संतुलित करने के लिए, प्रेमयोगी वज्र की याँग-ऊर्जा (उसका अपना पुरुष व्यक्तित्व) अपने आप को बढ़ा रही थी, ताकि प्रेमयोगी वज्र अपना पुरुष-व्यक्तित्व न खो बैठता और उसकी जगहसाई न होती। उसके लिए उसके मन में, उसके पुरुष-गुरु का मानसिक चित्र प्रवृद्ध हो रहा था। वास्तव में, वास्तविक लिंग-भेद तो मन में ही होता है। इस हिसाब से, यदि किसी के मन का समाधि-चित्र पुरुष-रूप है, तो वह मन/व्यक्ति स्वयं भी पुरुषरूप है, अन्यथा स्त्रीरूप। कई बार, किसी का एक समाधि-चित्र पुरुष-रूप होता है, तो दूसरा स्त्री-रूप। वैसा मन/व्यक्तित्व अधिकाँशतः तांत्रिक का होता है। ऐसी ही हालत प्रेमयोगी वज्र के मन की भी थी। वे वृद्धाध्यात्मिक पुरुष उसके पुरुष-गुरु थे, और वह प्रथम देवीरानी उसकी स्त्री-गुरु की तरह थी। दोनों ही गुरु-रूपों का समाधि-चित्र उसके मन में सदैव विद्यमान रहता था। संभवतः इसी तरह, देवीरानी के मस्तिष्क में डेरा डाल चुकी प्रेमयोगी वज्र की याँग-ऊर्जा (प्रेमयोगी वज्र का समाधि-चित्र) को संतुलित करने के लिए, देवीरानी की यिन-ऊर्जा (उसका अपना स्त्री-व्यक्तित्व) विकसित हो रही थी, ताकि वह अपना स्त्रीत्व न गवां बैठती और उसकी भी जगहसाई न होती। उसके लिए संभवतः उसके मन में भी स्त्री-रूप वाला समाधि-चित्र बन रहा हो, या प्रेमयोगी वज्र के मन की तरह ही दोनों लिंगों के समाधि-चित्र बन रहे हों। इस तरह से, धीरे-धीरे करके प्रेमयोगी वज्र के अन्दर एक अति महान पुरुष-ऊर्जा (याँग/yang) व देवीरानी के अन्दर एक अति महान स्त्री-ऊर्जा

(यिन/yin) विकसित हो गई थी। वे दोनों ही ऊर्जाएँ एक-दूसरे के प्रति महान आकर्षण उत्पन्न कर रही थीं, जिससे प्रेमयोगी वज्र की तांत्रिक समाधि कुण्डलिनी-जागरण से निर्मित समाधि से भी अधिक बलवान व स्थिर बन गई थी। वास्तव में याँग/यिन-ऊर्जा जितनी अधिक बलवान होती है, और दोनों की गहराई के बीच का अंतर जितना कम होता है, उतना ही अधिक प्रचंड आकर्षण दोनों के बीच में बना होता है, जिससे उतनी ही अधिक बलवान तांत्रिक समाधि की उपलब्धि हो जाती है। इसी यिन-याँग योग को कई स्थानों पर अप्सरा-योग के नाम से भी जाना जाता है। प्राकृतिक रूप से तो स्त्री के रूप से बनी मानसिक समाधि, पुरुष के मन में अधिकता से वांछित है, तभी तो स्त्री को सुन्दर रूप-लावण्य प्रदान किया गया है। पुरुष यौनता की ओर अपेक्षाकृत रूप से अधिक आकर्षित इसीलिए होता है, क्योंकि संभवतः वह यौनता से, स्त्री की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करता है। यद्यपि तंत्रविज्ञान में उस आकर्षण-शक्ति का प्रयोग गुरु, देवता आदि महान पुरुषों के भौतिकरूप की सहायता से उनके मानसिकरूप की समाधि लगाने के लिए किया गया है। गुरु के रूप की समाधि लगाने से तो द्विगुणित या अधिक व तीव्र फल प्राप्त होता है, क्योंकि उससे गुरु की अद्वैतमयी साधना-शक्ति के साथ-साथ, उनका सच्चा प्रेम भी प्राप्त हो जाता है।

प्रेमयोगी वज्र बचपन से ही कुछ विशेषता लिए हुए था। उसने मात्र ३ साल की अल्प आयु में ही अपने माता-पिता, दादा-दादी, परदादा-परदादी व पुरोहित पितामह के एक प्रतिष्ठित यजमान परिवार के साथ, उस समय की अति कठिन माने जाने वाली तीनों धामों की तीर्थयात्रा (उत्तराखंड वाले चतुर्थ धाम को छोड़कर) कर ली थी। उस यात्रा के अंतर्गत दो-तीन स्थानों पर, उसकी भक्ति-निष्ठा के बहुत अच्छे व अचंभित करने वाले उदाहरण देखने को मिले थे। घर से निकलते ही उसका अनवरत रूप से रुदन प्रारम्भ हो गया था, जिससे सभी लोग परेशान हो गए थे, परन्तु हरिद्वार पहुंचते ही उसका रुदन चमत्कारिक रूप से बंद हो गया था, और उसके बाद सब कुछ ठीकठाक हो गया था। इसी तरह, यात्रा के बीच में वह गंभीर रूप से बीमार भी हो गया था, परन्तु चमत्कारिक रूप से ठीक भी हो गया था। समुद्रतट पर उसने बहुत सी सीपियाँ इकट्ठी की हुई थीं, जिन्हें वह द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण के चारों ओर घूमते हुए व बड़े प्रेम से कुछ गुनगुनाते हुए, अर्धबद्ध-अंजलि से छोड़ते हुए, उन्हें समर्पित करता रहा। वह नजारा देखकर तो उस मंदिर के पुजारी भी आश्चर्यचकित व भावविभोर हो गए थे। गया में, जहाँ निरंतर शवदाह चलता रहता था, और जहाँ उस दिन एक सौभाग्यवती स्त्री का रानी की तरह सजा-धजा हुआ पार्थिव शरीर एक स्वर्णजटित डोली में ले जाया जा रहा था, वहाँ पर सामूहिक स्नान के समय वह खो गया था, और बड़ी

खोजबीन के बाद, रेतीले तट पर थोड़ी दूर, एक गड्ढे के थोड़े से पानी में नंग-धड़ंग होकर, मस्ती व खुशी के साथ, एक मेंढक की तरह नहाता हुआ मिला। एक बार उसका हाथ रेलगाड़ी के अन्दर, सीट (seat) के नीचे बने फर्श के छिद्र में ऐसे विचित्र ढंग से फँस गया था कि बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी से नहीं निकल रहा था। तभी कोई चमत्कारी व्यक्ति वहाँ आए व उसका हाथ रहस्यमयी युक्ति से बाहर निकाल दिया, जिससे सभी आश्चर्यचकित हो गए। एक बार लगभग १०-१२ वर्ष की आयु में, जब वह अपने चाचा के विवाह की बारात के साथ एक ऊंचे पहाड़ के निचले भाग पर बनी पगडंडी से गुजर रहा था, तब उसे एक पत्थरनुमा स्थान पर बैठे हुए एक वृद्ध देवता के दर्शन भी हुए थे। हो सकता है कि वे उसके पिछले जन्म के गुरु हों, जो पूर्वजन्म की साधना के प्रभाव से उसके मस्तिष्क में उजागर हो गए हों। वैसे उस पत्थर पर लोग फूल-पत्ते आदि चढ़ाते थे, क्योंकि उसके थोड़ा ऊपर एक देवता का मंदिर बना हुआ था। ये सभी बातें प्रेमयोगी वज्र के क्षणिकात्मज्ञान के पीछे के पूर्वजन्म के सम्बन्ध को दर्शाती हैं।

वास्तव में प्रेमयोगी वज्र व उसकी प्रेमिका (consort) के मध्य में मानसिक यौन-आकर्षण अकस्मात् नहीं बना था। प्रेमयोगी वज्र जन्म से लेकर ही अपने आप को कुछ विशिष्ट व ईश्वर-प्रिय जैसा अनुभव करता था। हो सकता है कि उसमें पूर्वजन्म का भी प्रभाव हो। वह अपने अति बालपन-काल से ही अपने घर पर रह रहे, दूर-पार के अनाथ-सदृश रिश्तेदार, आयु में मात्र २-३ वर्ष बड़े व नटखट-चपल बालक के साथ पला-बढ़ा था। उसे वह बहुत अधिक प्यार करता था। प्यार के साथ झूठा, नाटकीय व क्षणस्थायी लड़ाई-झगड़ा भी चलता रहता था; परन्तु प्रेम कम होने की अपेक्षा बढ़ता ही गया। प्रेमयोगी वज्र अपनी गंभीरता, चपलताहीनता व संतुष्ट-प्रकृति के चलते, बड़ों-बुजुर्गों को अधिक प्रिय होता था, यद्यपि वह दूसरा बालक अधिक मेहनती व आज्ञापालक था। उस नटखट बालक के आचरण रोमांच पैदा करने वाले होते थे। जंगल में गौवों को चराते समय वह आस-पास से लेकर दूरदराज तक के क्षेत्रों के बालकों का सरदार हुआ करता था, वैसे ही जैसे बालकृष्ण गोप-गोपियों के सिरमौर हुआ करते थे। उस बालक में लज्जा आदि के कुछ स्त्रियोचित गुण भी विद्यमान थे। वह घर से घी, गुड़, नारियल आदि खाने-पीने की वस्तुएँ ले जाकर, उन वानर-मित्रों में बाँट दिया करता था। उसके बदले में वह उन्हें अपनी अँगुलियों पर नचाता, उनसे अपनी गौवें चरवाता, उनके पशुओं को आपस में लड़वाता, उनके बीच में कुश्तियां करवाता व और भी बहुत से छोटे-मोटे करतब करवाता, जो कुछ वह चाहता। कभी-कभी तो वह उनसे चित्रविचित्र व अजीबोगरीब शरारतें भी करवाता। कभी वह उन्हें साथ ले जाकर, दूर ऊंची

पहाड़ी की चोटी पर स्थित मक्की के खेत पर धावा बोलता। वे सभी बाल-बन्दर उन्हें जंगल में ही भून कर खा जाते। कभी वह दूसरों की घासनियों में लगी बाड़ को हटाकर, उनमें अपनी गौवों को प्रविष्ट करा देता व स्वयं कहीं दूर चला जाता। कभी वह विद्यालय आते-जाते हुए, घर से बाहर गए हुए लोगों के बगीचे से केले चुरा लेता। प्रेमयोगी वज्र उसकी उन सभी लीलाओं को रोमांच के साथ देखता-सुनता रहता व दूसरों को भी सुना कर रोमांचित करता रहता। स्त्रियों का भी वह बहुत शौक़ीन हुआ करता था, और कई बार तो खेल-खेल में, उनके साथ बड़े-बड़े मजाक भी कर लिया करता था। वह बहुत चुस्त-दुरुस्त, चंचल, बलवान व चतुर होता था; परन्तु बुद्धिमत्ता के मामले में अधिकाँशतः, प्रेमयोगी वज्र से पीछे ही रहता था। प्रेमयोगी वज्र उसकी अंधी दौड़ के बीच में ऐसे-ऐसे पेच फंसाता रहता था कि वह हैरान होकर तिलमिलाता ही रह जाता था, कर कुछ नहीं पाता था। वैसे तो उस समय, आस-पास के बहुत से लोग प्रेमरोग से ग्रस्त थे, जिनमें कुछ तथाकथित अवैधसम्बन्ध के मामले भी सम्मिलित थे। लेखक को तो वह सभी कुछ, तांत्रिक प्रेमयोगी वज्र की संगति का अदृष्य व सूक्ष्म प्रभाव प्रतीत होता है। इस तरह से प्रेमयोगी वज्र के बचपन के दिन अधिकाँशतः हंसी-खेल व रोमांच के साथ बीतते गए। प्रेमयोगी वज्र को जन्म से ही कई प्रकार की बाधाओं का सामना भी करना पड़ा था, जैसे कि गंभीर व जन्मजात रोगों का प्रकोप, जिनसे उसकी निकटस्थ एक ज्येष्ठ व निकटस्थ ही एक कनिष्ठ भगिनी मुक्तलोक में प्रविष्ट हो चुकी थी। अधिकाँशतः यह होता है कि जो लोग अपने जीवन में आध्यात्मिक शिखर को छूते हैं, उन्होंने बालपन में बहुत से कष्ट व विघ्न झेले होते हैं, क्योंकि बुरी आत्माएँ व शत्रु-आत्माएँ कभी नहीं चाहतीं कि जगत का, विशेषतः उनकी घृणा/शत्रुता से सम्बंधित धर्म-बिरादरी का भला हो। इसके बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं, जैसे कि योगी श्री गोपीकृष्ण का बालजीवन। उससे, कुछ करने, सहने व आगे बढ़ने की पूरी जिम्मेदारी प्रेमयोगी वज्र के ऊपर आ गई थी। ऐसे ही अनेक कारणों से होनेवाला प्रेमयोगी वज्र का अवसाद उस नटखट बालक की चपलता को देखकर पल भर में ही छूमंतर हो जाता था। प्रेमयोगी वज्र के घर में आध्यात्मिक साधना आदि के संस्कार तो अनवरत रूप से विद्यमान थे ही, जो उसे जैसे निःशुल्क ही मिले हुए थे। उन संस्कारों के कारण ही उसका उस नटखट बालक के प्रति प्रेम सच्चा व समाधियुक्त था।

इस तरह से १०-१५ वर्षों तक साथ रहने के बाद, प्रेमयोगी वज्र व उसके घरेलु मित्र का वियोग हो गया था। वह मित्र अपना स्थायी, स्वतन्त्र व निष्कंटक जीवन बिताने के लिए अपने वास्तविक गृह की ओर अग्रसर हो चुका था। उस वियोग से पतंजलि-योगानुसार, प्रेमयोगी वज्र का

मन बहुत शाँत हो गया था। उस मित्र बालक से जुड़ा हुआ, प्रेमयोगी वज्र का अधिकाँश मानसिक संसार लगभग मृतप्राय (पूर्ण अनासक्ति/अद्वैत के साथ विद्यमान) हो गया था, यद्यपि आत्मजागरण को उत्पन्न करने वाला तांत्रिकबल उस असम्प्रज्ञात-समाधि में उत्पन्न नहीं हो सका। उसी भावपूर्ण शून्यता के बीच में, उसका परिचय प्रेमिका (consort)/पूर्वोक्त प्रथम देवीरानी से हुआ था। वह प्रेमिका (consort) उसे पूर्णतया उस नटखट बालक की तरह प्रतीत हुई। इस प्रकार से प्रेमयोगी वज्र की समाधि अकस्मात् व अनजाने में ही उस बालक के ऊपर से हट कर, प्रेमिका (consort) के ऊपर को स्थानांतरित हो गई। आदि शंकराचार्य जी ने पतंजलि-योगसूत्रों के अपने भाष्य में समाधि के स्थानान्तरण के सिद्धांत को प्रकाशित किया है। उस नटखट बालक व प्रेमिका (consort) की तरह के परम प्रिय मित्रों को साऊल मेट (soul mate) भी कहा जाता है। प्रेमयोगी वज्र की उस द्वितीय समाधि को अंतरलैंगिक आकर्षण का तीव्र तांत्रिक बल भी मिल गया था, जिससे वह पहले से भी कहीं अधिक मात्रा में प्रज्वलित हो गई थी। वैसे, प्रेमयोगी वज्र की प्रेमिका (consort) के संपर्क में आने की कहानी भी दिलचस्प है। प्रेमयोगी वज्र किसी अन्य विद्यालय में पढ़ता था। एक दिन कक्षा में, एक नौजवान अध्यापक ने उसकी लात-घूंसों से जमकर पिटाई की थी। पहली बार प्रेमयोगी वज्र की इस तरह से पिटाई हुई थी, वह भी किसी अध्यापक के द्वारा व बिना किसी ठोस कारण के। प्रेमयोगी वज्र हताश हो गया और उस कक्षा की परीक्षा के बाद उसने विद्यालय ही बदल दिया, जहाँ पर उसका प्रेमिका (consort) के साथ मानसिक-परिचय हुआ। वैसे, विद्यालय छोड़ने के कुछ अन्य कारण भी थे। सबसे बड़े गुरु तो प्रेमयोगी वज्र को वे अध्यापक महोदय लगते हैं, जिन्होंने उसे सही व सीधा रास्ता दिखाया।

गुरु के मामले में भी भ्रम की सी स्थिति बनी रहती है। जो वस्तु-भाव मन में बैठ जाए, वही गुरु होता है। बलपूर्वक गुरु बनाने से भला क्या लाभ हो सकता है, विशेषकर पहले से ही मन में बैठे हुए गुरु को छोड़कर? गुरु के रूप में कुण्डलिनी का जागरण तभी हो सकता है, यदि गुरु के जीवन-चरित का अच्छी तरह से, हृदय से अनुभव हो। ऐसे में, किसी का गुरु, उसके पितामह से अधिक अच्छा भला क्या हो सकता है। अधिकाँश लोग घर के उजाले को छोड़कर, बाहर के अँधेरे में भटकते रहते हैं। श्राद्ध मनाने के पीछे भी तो यही रहस्य छिपा हुआ है। जब लोगों को अपने पूर्वजों के इन्द्रियातीत जीवनचरित्र को, अपनी कुण्डलिनी के रूप में जागृत करने का अधिकार है, तब उन्हीं का यह कर्तव्य भी बनता है कि वे उनके प्रति कृतज्ञता को भी प्रकट करें। उसी कृतज्ञता को प्रकट करने की विधि को ही श्राद्ध कहते हैं। श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि अवतारी पुरुष भी तो विशेष व

आकर्षक जीवन-चरित्र दिखाने के लिए ही प्रकट होते हैं। इसीलिए, यदि मुक्तिकारक ध्यान लगाने के लिए जीवन-चरित्र की नहीं, अपितु केवल देह-चित्र की ही आवश्यकता होती, तो वे अवतारी पुरुष केवल अपना सुन्दर मुख ही प्रदर्शित करते, अपने मनमोहक व आकर्षक जीवन-चरित्र को न दिखाते। तीर्थों में भी तो इसी कारण से महापुरुषों के जीवनचरित्र-स्थान बने होते हैं, जहाँ पर घूमना भी अत्यावश्यक होता है। अपने आप से सम्बंधित जीवन-चरित्र का आश्रय लेने से, एक लाभ यह भी होता है कि उससे ध्यान अच्छा व लगातार बना रहता है। इसीलिए, अवतारों के जीवन-चरित्र में, लगभग हर प्रकार के क्षेत्रों का समावेश होता है, जैसे कि श्रीकृष्ण सभी विद्याओं व कलाओं में पारंगत थे। जब कबूतर, बादल आदि २४ प्रकार के सजीव व निर्जीव पदार्थ ऋषि दत्तात्रेय के गुरु हो सकते हैं, तो मानवसदृश सजीव देहपुरुष हमारे गुरु क्यों नहीं हो सकते? वास्तव में गुरु प्रत्येक स्थान पर सदैव उपलब्ध हैं, केवल आँखें खोलने की आवश्यकता है मात्र। इसी तरह से, लोग चित्र-विचित्र मूर्तियाँ बना लेते हैं, और ध्यान उनका करते नहीं। अद्वैत का कुछ लाभ तो उनसे मिल जाता है, परन्तु समाधि का पूर्ण लाभ नहीं मिलता, या बहुत देर से व अनुकूल परिस्थितियों की सहायता से ही मिलता है। संभवतः इसीलिए अधिकाँश मंदिरों में, देवमूर्तियों के साथ-साथ कुछ उन सम्बंधित ज्ञानी वृद्ध-पूर्वजों की मूर्तियाँ भी लगाई जाती हैं, जिनके साथ, सम्बंधित आम लोगों ने जीवन बिताया हुआ होता है। इससे उनमें अच्छे से ध्यान लगता है, और शीघ्रतापूर्वक फलदायी भी होता है। साथ में, उनसे भी (यदि उनका वास्तविक जीवन-चरित्र भी अद्वैतमयी रहा हो) या अन्य देवमूर्तियों से अद्वैतलाभ की प्राप्ति भी होती रहती है। इस तरह से, शविद के सिद्धांतानुसार ही, अद्वैत व कुण्डलिनी एक-दूसरे को पुष्ट करते रहते हैं। इसी सिद्धांतानुसार ही तो वैदिक कर्मकांडों व अनुष्ठानों के बीच-बीच में, प्राणायाम व ध्यान आदि का नियम बना हुआ है। वैदिक क्रियाकलाप अद्वैतभाव को पुष्ट करते हैं, जिससे कुण्डलिनी भी पुष्ट होती रहती है। प्राणायाम व ध्यान से कुण्डलिनी को अतिरिक्त बल मिल जाता है, क्योंकि उनसे कुण्डलिनी पर ध्यान एकाग्रित हो जाता है। यदि उन वैदिक क्रियाकलापों के साथ शविद का भी अनुशीलन किया जाए, तो चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न हो सकता है। यदि कोई चाहे, तो केवल शविद से भी काम चला सकता है। वैदिक क्रियाकलापों में प्राणायाम-ध्यान गौण होते हैं, जबकि कुण्डलिनीयोगसाधना में मुख्य। यह भी सत्य प्रतीत होता है कि जीवन में गुरु का होना अत्यावश्यक है। वास्तव में, जब-जब भी शविद आदि के कर्मयोग से मन में अद्वैतभाव छाता रहता है, तब-तब उन गुरु का चित्र मनमंदिर में बसता या दृढ़ होता रहता है। वैसा इसलिए होता है,

क्योंकि वे गुरु भी अद्वैतसाधना में लीन रहने वाले होते हैं। साथ में, वे वृद्धावस्था के निकट भी होते हैं, जिन्होंने जीवन के सारे अनुभव ले लिए होते हैं, अतः वे स्वतः ही अनासक्त भी होते हैं। शिक्षक तो कोई भी हो सकता है। गुरु व शिक्षक के बीच में अंतर है। गुरु अधिकाँशतः एक ही होता है, परन्तु शिक्षक तो बहुत सारे भी हो सकते हैं। वही गुरु साधक की कुण्डलिनी के रूप में भी होता है। यहाँ पर कुण्डलिनी का अर्थ, सर्वाधिक दृढ़/स्पष्ट/प्रिय/बार-बार उजागर होने वाला मानसिक चित्र ही है। हो सकता है कि लम्बे समय के बाद गुरु बदल जाए, परन्तु एक समय में तो एक ही गुरु होता है, जैसे एक समय में एक ही मन होता है। यह भी हो सकता है कि पूर्वोक्तानुसार दो अंतरलैंगिक तांत्रिक चित्र या बहुत सारे सुदृढ़ मानसिक चित्र मन में बसे हुए हों, जो परस्पर एक-दूसरे को पुष्ट कर रहे हों, परन्तु उनमें मुख्यतम तो एक ही होता है, जैसे कि प्रेमयोगी वज्र के लिए मुख्यतम मानसिक चित्र उन वृद्धाध्यात्मिकपुरुष का ही था। प्रेमयोगिनी के रूप वाला मानसिकचित्र दृढ़ तो सर्वाधिक था, परन्तु वास्तव में वह मुख्यतम मानसिकचित्र का सहयोगी ही था, और उसे ही संबल प्रदान कर रहा था। वैसा इसलिए था, क्योंकि प्रेमयोगी वज्र के मुख्यतम मानसिकचित्र का भौतिकरूप अपनी अद्वैतसाधना के बल से अत्यधिक प्रभावशाली था, और प्रेमयोगी वज्र उसके साथ गुरुवत आदरभाव के सहित सर्वाधिक भौतिक संपर्क में रहा। अतः सारी मानसिक शक्ति वही खींचता गया। यही तो गुरु की दिव्य महिमा है। वास्तव में, सबसे प्रिय शिक्षक व मित्र को ही तो गुरु कहते हैं। गुरु मित्र व शिक्षक, दोनों ही रूपों में एकसाथ होता है।

आत्मज्ञान होने के बाद भी प्रेमयोगी वज्र को आत्मज्ञान होने का भान तो था; परन्तु वह उसे निरंतर, प्रचंड व व्यावहारिक नहीं बना पा रहा था। वह निष्क्रिय व असहाय जैसा रहता था। मानो जैसे कि वह प्रकृति के दिव्य नियम-कानूनों के प्रति अपने आप को पूर्णरूपेण समर्पित जैसा कर चुका था। उसे अनुभव होता था कि प्रेमिका (consort) के साथ प्रत्यक्षतांत्रिकसम्बन्ध बनाने से ही उसका आत्मज्ञान पूर्णतया सुदृढ़ हो पाता। उसे उस समय कोई पूर्णसिद्ध तांत्रिक गुरु भी उपलब्ध नहीं हो सके। उससे व अन्य अनेक सामाजिक, साँस्कृतिक, धार्मिक, पारिवारिक, आर्थिक, व्यक्तिगत व व्यावहारिक समस्याओं के कारण जब उसे जीवन की कोई भी स्पष्ट व सकारात्मक राह नहीं दिखाई दी; तब उसने शरीरविज्ञान दर्शन की रचना की। इस दर्शन ने प्रेमयोगी वज्र की अँधेरी गलियों को रौशनी से चकाचौंध कर दिया। अप्रत्यक्षप्रेमिका (indirect consort) से क्षणिकात्मज्ञान होने के उपरांत, प्रेमयोगी वज्र अपने में एक ही कमी महसूस करता था। वो यह कि क्षणिकात्मज्ञान यदि स्वप्नावस्था की अपेक्षा जागृतावस्था में होता, तो अधिक अच्छा होता।

संभवतः इसी कमी के कारण, अप्रत्यक्षप्रेमिका (indirect consort) के साथ प्रत्यक्षतांत्रिकसम्बन्ध बनाने का उसका बहुत अधिक मन करता था, परन्तु अनेक सामाजिक बाध्यताएं विद्यमान थीं। क्योंकि उसके चित्त में अपनी प्रेमिका (consort) व उन वृद्धाध्यात्मिकपुरुष, दोनों के चित्र अत्यधिक दृढ़ता के साथ जमे हुए थे, अतः प्रेमिका (consort) के साथ प्रत्यक्षतांत्रिकसम्बन्ध से उसके चित्त में, उन वृद्धाध्यात्मिकपुरुष के रूप की समाधि लगने की सम्भावना अत्यंत प्रबल थी। उस समाधि से उसकी उपरोक्त अनुभूतन्यूनता पूर्ण हो जाती, क्योंकि उससे उसके स्वप्नकाल के क्षणिकात्मज्ञान का अद्वैत उसकी जागृतावस्था की समाधि के अद्वैत के ऊपर आरोपित हो जाता। वास्तव में, प्रेमयोगी वज्र की वह कमी लगभग २०- २२ वर्षों के बाद, द्वितीय प्रेमिका (consort) के सहयोग से पूरी हुई (१० सेकेंड की वह पूर्ववर्णित समाधि)।

विज्ञान के अध्ययन के दौरान जब प्रेमयोगी वज्र रंगीन चित्र बना कर, विषय को अत्यधिक स्पष्ट व रोमांचकारी कर देता था, तो उसे कुण्डलिनी के पुष्ट होने का व उसके ऊर्ध्वगमन का अनुभव होता था। यह रंगीन-चित्रों की परम्परा तो कुण्डलिनीयोग में प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। इसी तरह से, प्रतिदिन आते-जाते समय, बस के अन्दर बज रहे गानों से भी उसे कुण्डलिनी का विकास अनुभव होता था; और साथ में वह बहुत ही रोमांचित, संयमित व संतुलित हो जाता था। इसका सीधा सा अर्थ है कि कुण्डलिनीयोग के पश्चात व प्रारम्भ में संगीत लाभकारी होता है। कुण्डलिनीयोग के समय, केवल संगीत या अन्य अपरिचित भाषाओं में संगीत को सुनना अधिक लाभकर प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसे संगीत से ध्यान के विरुद्ध काम करने वाला शाब्दिक व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। समाधि अवस्था की शुरुआत के साथ ही प्रेमयोगी वज्र का तीनों कालों से सम्बंधित, अर्थात सभी प्रकार का अनुभव कुण्डलिनी के साथ जुड़ना शुरु हो गया था। वैसे समाधि के भी, ध्यान की प्रगाढ़ता के अनुसार विभिन्न स्तर होते हैं। इस पुस्तक के पूर्वभाग में जिस १० सैकेंड की समाधि का वर्णन किया गया है, वह वास्तव में पूर्ण-समाधि थी, जिसे अधिक देर तक सहन नहीं किया जा सकता। उसे कुण्डलिनी का जागरण भी कहते हैं। वैसी पूर्णसमाधि आत्मज्ञान का ही एक निम्नतर रूप होती है। प्रथम देवीरानी के मानसिकचित्र के साथ, लगभग एक साल तक वह प्रबल तांत्रिक समाधि-अवस्था बनी रही। उस एक साल के दौरान, भौतिक/स्थूल रूप में भी प्रथम देवीरानी निरंतर रूप से प्रेमयोगी वज्र को उपलब्ध होती रही, यद्यपि उसने उसे सीधे तौर पर कभी भी विशेष अहमियत नहीं दी, अपितु उसकी सहायता से उसके मानसिक रूप की तांत्रिक समाधि को ही अपने मस्तिष्क में स्वतःप्राप्त अप्रत्यक्ष/मानसिक तंत्र से पुष्ट होने दिया। उसके बाद

उन दोनों का वियोग हो गया। उससे कुण्डलिनी शिथिल होती गई व साथ में उससे जुड़ा हुआ त्रिकालगत संसार भी। इस तरह एक साल से कम समय में ही, वह कुण्डलिनी तंत्र-गुरु की संगति से शून्य हो गई व साथ में उससे जुड़ा हुआ संसार भी। प्रेमयोगी वज्र के मन में पूरी तरह से आनंदमयी शून्यता छा गई। तंत्र-गुरु की स्वाभाविक संगति से ही वह आनंदमयी शून्यता कुछ महीनों तक कायम रह सकी, अन्यथा साँसारिक माया-मोह के आकर्षण से नष्ट हो गई होती। वह आनंदमयी शून्यता विचित्र व अलौकिक थी, क्योंकि सारा संसार पहले की तरह ही अनुभव हो रहा था, परन्तु वह निष्प्रभावी जैसा था, व उत्कट इच्छा (क्रेविंग) पैदा करने वाला न था। उस दौरान के अनुभव, साधारण काल के अनुभवों से कहीं ज्यादा तीव्र, स्पष्ट व मजबूत थे, यद्यपि तार्किक (लौजिकल)/द्वैतपूर्ण नहीं थे, व इच्छा पैदा करने वाले भी नहीं थे। सभी अनुभवों में समानता-एकता प्रतीत होती थी।

उसी शून्यता के बीच में प्रेमयोगी वज्र को क्षणिकात्मज्ञान/ऐनलाईटनमेंट (glimpse enlightenment) हुआ था। वह उसका वर्णन अपने शब्दों में इस प्रकार करता है, "मैं मीठी निद्रा में एक स्वप्न देख रहा हूँ कि मैं अपने घर से लगभग २०० मीटर नीचे, घाटी की नदी के ऊपर बने हुए एक पुल पर खड़ा हूँ। मैंने अचानक अपने को पूरा खुला हुआ अनुभव किया और मेरी अन्धकार से भरी आत्मा में अचानक प्रकाश छा गया। ऐसा लगा, जैसे कि मेरी आत्मा एक जकड़न से मुक्त हो गई। मेरे मन का प्रकाश जैसे मेरी आत्मा में फैल गया था। मैंने नदी में बहते जल को देखा। वह वैसे ही रंग-रूप का था, जैसा कि होता है, परन्तु वह मुझे अपनी आत्मा व पुल से अलग नहीं लग रहा था। पुल भी वैसा ही था, पर अनुभव-रूप में मेरी आत्मा व नदी-जल से अलग नहीं था। नदी के दूसरी ओर, सामने एक पहाड़ था, जिसका लगभग २० मीटर का मलबा, कई दिनों पहले, निरंतर हो रही भारी वर्षा के कारण गिरकर, नदी को संकरा किए हुए था। वह चमत्कारिक रूप से सीधे ही नीचे फिसला था, जिससे उसपर उपस्थित सभी पेड़-पौधे भी जीवित व सुरक्षित थे। उपरोक्त दिव्य, विचित्र व आत्मज्ञान से भरे स्वप्न में; मैंने उसकी ओर भी देखा, तो उस सब का अनुभव भी अलग नहीं था। फिर मैंने आसमान में चमकते हुए महान सूर्य को देखा। उसका अनुभव भी सभी के जैसा था, और यहाँ तक कि चमक भी सभी के जैसी ही थी। इस सारे घटनाक्रम का अनुभव लगभग ५-१० सैकेंड में ही हो गया था। उस समय मैं परमानंद से ओत-प्रोत था। मुझे उस अनुभव में वह सभी कुछ मिल गया, जो कि मिलना संभव है। उन चंद क्षणों के लिए, मानो कि मैं संपूर्ण सृष्टि का राजा बन गया था। उस अनुभव में रात और दिन जुड़े हुए थे। उस अनुभव में प्यार-घृणा, दोनों

जुड़े हुए थे। इसका अर्थ है कि उस अनुभव में सभी कुछ विद्यमान था। वह एक पूर्ण अनुभव था। उस पूर्ण अनुभव-सागर में लग रहा था कि जैसे नदी, पुल, सूर्य, पहाड़ आदि के रूप में लहरें उठ रही थीं, जोकि उस एकमात्र अनुभव सागर (आत्मा) से अलग नहीं प्रतीत हो रही थीं। अगली सुबह जब मैं शय्या से ऊपर उठा, तो अपने को पूर्ण, पूर्णकाम, आप्तकाम, नवजात-बालक सदृश, तनाव-रहित, शाँत, आनंदमय, इच्छाहीन पाया, व अपने को अपने स्वाभाविक आत्मरूप में महसूस किया। ऐसा लगा, जैसे कि मैंने अपने आप को अब वास्तविक रूप में पहचाना है, और अज्ञात समय से चली आ रही जिंदगी की दौड़ को पूरा कर लिया है। ऐसा लगा कि घर से भटका हुआ, मैं अपने वास्तविक घर में पहुँच गया हूँ। उस अनुभव ने मेरे जीवन को एकदम से, पूर्णतया व सकारात्मक रूप से परिवर्तित कर दिया"।

आमतौर पर हमारा व्यक्तित्व, एक अँधेरे कमरे में चल रहे एक दूरदर्शन यंत्र/चलचित्रपट (theatre screen) की तरह होता है। इस दृष्टांत में आत्मा को अँधेरे कमरे की उपमा दी गई है, और मन को दूरदर्शन/चलचित्रपट की। वैसी अवस्था में, आत्मा (अँधेरा कमरा) व मन (प्रकाशमान दूरदर्शन/चलचित्रपट) के बीच में भिन्नता दिखाई देती है। परन्तु जब अँधेरे कमरे में विद्युत प्रकाशक (electric bulb) जला दिया जाता है, तब कमरे (प्रकाशयुक्त) व दूरदर्शन/चलचित्रपट (प्रकाशयुक्त) के बीच में कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होती। वे दोनों, एकसमान रूप से प्रकाशपुंज ही प्रतीत होते हैं। उसी तरह जब आत्मज्ञान होता है, तब अँधेरी आत्मा (अपना आप/ गहरी नींद के जैसी अवस्था/जड़ अवस्था में या संकल्प-विकल्प रहित अवसाद की अवस्था में, अपना अन्धकारपूर्ण आपा) में प्रकाश छा जाता है। उससे आत्मा और मन, दोनों एक जैसे ही, प्रकाशरूप प्रतीत होते हैं। वैसा ही प्रेमयोगी वज्र को अनुभव हुआ। वास्तव में वह प्रकाश, कमरे व दूरदर्शन/चलचित्रपट के प्रकाश की तरह साधारण प्रकाश नहीं होता, अपितु परमचेतनामयी व परमानंदमयी प्रकाश होता है। उपमा तो केवल समझाने के लिए दी गई है। इस तरह से, मुख्य व प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथों में ब्रम्ह का जैसा वर्णन आता है, प्रेमयोगी वज्र को वह पूर्णतः वैसा ही प्रतीत हुआ। वास्तव में सभी बुराइयाँ हमें अपनी अन्धकारपूर्ण आत्मा के रूप में अनुभव होती हैं। इसी तरह से सभी अच्छाइयाँ हमें अपनी चित्तवृत्तियों के रूप में अनुभव होती हैं। आत्मज्ञान में हमें अपनी आत्मा व चित्तवृत्तियाँ एक जैसी व एकाकार रूप में अनुभव होती हैं। तभी तो उपरोक्तानुसार ऐसा अनुभव होता है कि उस अनुभव में सभी विरोधी भाव इकट्ठे हो गए हैं। किसी भी ज्ञान/वस्तु/कर्म/फल की अभिव्यक्ति का आधार चित्तवृत्तियाँ ही तो हैं। जिस समय आत्मा

जागृत होती है, उस समय सभी चित्तवृत्तियाँ उससे अलग नहीं, अपितु उसी की विविध आकार-प्रकार की हलचलें जान पड़ती हैं, जैसे कि सागर में विविध प्रकार की तरंगें। इसी कारण से प्रेमयोगी वज्र को लगा कि उसने सभी कुछ पा लिया था, व सभी कुछ कर लिया था।

आजतक यह जानने में नहीं आया कि स्वप्न में भी किसी को पूर्ण आत्मज्ञान हुआ। वास्तव में जीवन जीने का पूरा व सही तरीका आत्मज्ञान के बाद ही सीखने में आता है। आत्मज्ञान से व्यक्ति शाँत, समझदार व प्यारा बन जाता है। अधिकाँश लोग आत्मज्ञान को किसी विशेष दृष्टिकोण से देखते हैं, जैसे कि वह प्रकाश ही प्रकाश है, या आनंद ही आनंद है, या उसमें दोनों हैं, या उसमें सकारात्मकता व चेतनता के सभी गुण हैं। आश्चर्य तो तब होता है, जब अनुभव के समय आत्मज्ञान में सभी गुण, यहाँ तक कि विरुद्ध गुण भी एकसाथ प्रतीत होते हैं। उसमें प्रकाश भी है, व अन्धकार भी; आनंद भी है, व दुःख भी; सकारात्मकता भी है, व नकारात्मकता भी; चेतनता भी है, व जड़ता भी आदि-आदि। वह विचित्र है। उसमें सभी कुछ है। वास्तव में वह मिलता तो सकारात्मकता से ही है, परन्तु सकारात्मकता के प्रति भी आसक्ति-मोह नहीं होना चाहिए, तभी मिलता है। आत्मज्ञान इतना सस्ता नहीं है कि किसी विशेष विचारधारा से चिपक कर उसे प्राप्त किया जाए। उसे कोई, अन्य पुरुष को प्रदान भी नहीं कर सकता, केवल उसकी ओर की दिशा को ही दिखा सकता है। आत्मज्ञान तो आत्म-अज्ञानियों के लिए वैसा ही है, जैसा कि एक हाथी अंधों के लिए। कोई अंधा पूंछ पकड़कर हाथी को खम्बे जैसा बताता है, तो कोई कान पकड़ कर केले के पत्ते जैसा। यह धारणा भी प्रचलित है कि आत्मज्ञान के बाद पुरुष लोक-परलोक आदि के बारे में सभी कुछ जान जाता है, व उसमें बहुत सी शक्तियां आ जाती हैं। वास्तव में ऐसा कुछ नहीं होता। वह सभी कुछ अप्रत्यक्षरूप से जानता है, न कि प्रत्यक्ष रूप से। वह केवल अपने आप को जान जाता है, अपने असली रूप को जान जाता है, और साथ में यह भी जान जाता है कि सभी कुछ मेरे अपने रूप की ही झलकें हैं, बाकी कुछ नहीं। उदाहरण के लिए, प्रेमयोगी वज्र को सिनेमाघर में हिट मूवी (hit movie) देखकर उस क्षणिकात्मज्ञान की चकाचौंध का कुछ अतिक्षुद्र सा स्मरण हो आता था। उसी तरह से, चकाचौंध वाले अन्य साँसारिक अनुभवों से भी, उसमें क्षणिकात्मज्ञान का कुछ अत्यल्प सा प्रभाव छा जाता था। वह किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं जान जाता, अपितु उसे मिथ्या संसार के बारे में उत्तर पाने की जिज्ञासा ही नहीं रहती, अर्थात उसके सारे प्रश्न ही समाप्त हो जाते हैं। शविदप्रेमी के मन में भी कोई प्रश्न नहीं रहता है। जब उसके शरीर में ही सब कुछ होता है, तो प्रश्न किस बात का? वैसे भी वह महान देहपुरुषों का उपासक होता है, जिनमें कोई भी प्रश्न नहीं होता।

स्वतः व मानवीय रूप से जो कुछ भी होता है, वह उसे होने देता है, और प्रसन्न रहता है। इसका अर्थ है कि शविद में आत्मज्ञान के समतुल्य शक्ति है। उसमें कोई भी शक्ति नहीं आती। वह औरों की तरह ही, पहले जैसा एक मनुष्य रहता है। कई बार उसके द्वारा कही गई या सोची गई बात सत्य भी सिद्ध हो जाती है, वह इसलिए नहीं कि वह दुनिया को बदलने की शक्ति रखता है, अपितु इसलिए कि भविष्य की घटनाएँ कई बार उसके मन में अप्रत्यक्ष रूप में (अर्थात उसके जाने बिना ही) समयपूर्व ही संकेत रूप में प्रकट हो जाती हैं। फिर भी इसमें कुछ संदेह है कि क्या आत्मज्ञानी के मुख से, भविष्य में स्वतः होने वाली घटना के सम्बन्ध में, स्वतः ही शब्द निकलते हैं, या उसके द्वारा बोले गए शब्द कालान्तर में सत्य हो जाते हैं? यदि होनी ही प्रबल हुआ करती, तो लोग आत्मज्ञानी-साधुपुरुषों के आशीर्वाद के लिए क्यों ललायित रहा करते? संभवतः तभी तो, किसी भी मनुष्य से शत्रुता न मोल लेते हुए, सभी मनुष्यों की सेवा में तत्पर रहने के लिए शास्त्रों में कहा गया है। इस मामले में यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है, "न जाने किस रूप में, नारायण मिल जाएं"। वैसे वह अत्यधिक सहनशील होता है, और कुछ बोलने से बहुत बचता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक बोलने से भी पुष्टता को प्राप्त कुण्डलिनी क्षीण होती रहती है, विशेषकर अहितकारी बोलों से, यद्यपि कुण्डलिनी को जगाने के लिए तो व्यावहारिकता व अद्वैत में रह कर बोलना भी पड़ता है। लिखित माध्यम से संकल्पाभिव्यक्ति से कम क्षीण होती है। वैसे अति होने पर ही, उसके मुख से या कलम से, बिना क्रोध व विकार के ही, द्वयर्थी शब्द निकल सकते हैं, जो सच्चे मन वाले को लाभ व कपटी मन वाले को हानि पहुंचा सकते हैं। वह छोटी-मोटी व स्वार्थपूर्ण इच्छा कभी नहीं करता, अपितु सबके कल्याण की, वैश्विक (worldly) या ब्रम्हांडीय (universal) इच्छा ही करता है। वास्तव में, आत्मज्ञान एक प्रकार का ऊर्जा-तालाब (energy sink) ही है, जो कुण्डलिनी-ऊर्जा को अवशोषित करता है। अपनी कुण्डलिनीमिश्रित मानसिक ऊर्जा के उफान में होने पर, प्रेमयोगी वज्र आध्यात्मिक विषय वाले सोशल मीडिया (social media) से जुड़ गया था, और वहाँ पर उसने घोषणा कर दी थी कि वह कुण्डलिनी के रहस्य का पता अवश्य लगाएगा। उससे उत्पन्न तीव्र इच्छा से, उसकी विशाल मानसिक ऊर्जा, उसकी व्यर्थ की बातों या व्यर्थ के अभियानों आदि में नष्ट होने से बची रही, और उसकी कुण्डलिनी के उत्थान में लगी रही। फिर कालान्तर में कुण्डलिनीजागरण के साथ, उसकी वह संचित कुण्डलिनी-ऊर्जा एकसाथ बाहर निकल गई। संचित मानसिक-ऊर्जा में बहुत अधिक शक्ति होती है। उसके उफान के समय बोली गई बातें अधिकाँशतः सत्य सिद्ध हो जाती हैं, इसलिए बहुत सावधान रहना पड़ता है। उस मानसिक-ऊर्जा के बाहर

निकलने का अर्थ है कि महान कुण्डलिनी के दर्शन के आगे वह संचित ऊर्जा-भण्डार फीका पड़ गया, जैसे दीपक के आगे जुगनू फीका पड़ जाता है। कुण्डलिनीजागरण से भी बड़ा ऊर्जा-शोषक (energy sink), आत्मज्ञान होता है। वह जागृत कुण्डलिनी से भी महान होता है, अतः उसको भी सोख लेता है। प्रथम देवीरानी के रूप की अतिक्रियाशील कुण्डलिनी को प्रेमयोगी वज्र के क्षणिकात्मज्ञान ने ही सोखा था। देवीरानी की कुण्डलिनी ने प्रेमयोगी वज्र का सभी कुछ भक्षण कर लिया था, फिर बाद में प्रेमयोगी वज्र के आत्मज्ञान ने उसका भी भक्षण कर लिया। यद्यपि वह आत्मज्ञान अपूर्ण व क्षणिक था, इसलिए कुण्डलिनी को पूरी तरह से नहीं मिटा पाया था। अतः धीरे-धीरे उस कुण्डलिनी की शक्ति बढ़ती रही, और वह प्रचंड हो गई। उस शक्ति को उतारने के लिए, उसके द्वारा पूर्वोक्त जगद्हितैषी एकश्लोकी शविद अनायास ही उद्भूत हो गया। यह भी हो सकता था कि यदि वह जल्दबाजी में कुण्डलिनीशक्ति को शक्तिशाली वचनों-लेखनों आदि से न उतारता, तो वह कालान्तर में पूर्णात्मज्ञान के रूप में विस्फुटित हो जाती, परन्तु प्रकृति को कुछ और ही मंजूर था।

आत्मज्ञान से यह पूर्णतः ज्ञात नहीं हो जाता कि क्या उचित है, व क्या अनुचित। वह तो पूर्ण विश्वास के साथ, एकमात्र यही बात जानता है कि मानवता का ही पक्ष लेना चाहिए, अमानवता का नहीं। क्या मानवता है, और क्या अमानवता, इस का निर्धारण तो वह अपनी सीमित बुद्धि व अनुभव के आधार पर ही तय कर सकता है, जिससे निर्धारण के स्तर में न्यूनाधिकता होना तो स्वाभाविक ही है। ऐसे व्यावहारिक अनुभव तो साँसारिक क्रियाशीलता व संपर्कों से धीरे-धीरे बढ़ते रहते हैं। आत्मज्ञानी को तो केवल इस बात का पता चलता है कि काम करने का कौन सा तरीका उचित है, और कौन सा अनुचित। अर्थात उसे उचित दृष्टिकोण (अनासक्ति व द्वैताद्वैत/अद्वैत) की महिमा का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इसी तरह, आत्मज्ञानी लोग किसी भी स्वभाव के हो सकते हैं। स्वभाव को अधिकाँशतः प्रकृति व समसामयिक परिस्थितियाँ निर्धारित करती हैं, आत्मज्ञान नहीं। यद्यपि कुछ प्रभाव तो आत्मज्ञान का भी पड़ता है, क्योंकि एकसमान बाह्यपरिस्थितियों से युक्त दो व्यक्तियों के बीच में, आत्मज्ञानी व्यक्ति का स्वभाव श्रेष्ठतर होता है।

ऐसी भी आम धारणा है कि आत्मज्ञानी के सभी पापकर्म क्षमा कर दिए जाते हैं। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि वैसे तो उससे पापकर्म होते ही नहीं, परन्तु यदि वह बलपूर्वक करता भी है, तो उसका आत्मज्ञान उतनी ही अधिक तीव्रता से क्षीण होता चला जाता है, जितनी तीव्रता से वह पापकर्म करता है। पूर्ण आत्मज्ञान-विस्मृति के बाद, वह भी जनसाधारण की तरह बद्ध होकर

पापकर्म के फल का भागी बन जाता है, यद्यपि औरों की अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता से, क्योंकि उसे उनका फल अपने उसी जीवन में पूरा भोगना होता है, उसके अगले जन्म की संभावना न होने के कारण। आत्मज्ञान होने के बाद पुरुष सतही सामाजिक व धार्मिक व्यवस्थाओं को नहीं मानता, अपितु वह मानवता को धर्म व अमानवता को अधर्म मानता है। यद्यपि वह विशेष परिस्थितियों में, सामाजिक सुव्यवस्थाओं को प्रभावी रखने के लिए व औरों को सद्प्रेरणा देने के लिए उनका आचरण करता भी है। जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में लिखा है, "धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे", जिसके अनुसार वह मानवता के धर्म की स्थापना के लिए, बड़ी चतुराई व युक्तियुक्तता के साथ, पूर्णरूप से अनासक्त/निर्लिप्त रहते हुए, महान प्रयास भी करता है। वह केवल औरों की प्रेरणा से व औरों को प्रेरणा देने के लिए ही, बुझे मन से/अनासक्ति के साथ कर्म करता है, क्योंकि उसे अनुभव होता है कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है, और अब कुछ करना शेष नहीं है, तथा उसके लिए तो केवल निरंतर योगसाधना से आत्मज्ञान को प्रभावी रखने व उसे बढ़ाते रहने का कार्य ही शेष बचा हुआ है। यद्यपि आत्मज्ञपुरुष समुचित व आत्मज्ञानयुक्त कर्मों को ठुकराता भी नहीं है। एक भ्रम और प्रचलित है कि आत्मज्ञानी अपने आत्मज्ञान को किसी के भी समक्ष प्रकट नहीं करता। ऐसा नहीं है। वह अपने अनन्य प्रेमी के पास उसे अवश्य प्रकट करता है। वैसे तो उसके लिए भी विश्वास करना कठिन हो जाता है, क्योंकि आत्मज्ञानी का अहंकार इतना अधिक क्षीण हो चुका होता है कि वह नीचों से भी अधिक नीच प्रतीत होता है। यह पृथक वार्ता है कि वह अनन्य प्रेमी उसे समाज में आगे प्रसारित कर पाए या नहीं, क्योंकि वह भी तो अपने अनन्यप्रेमी को ही आगे बता पाएगा, संभवतः। इस तरह से, प्रेमपूर्ण समाज में ही आत्मज्ञान आगे से आगे प्रसारित हो पाता है, व स्थिर रह पाता है। आत्मज्ञान उत्कट प्रेम का ही तो दूसरा नाम है। यहाँ तक कि मन की बात भी अपने गहन प्रेमी मित्र को ही बताई जा सकती है, फिर आत्मा तो मन से भी कहीं अधिक गहरी व गूढ़ है। कहा भी गया है, "पोथी पढ़े-पढ़े जग मुआ, पंडित भया न कोय; ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय"। वैसे, प्रेमयोगी वज्र को किसी चिरपरिचित आध्यात्मिक व्यक्ति ने भी उस आत्मानुभव को गुप्त रखने को कहा था। संभवतः उनका उद्देश्य यही था कि उस घोषणा से उसके विकास व अध्ययन में बाधा उत्पन्न न होती या उसकी सुरक्षा को कोई खतरा न होता। फिर भी, अधिकाँशतः, आत्मज्ञानोपरांत २० वर्षों के पूर्व, अधिकतर लोग अपने आत्मज्ञान के विषय में औरों को तब तक नहीं बता पाते, जब तक उनका कोई अत्यंत गहरा प्रेमी, पूरी निष्ठा व भक्ति से उनके पीछे नहीं पड़ जाता। तभी तो आत्मज्ञान को गूंगे का गुड़ भी कहते हैं। श्री गोपी कृष्ण व श्री रमन

महर्षि भी २० वर्षों तक कुछ नहीं बता पाए थे। प्रथम के ३ वर्षों में तो, यदि कोई उसे हृदय से प्रसन्न कर ले या उसका आशीर्वाद प्राप्त कर ले, तो संभवतः देर-सवेर उसको आत्मज्ञान होना निश्चित प्रतीत होता है। यद्यपि यह कार्य कठिन होता है, क्योंकि आत्मज्ञानी अपने भक्त के हृदय को उसके स्वयं से भी अधिक जानता है। २० वर्षों के बाद तो उसमें वैसी कोई दिव्य शक्ति नहीं रहती, क्योंकि वह आत्मज्ञान के अपने वास्तविक भावनामय अनुभव को लगभग पूर्णतः विस्मृत कर चुका होता है। उस समय तो वह केवल दिशा-निर्देशन ही कर सकता है, अन्य कुछ नहीं। वैसे तो आत्मज्ञान कभी भी हो सकता है, परन्तु आत्मज्ञान के लिए सर्वाधिक उपयुक्त आयु किशोरावस्था की ही है, विशेषतः यदि अनुभवी गुरु की संगति प्राप्त हो तो। इस आयु में जिम्मेदारियां सबसे कम होती हैं, जबकि शक्ति सर्वाधिक होती है। इस आयु में अधिकाँश अवसरों पर तांत्रिकयौनबल भी मिल जाता है।

संभवतः वह अपने आत्मज्ञान की बात औरों को इसलिए भी नहीं बताता है, क्योंकि उसे संकेत मिल जाते हैं कि उसकी बात पर किसी के द्वारा विश्वास करना लगभग असंभव के समान है, यहाँ तक कि लोग उसके दावे को विपरीत रूप में भी ले सकते हैं। उससे उसे आत्मज्ञान के महत्त्व/प्रकाश के कम होने की आशंका प्रतीत होती है। वह सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु का महत्त्व, इस प्रकार के प्रचार से कम नहीं होने देना चाहता। वास्तव में अपने को कोई जान ही नहीं सकता। ज्ञान तो दूसरी वस्तु का ही होता है। यदि कोई कहे कि मैं अपने को जानता हूँ, तो वह पागल कहलाएगा। अतः आत्मज्ञानी किस मुंह से बोले कि मैंने अपने को जान लिया है, क्योंकि ऐसा बोलते ही वह अपना नहीं, अपितु किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान बन जाता है, अर्थात आत्मज्ञान कुछ समय के लिए अनुभवदृष्टि से ओझल सा हो जाता है, जिससे बोलने और सुनने वाले, दोनों को लाभ की अपेक्षा हानि ही होती है। न बताने का कारण यह भी प्रतीत होता है कि उसके आसपास का आचार-विचार अज्ञानयुक्त होता है, जिससे उसके द्वारा सही बात बताए जाने पर, उसे अहंकारी समझा जा सकता है, और उसकी सुरक्षा पर संकट भी छा सकता है। सबसे बड़ा कारण तो यही प्रतीत होता है कि उसे स्वयं भी उसे प्राप्त करने की विधि पता नहीं होती, क्योंकि उसे प्राकृतिक रूप से अनायास ही वह उपलब्ध हुआ होता है। यदि उसे साधना विधि का प्रत्यक्ष अनुभव हो, तब तो वह औरों को बताए और सिखाए भी, अन्यथा हंसी का पात्र भी बन सकता है।

क्षणिकात्मज्ञान के उपरान्त वह अपने तांत्रिक गुरु (master) व अपनी तांत्रिक प्रेमिका (consort) के भौतिकरूपों से प्रतिबिंबित, अपने मानसिक चित्रों के साथ निरंतर व प्रचुर समाधि

में, बिना किसी प्रयास के ही कई वर्षों तक स्थित रहा। वह अपने को कृतकृत्य (one who has done everything) समझकर, सदैव ईश्वर-भक्ति में डूबा रहता था। लौकिक कार्य पूर्ववत ही चलते रहते थे, परन्तु अब दिव्यानंदयुक्त समाधि के साथ। कभी दोनों चित्र मन में बसे रहते थे। कभी वे बारी-बारी से आते-जाते थे। कभी-कभी वे परिस्थिति के अनुसार आते-जाते थे, जैसे कि रोमांटिक-प्रकार (romantic) व भौतिक/वैज्ञानिक प्रकार के क्षणों में प्रेमिका (consort) का व शेष कालों में गुरु (master) का चित्र प्रभावी रहता था। इसका अर्थ यह है कि मस्तिष्क में दो-दो कुण्डलिनियाँ भी एकसाथ रह सकती हैं, यद्यपि जागृत तो एक ही हो सकती है, उसके निरंतर अभ्यास से, जैसे कि प्रेमयोगी वज्र के मन में गुरु (master) के रूप की एतद्पुस्तकवर्णित कुण्डलिनी जागृत हुई। यह अच्छा ही हुआ, जो उसने गुरु के रूप से निर्मित अपनी मानसिक कुण्डलिनी को ही मुख्य बनाया, क्योंकि संभवतः वही पूरी आयु भर के लिए क्रियाशील रहती है, प्रेमिका के रूप की कुण्डलिनी तो संभवतः साधक के यौवन तक ही सीमित रहती है। आत्मज्ञान के बाद समाधिचित्र इसीलिए मन में निरंतर बना रहता है, क्योंकि आत्मज्ञान से गिरा हुआ मन, समाधिचित्र को ही परमचेतन-आत्मज्ञान के बाद की, दूसरे नंबर की चेतना (consciousness) समझता है; अतः स्वतः रूप से उसी की शरण ग्रहण करता है। इसी तरह, आत्मज्ञानी एक समाधि के टूटने पर दूसरी समाधि को अनायास ही पकड़ लेता है, और आवश्यकता पड़ने पर उसे कुण्डलिनीयोग से निरंतर भी बनाए रखता है।

इस तरह से हम देख सकते हैं कि प्रेमयोगी वज्र को संयोगवश या पूर्व-कर्मों के प्रभाव से, एक दिव्य, अप्रत्यक्ष व आत्मज्ञानकारक तंत्र का सहयोग मिला। प्रेमयोगी वज्र शविद आदि से प्राप्त द्वैताद्वैतकारक धारणाओं व चेष्ठाओं से, २० वर्षों तक अपनी अवनति से बचा रहा, अर्थात लगभग उसी आत्मज्ञान वाली स्थिति के आसपास स्थित रहा, यद्यपि वह पूर्वकाल में प्राप्त अपने आध्यात्मिक स्तरों से और अधिक ऊपर नहीं उठ सका, यहाँ तक कि अपने आत्मज्ञान-स्तर को तो स्पर्श भी नहीं कर पाया। यद्यपि वह भौतिकरूप से, अपेक्षाकृत रूप से अत्यधिक विकसित हो गया था। शविद अप्रत्यक्ष रूप में तंत्रयोग में सहायता करता है, क्योंकि यह उस उत्तम स्तर की अनासक्ति को निरंतर बनाए रखता है, जो कि तांत्रिक प्रेमिका (consort) व यौनसंसर्गयोग के प्रति होनी चाहिए। वास्तव में यौनयोग अन्य कुछ विशेष नहीं, अपितु यौन-आकर्षण का आध्यात्मिक रूपांतरण ही है। फिर शविद की सिद्धि से उत्पन्न दिव्य प्रेरणा से उसने

कुण्डलिनीयोगसाधना के साथ-साथ, प्रत्यक्षतंत्र का आश्रय लिया व लगभग एक वर्ष से भी कम समय के पूर्ववर्णित अभ्यास से, पूर्वोक्त १० सैकेंड की पूर्णसमाधि को अनुभव किया।

प्रेमयोगी वज्र के अप्रत्यक्षतंत्र में, प्रत्यक्ष यौनसंपर्क के बिना ही, उसके मन में चिरसमाधि जैसी निरंतर ध्यान की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। वह ध्यान, पूर्णसमाधि (कुण्डलिनीजागरण) की उपलब्धि के बिना ही, इसलिए दृढ़ हो गया था, क्योंकि वह प्राकृतिक यौनाकर्षण से उद्भूत था, योगसाधना के द्वारा बलपूर्वक नहीं बनाया गया था। दूसरी ओर, उसके प्रत्यक्षतंत्र में यौनाकर्षण नहीं था, इसलिए उसने बलपूर्वक योगाभ्यास (हठयोग-हठपूर्वक योग) किया, जिससे उसे उस पूर्ण व क्षणिक समाधि (कुण्डलिनीजागरण) का अनुभव हुआ, जो अपनी आकर्षकता से, चिरसमाधि जैसी, निरंतर ध्यान की अवस्था को उत्पन्न करती है। यद्यपि उसने गुरुकुण्डलिनी को पूर्व में ही प्रेमिका-कुण्डलिनी से पुष्ट किया हुआ था, तभी तो वह कालान्तर में सरलता से जागरण के योग्य बन सकी, और अंततः जागृत हो गई। चिरसमाधि जैसी निरंतर ध्यानावस्था, जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, दोनों प्रकार के तंत्रों का ध्येय है, वह एकसमान ही है, जो कालान्तर में क्षणिकात्मज्ञान कराती है। इसका अर्थ है कि बाहर से ही, नैतिकता की दृष्टि से ही दोनों में अंतर है, अन्दर से तो दोनों तंत्र एकसमान हैं। अप्रत्यक्षतंत्र इसीलिए अधिकाँशतः सफल होता है, क्योंकि उसे प्रत्यक्षतंत्र की अपेक्षा कहीं अधिक सामाजिक मान्यता मिलती है। दूसरा कारण यह है कि प्रत्यक्षतंत्र से कई बार अत्यधिक आध्यात्मिक शक्तियां मिल जाती हैं, जिनसे कई बार, विशेषतः प्रतिशोध की भावना से, समाजविरोधी काम भी हो जाते हैं। यही ज्ञानयोग व भक्तियोग के बीच का वाकयुद्ध है। ज्ञानयोगी कृत्रिम योगाभ्यास करता है, और उससे अपनी कुण्डलिनी को जागृत करके, समाधि-अवस्था को प्राप्त करता है, या विरले मामलों में संभवतः बिना समाधि के ही, जैसे कि साक्षीकरण-अभ्यास आदि से भी जगत को मन में विलीन कर सकता है। परन्तु भक्तियोगी कुण्डलिनीजागरण नहीं करता, अपितु सीधे ही; प्राकृतिक, स्वाभाविक व एकाग्र प्रेम से अपने सबसे प्रियतम व्यक्ति, भगवान आदि के चित्र को मन में निरंतर बसा कर रखता है; अर्थात स्वाभाविक व प्राकृतिक समाधि-अवस्था को प्राप्त करता है। यद्यपि भक्तियोग सर्वाधिक सुखदायक होता है, परन्तु यह कुछ चुने हुए भाग्यशाली लोगों को ही प्राप्त होता है, जबकि ज्ञानयोग का अभ्यास हर कोई कर सकता है। प्रगाढ़प्रेमसम्बन्ध के कारण ही भक्तियोगी/प्रेमयोगी रस से भरे हुए होते हैं, और दुनिया को भी प्रेमानंद-रस से भर देते हैं, जैसे कि भगवान श्रीकृष्ण। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तंत्रयोग व भक्तियोग का मूलभूत सिद्धांत एक ही है, केवल थोड़ा सा अंतर यह है कि भक्तियोगी शुद्ध प्रेम

करते हैं, जबकि तंत्रयोगी यौनाचरण का सहारा भी लेते हैं। वास्तव में सभी आध्यात्मिक मार्गों का मूलभूत सिद्धांत एक ही, अर्थात समाधि (सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात) ही है। दूसरी ओर, ज्ञानयोगी बाहर से नीरस प्रतीत होते हैं, और अधिकाँशतः अपने तक व अपने सीमित शिष्यों तक ही सीमित होते हैं। प्रेमयोगी वज्र ने इन दोनों प्रकार के योगों को क्रियान्वित करके दिखाया।

वास्तव में कुण्डलिनीजागरण (पूर्ण समाधि) कोई अंतिम पड़ाव नहीं है, अपितु आत्मज्ञानरूपी तथाकथित अंतिम पड़ाव का प्रारम्भ मात्र है। धीरे-धीरे करके जगत कुण्डलिनी में विलीन होता हुआ, अंततः शून्य हो जाता है। अप्रत्यक्षतंत्र के समय, प्रेमयोगी वज्र की कुण्डलिनी, प्रचंड यौनाकर्षण के कारण, न जागते हुए भी अत्यधिक क्रियाशील थी, अतः उसने बिना जागे ही, अपनी तीव्र क्रियाशीलता से ही, क्षणिकात्मज्ञान उपलब्ध करा दिया था। प्रत्यक्षतंत्र के समय तो उसकी कुण्डलिनी प्रत्यक्ष रूप से जाग चुकी थी (१० सेकण्ड की पूर्वोक्त समाधि)। श्रीमद्भागवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का यह कहना कि मैं किसी भी भक्त को अपने किसी भी रूप में दर्शन दे सकता हूँ, कुण्डलिनीजागरण को ही रेखांकित करता है। वास्तव में ईश्वर के किसी भी रूप का ध्यान करने से, वह रूप, कुण्डलिनी बन जाता है। कुण्डलिनीयोग की सहायता से ध्यान करना, और अधिक सरल हो जाता है। वही कुण्डलिनी जब जागृत हो जाती है, तब उसे ही ईश्वरदर्शन कहते हैं। शास्त्रों में ऐसा वर्णन आना कि ईश्वरदर्शन से मुक्ति अवश्य मिल जाती है, यह दर्शाता है कि कुण्डलिनीजागरण के बाद आत्मज्ञान, देर-सवेर हो ही जाता है।

प्रेमयोगी वज्र के क्षणिकात्मज्ञान के समय तो कुण्डलिनी-वाहक भी देवीरानी स्वयं ही थीं, व कुण्डलिनीरूपी वाह्य भी वे स्वयं ही थीं, अर्थात देवीरानी अपनी प्रजनन शक्ति के अप्रत्यक्ष प्रयोग (अप्रत्यक्षतंत्र) से, अपने ही चित्र की कुण्डलिनी को प्रेमयोगी वज्र के मन में सुदृढ़ कर रही थीं, प्रेमयोगी वज्र की अखंड समाधि तक। वे वृद्ध आध्यात्मिक पुरुष तो पुराणों के निरंतर अभ्यास से द्वैताद्वैताभिमुख रहते थे, अतः वे अपनी संगति से ही, अप्रत्यक्ष रूप के साथ प्रेमयोगी वज्र को मानसिक संविभ्रम, मनोदोलन, आसक्ति व यौनसीमा के उल्लंघन से बचाते रहे (उन वृद्ध के चित्र की कुण्डलिनी तो तब प्रभावी हुई, जब आत्मज्ञान के बाद देवीरानी के चित्र की कुण्डलिनी शाँत हो चुकी थी)। परन्तु बाद की कही गई क्षणिक समाधि के समय कोई अन्य देवीरानी (संभवतः पत्नीदेवी) वाहक थीं, और वृद्ध आध्यात्मिक पुरुष वाह्य थे, अर्थात देवीरानी अपनी प्रजनन शक्ति के प्रत्यक्ष प्रयोग (प्रत्यक्षतंत्र) से वृद्ध आध्यात्मिक पुरुष के चित्र (मानसिक) के रूप में अनुभूत कुण्डलिनी को प्रेमयोगी वज्र के मन-मंदिर में सुदृढ़ कर रही थीं। इस तरह से हम देख सकते हैं कि

तंत्रयोग दो प्रकार से काम कर सकता है। द्वितीय विधि के अनुसार तो देवीरानी के बाह्य रूप-सौन्दर्य आदि गुणों के ऊपर आसक्त होने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि मनोनुकूल रूप-सौन्दर्यादि गुणों से संपन्न देवीरानी न मिल सके, व उससे प्रतिबिंबित मानसिकचित्र को नित्यस्थायिनी कुण्डलिनी के रूप में परिवर्तित करने में कठिनाई आ रही हो, तो भी वह गुरु, देवता आदि के मानसिक चित्र की कुण्डलिनी को जागृत करने में पूरी सहायता कर सकती है। साथ में, बढ़ती हुई कुण्डलिनी के प्रभाव से धीरे-धीरे वे अरुचिकर देवीरानी भी मनोनुकूल बन जाती हैं। संभवतः अप्रत्यक्षयौनतंत्र में ही (प्रत्यक्ष में नहीं) या भार्यातिरिक्त मनोनुकूल देवीरानी के साथ प्रत्यक्षतंत्र में ही ऐसा हो सकता है कि एक ही देवीरानी कुण्डलिनी-वाहक भी बने व वाह्य (कुण्डलिनी) भी। प्रेमयोगी वज्र को द्वितीय देवीरानी के साथ, पूर्वोक्त क्षणिक व पूर्णसमाधि का अनुभव हुआ। प्रथम देवीरानी के दिव्य रंग-रूप के साथ तो उसका मानसिक सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ था कि प्रेमयोगी वज्र के मन में उसके रूप की सामान्य समाधि स्वयं ही निरंतर बनी रहती थी, अतः क्षणिकात्मज्ञान के लिए पूर्णसमाधि की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। पूर्णसमाधि अपने आप में पूर्णता नहीं है, वह तो केवल आकर्षण/ध्यान बनाए रखने के लिए मात्र एक आधार/आकर्षण का बिंदु है। यदि वह आकर्षण स्वयंभूत ही है, तो पूर्णसमाधि के आधार बिंदु की भी क्या आवश्यकता हो सकती है? इसका अर्थ है कि अप्रत्यक्ष/मानसिक तंत्र अधिक प्रभावशाली है, परन्तु उसमें मनोनुकूल देवीरानी की आवश्यकता होती है। साथ में, उसमें भौतिक रूप से अत्यधिक उच्च स्तर का आत्मसंयम/अनुशासन/अलगाव बना कर रखने की व एक योग्य गुरु की नितांत आवश्यकता होती है। इससे यह अर्थ भी निकलता है कि प्रत्यक्षतंत्र में देवीरानी के रूप-रंग का भी कोई विशेष योगदान नहीं होता, यौनांगों के स्वास्थ्य को व तांत्रिक तकनीक के साधारण ज्ञान को छोड़कर, क्योंकि उसमें कुण्डलिनी को गुरु-देवता आदि का रूप दिया जाता है, देवीरानी तो केवल कुण्डलिनी-वाहक का ही काम करती हैं। बहुत आकर्षक रूप-रंग वाली देवीरानी तो उसमें विघ्न भी उत्पन्न कर सकती है, क्योंकि वह अपने अहंकार के कारण, अपने रूप-यौवन को छोड़कर किसी दुसरे के रूप की कुण्डलिनी को आश्रय देना, पसंद भी नहीं कर सकती है। उसके भौतिकरूप का निरंतर साथ होने के कारण, उसके रूप की मानसिक कुण्डलिनी, बनाई भी तो नहीं जा सकती। इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि प्रत्यक्षतंत्र में, मनोनुकूल या आसक्तिपूर्ण देवीरानी उतनी प्रभावशाली नहीं होती, जितनी प्रभावशाली अनासक्तिपूर्ण या मन के विपरीत स्वभाव वाली देवीरानी होती है। संभवतः यही तो स्त्री-सम्बंधित, तथाकथित मोहमाया के पीछे का अनुभूत व

तर्कसंगत कारण है। परदेवीरानियाँ काम के अत्यधिक बोझ, असुरक्षा की भावना व मन की चंचलता के कारण ही अधिक अच्छी लगती हैं, केवल अल्पकाल के लिए ही। उनसे आध्यात्मिक लाभ होने की अपेक्षा, हानि ही प्राप्त होती है। इन समस्याओं/विघ्नों के निराकरण के बाद तो निजदेवीरानी ही सर्वोत्तम प्रतीत होती है, व सिद्ध भी सर्वोत्तम ही होती है।

प्रत्यक्षतंत्र के रूप में आजकल बहुत सा पुस्तकीय ज्ञान विद्यमान है, विशेषतः पाश्चात्य व बौद्ध प्रकार के समाजों में, परन्तु प्रेमयोगी वज्र ने अपने समाधिकारक प्रत्यक्षतंत्र के अभ्यास को अपने शब्दों में इस प्रकार लिखा है, " अहं ८-९ माहपर्यन्तं आधारभूतकुण्डलिनीयोगाभ्यासं कृतवान्। तदा मया तद्साधारणकुण्डलिनीयोगाभ्याससह यौनयोगसम्मेलनं प्रारब्धं। अधिकान्शकाले स्वप्रेमिकां सवस्त्रां चुम्बनालिङ्गनं दत्तवान्। यौनान्गस्य विवर्धमानेन प्रसारेण सह, अहं तदोपरि, स्वस्पष्टतां विवर्धमानां पुलिन्गकुण्डलिनीं ध्यायामि स्मः। यदैव प्रसारः असहनीयः येन् च स्खलनाशङ्का, तदैव अहं मूलबन्धं स्थापयति स्मः, येन् अङ्गं तद्क्षणमेव शिथिलं भवति स्मः कुण्डलिनी च मस्तिष्के प्रविशति स्मः। एतद्नियमितभ्यासेन्, मस्तिष्के कुण्डलिनी स्थिरीभूता। एतद्सह समाधेः दिव्यं, स्थिरं सूक्ष्मं च आनन्दं विवर्धमानं। पूर्णयौनसंसर्गस्य अभिलाषायां, तनावरहितस्थितिः पर्याप्तारिक्तकालं च प्रतीक्ष्यते स्मः। तदा कस्मिन्श्चित काले (यद्यपि भोजनोपरान्ते २ घण्टावादनकालपर्यन्तम्, क्लान्तिकालम्, मूढताकालम् निद्राकालम् च हित्वा), पूर्णसकारात्मकविचारैः, देवीप्रति प्रेमादराभ्यां प्रसन्नमुखाभ्यां च सह; पूर्णदिगंबरमुद्रया सह, शीघ्रतां हित्वा; कुण्डलिनीध्यानपूर्वकं विविधकामशास्त्रीयाचारविचारैः आवाभ्यां उत्तेजना विधिपूर्वकं चरमं प्रति उपनीयते स्मः। कुण्डलिन्यः ध्यानं प्रेमिकायाः सर्वेषु चक्रेषु एकं-एकं कृत्वा, स्पर्षेण यौगिकबन्धैः च सह क्रियते स्मः। मूलबन्धेन ध्यानं स्थिरं क्रियते स्मः कामोत्तेजना च वशीक्रियते स्मः। ततः यबयुमासने (yab-yum) उभयौ आलिङ्गनबद्धमुद्रायां उपविशतः स्मः वज्रः च नीरजे स्थाप्यमानः भवति स्मः। अहं कुण्डलिनीं मूलबन्धेन मूलाधारात् मेरुदण्डमार्गात् मस्तिष्कपर्यन्तं उन्नयति स्मः ततः च तां मुखयोगमार्गात् प्रेमिकायाः सर्वेभ्यः पुरस् चक्रेभ्यः, प्रत्येकचक्रे तां किञ्चित् ध्यायन्, अवनयति स्मः। प्रेमिकायाः कमलात् सा मम् वज्रे प्रविशति स्मः ततः च द्वितीयप्रक्रियाचक्रः प्रारभति स्मः। किञ्चित्प्रक्रियाः विपरीतक्रमाः, अर्थात् कुण्डलिनी प्रेमिकायाः मेरुदण्डमार्गात् उन्नीयते स्मः मम् च पुरस् चक्रेभ्यः अवनीयते स्मः। तद्श्रान्ते भूते, यौनसहचरी शयनमुद्रायां ऊर्ध्वमुखा स्थिरीभवति। तद्सहचरः तद्नीरजे पुनः-पुनः वज्रप्रवेशनात् स्ववज्रे रोमाञ्चं अनुभवति। तदा सः किञ्चित् विश्रमति तद्रोमाञ्चं च योगबन्धसहायतया

स्वमस्तिष्के उन्नयति। तदा तद्वज्रः संकुचितः जायते। ततः सः पुनः-पुनः उपरोक्तक्रियां पुनरावर्तते। सः लम्बमानमुद्रायामेव तस्यां स्वयं वज्रासनसदृशे आसने पादाग्रोपरि स्थित्वा स्ववज्रं पुनः-पुनः प्रवेशयति ततः स्वयौनद्रवोत्सर्जनसहनसीमापूर्वं एव देव्यां अर्धलम्बमानमुद्रायां ऊर्ध्वमुखायां उत्तानपादायां पादाग्रोपरि असन्तुलितः श्रान्तः च भूत्वा यदा स्खलनबिन्दुं उपगच्छति, तदा तेन् पूर्णपादयोः स्थिरीभूते विश्रमिते च तस्य मूलबन्धः विशेषलाभकरः। परन्तु देव्यः देवस्य च पूर्णलम्बमुद्रायां; उड्डीयानबन्धः विशेषलाभकरः, स्थिरतादायकः, सरलः, सुलभः, स्वाभाविकः अधिकप्रभावशाली च। एवमेव पुनः-पुनः कृत्वा श्रान्तिपर्यन्तं, कुण्डलिनी मस्तिष्के दृढ़तया प्रभवति, येन् कुण्डलिनीजागरणं शीघ्रं। सहचरेण सह सहचरी अपि यौगिकबन्धैः स्वकुण्डलिनीं स्वयौनाङ्गात् उन्नयति। प्रेमिका तद्यौगिकप्रक्रियासु स्वकुण्डलिनीं ध्यायति स्मः। एवमेव न्यूनमतेन १ घण्टावादनकालपर्यन्तं तद्यौगिकप्रक्रिया चलायमाना। उत्तेजनायाम् असहनीयां वज्रः कमलात् अपसृयते स्मः बन्धाभ्यां च कुण्डलिनी मस्तिष्के पुष्यते स्मः, येन् उत्तेजना स्वतः शान्ता भवति स्मः। दीर्घाः नियमिताः च श्वास-प्रश्वासाः धार्यन्ते स्मः। ततः वज्रः पुनः कमले प्रवेष्यते स्मः। प्रारंभिकाभ्यासकाले स्खलनबिन्दुः अज्ञातः भवति स्मः, परं किञ्चिदभ्यासात् विशेषज्ञता प्राप्ता। प्रारम्भकाले अहं क्षुद्रयौनरोगैः प्रभावितः आसीत्, परं तत्पश्चात् अहं स्ववज्रं यौनयोगान्तक्षणे एव श्रेष्ठपरिमार्जनविधिभिः पूर्णतया मार्जयति स्मः येन् वज्रः स्वस्थः तिष्ठति स्मः। मैंने सभी विधियाँ तांत्रिक पुस्तकों से पढ़ी थीं, व बहुत से कदम मैंने अपनी आतंरिक प्रेरणा से भी उठाए। इस तरह से, मात्र एक महीने के प्रतिदिन के निरंतर अभ्यास से, मैं पूर्णसमाधि (कुण्डलिनीजागरण) के स्तर तक पहुँच गया। उस पूरे महीने भर तक, बाहरी रूप से मैं एक यौनसनकी-साधु की तरह लगता था, परन्तु अन्दर से पूरी तरह से एकाग्रयोगी बना हुआ था, और अपने शरीर के साथ अपनी पत्नीदेवी के शरीर में भी अपनी कुण्डलिनी (देहपुरुषरूपी) मुझे निरंतर दृष्टिगोचर हो रही थी, क्योंकि देहपुरुष प्रत्येक शरीर के प्रत्येक भाग में स्थित होते हैं, केशों में भी होते हैं, चमड़ी में भी होते हैं, नखों में भी होते हैं, प्रत्येक स्राव में भी होते हैं आदि-आदि। मैं किसी भी समय उनका आलिंगन कर लेता था, और बड़े भारी प्रेम-सत्कार के साथ उनके पैरों को सहलाते हुए, उन्हें अपने वक्षस्थल से लगाने लग जाता था। वे सभी प्रेम-सत्कार आदि भाव, बनावटी न होते हुए, सच्चे व हृदय से थे। मेरा वैसा व्यवहार देख कर, वे प्रारम्भ में आश्चर्यचकित हो गईं, क्योंकि वैसा दिव्य-सम्बन्ध उससे पहले हमारे बीच में कभी नहीं बना था, यहाँ तक कि कई बार तो हमारे बीच के सम्बन्ध बहुत कटु भी हो जाते थे। पत्नीदेवी की रुचि को भांपते हुए, मैंने उन्हें भी यौनयोग सिखाया। उन्होंने भी मेरा

बड़े प्रेम-सत्कार के साथ सहयोग किया। इससे मेरे द्वारा पत्नीदेवी के साथ किया गया सारा व्यवहार, मेरी कुण्डलिनी को लग रहा था, जिससे वह अत्यधिक संतुष्ट व पुष्ट होते हुए, अत्यंत स्पष्ट व जीवंत हो गई थी। मेरे द्वारा साधारण कुण्डलिनीयोग के अंतर्गत लगाया जाने वाला साधारण ध्यान, यौनयोग की सहायता लेने पर विशिष्ट हो जाता था, और कई दिनों तक अत्यधिक तीखा व स्पष्ट (sharp and clear) हो जाया करता था। यद्यपि भौतिक शक्ति का बहुत कम अपव्यय हो रहा था, फिर भी कुछ अतिरिक्त शक्ति व अतिरिक्त समय की आवश्यकता तो होती ही है, जो कि किसी दैवीय संयोग से अकस्मात् पूर्ण हो गई थी"।

प्रेमयोगी वज्र के साथ उपरोक्त सभी कुछ, देवी की कृपा से ही संभव हुआ। प्रेमयोगी वज्र के उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी के अंतिम विकास के समय, थोड़े-थोड़े बल की अपेक्षा, इकट्ठे व तीव्र बल की आवश्यकता होती है; जो पूर्णरूपेण कुण्डलिनीसमर्पित व तीव्र स्तर के यौनयोग से ही संभव है। वास्तव में तांत्रिकप्रेमिका (consort) का देवी की तरह ही आदर-सत्कार किया जाता है, व महान प्रेम के साथ, उसे सदैव प्रसन्न रखा जाता है (प्रेमयोगी वज्र तो उसके चरणकमलों की पूजा भी करता था), क्योंकि तांत्रिक-देवी में ही वह दिव्य-शक्ति है, जिससे वह एक ही जन्म में आत्मज्ञान उपलब्ध करवा सकती है। देवी को भी चाहिए कि वह अपने साथ ही, सदैव अपने प्रेमी (consort) के कुण्डलिनीजागरण व आत्मज्ञान के लिए भी प्रयासरत रहे। प्रेमयोगी वज्र के उपरोक्त अनुभव से प्रेरित होकर लेखक ने भी यह अनुभव किया कि साँसारिक व्यस्त जीवन के अंतर्गत, कुण्डलिनीयोग के नियमित अभ्यास के साथ-साथ, बीच-बीच में यौनयोग की सहायता से भी कुण्डलिनी को पुष्ट करते रहना चाहिए, अन्यथा कुण्डलिनी बहुत क्षीण हो जाती है, जिससे कुण्डलिनीयोग धीरे-धीरे उबाऊ (boring) व कठिन लगने लगता है। वास्तव में कुछ समय तक कुण्डलिनीयोग करने के बाद, जो उससे मन हटने लगता है, वह अधिकान्शतः तकनीकी खामियों से नहीं, अपितु यौनयोग के द्वारा कुण्डलिनी को पुनः-पुनः प्रतिष्ठित न करते रहने से होता है। यौनयोग से कुण्डलिनीजागरण तभी संभव हो पाता है, जब साँसारिकता के जंजालों को छोड़कर, कुण्डलिनीयोग व यौनयोग के ही आश्रित हुआ जाता है। परन्तु कुण्डलिनी पहले से ही, साँसारिकता से व/या साधारण कुण्डलिनीयोग से पुष्ट की हुई होनी चाहिए। यौनयोग से तो उसे केवल जागरण के लिए अपेक्षित मुक्तिगामी वेग (escape velocity) ही प्राप्त होता है, अन्य कुछ विशेष नहीं। उस जंजालहीनता की अतिरिक्त सहायता से, जिस जीवनी-ऊर्जा (life

energy) की बचत व वृद्धि होती है, वह संसार की अपेक्षा कुण्डलिनी के उचित पोषण व जागरण में प्रयुक्त हो जाती है।

कुण्डलिनीजागरणोपरान्तं, बहुधा प्रेमयोगी वज्रः स्वप्रेमिकायाः सह दिगंबरमुद्रायां कुण्डलिनीयोगान्तर्गतान् प्राणायामयोगासनान् करोति स्मः। ततः पूर्वोक्तं यौनयोगं कुर्वन्; तस्मिन् संयमशक्तिः, आनन्दं ध्यानम् च अत्यधिकरूपेण वर्धिताः भवन्ति स्मः। तेन् यौनसंक्रमणं उपचारितुं भविष्ये च तद्बाधितुं वज्रावरणछेदनं (circumcision) कृतं आसीत। वास्तवेन, यौनाङ्गेषु, विशेषतः स्त्रयाङ्गेषु विविधानि संक्रमणानि, येषु यीस्टसंक्रमणं (yeast infection) मुख्यतमम्। तद्परिहारार्थं स्वच्छतायां ध्यानं आवश्यकं, अपि च यौनान्गक्षेत्रेषु निरन्तरं शुष्कता स्थापितव्या।

यौनयोग से यदि प्रचंडता से चमकती हुई कुण्डलिनी या कुण्डलिनीजागरण की एक झलक भी मिल जाए, तो भी पर्याप्त है, क्योंकि इससे व्यक्ति फिर नियमित रूप से की गई कुण्डलिनीयोगसाधना से, उस झलक का पीछा कर सकता है, और उसे आत्मज्ञानकारक, निरंतरसमाधि के स्तर तक प्रवृद्ध कर सकता है, जैसा कि महान तंत्रज्ञानी आचार्य श्री रजनीश ने भी कहा है। संभवतः समय के साथ यह विकास स्वयं भी हो जाता है, यद्यपि नियमित योगसाधना के अतिरिक्त बल से यह कुछ अधिक शीघ्र हो जाता है। अधिकाँशतः, यौनयोग को अनेक प्रकार के समस्यागत कारणों से निरंतर भी नहीं किया जा सकता है। वैसे भी यौनयोग से कुण्डलिनीजागरण इतना शीघ्र हो जाता है कि अधिकाँशतः यौनयोगसाधक उसे क्षणिक झलक से अधिक देर तक सहन करने के लिए अभ्यस्त ही नहीं हुआ होता है। संभवतः पूर्व की समुचित तैयारी से या कई बार के अभ्यास से, कुछ दीर्घकाल तक भी, इससे कुण्डलिनीजागरण का अनुभव हो सकता हो। उनका यह कथन भी सत्य प्रतीत होता है कि वास्तव में यौनसंबन्ध समाधि-प्राप्ति के लिए ही बनाया जाता है, परन्तु आम आदमी को इस बात का पता ही नहीं चलता। जब कोई आदमी समाधि की अवस्था में, एक आम जनजीवन व्यतीत कर रहा हो, तब उसका मन स्त्री-माया से, अधिक विचलित नहीं होता। इसलिए इससे भी स्पष्ट है कि स्त्री के प्रति आकर्षण का वास्तविक उद्देश्य समाधि-अवस्था की प्राप्ति ही है। उनका कहना है कि अधिकाँश लोगों को यौनसम्बन्ध बनाने की वास्तविक व आध्यात्मिक कला ही नहीं आती। वे पुनः कहते हैं कि यह उसी तरह से होता है, जैसे कि चालक लोगों को गाड़ी चलानी तो आती है, परन्तु उन्हें उसके पीछे चल रहे ताम-झामों की समझ नहीं होती। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के लिए, यौनसंबंध का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य तो समाधि-अवस्था की प्राप्ति ही है। उनकी यह बात भी युक्तियुक्त प्रतीत होती

है कि यौनयोग (sexual yoga) में अच्छाई है, परन्तु यौनता (sexuality; sex related talks, funs, photos, videos etc.) में बुराई है; क्योंकि पूर्वपक्ष से शक्ति का संचय व सदुपयोग होता है, जबकि उत्तरपक्ष से शक्ति का अपव्यय व दुरुपयोग होता है। यौनता/कामुकता का अर्थ यहाँ पर बाहरी रूप से ही सुन्दर दिखने का प्रयत्न करना, बाहरी व झूठा अहंकार आदि ही तो है। अर्थात वैसी यौनता या यौनचिंतन, जिसमें समाधिभाव न हो, वही कामुकता/यौनता की श्रेणी में आता है। समाधिभाव के साथ यौनचिंतन तो अप्रत्यक्ष यौनयोग ही है, क्योंकि यौनचिंतन व समाधिभाव एक-दूसरे को पुष्ट करते रहते हैं।

यौनयोगः दिवसकाले पूर्णजागृतावस्थायामेव श्रेष्ठतरः, यतोहि रात्रेः कश्चिदपि भागे मूढ़ता व्याप्ता, येन् आत्मसंयमन्यूनता, यद्यपि अभ्यासे दृढे तु रात्रौ अपि कर्तुं शक्यते। एवमेव, यौनयोगात् पूर्वं न्यूनतमेन अर्धघन्टावादनकालपर्यन्तं कुण्डलिनीयोगेन मूढ़ता क्षीयते। अपि च अनेन मानसिकजागरूकता, आत्मसंयमः, ध्यानं चापि विवर्धन्ते। प्राचीनकालिकयौनयोगे विविधाः औपचारिकताः, यथा यौनयोगप्रारंभात् पूर्वं दशवर्षपर्यन्तं दुष्कराचारविचारैः साधारणकुण्डलिनीयोगाभ्यासः, एतस्मिन् च विभिन्नबीजमन्त्रवर्णचित्रप्रथापर्वादिनां अनुसरणं। प्रेमयोगीवज्रेन यौनयोगः सरलीकृतः। एतस्मिन् सः केवलं मनुष्याकृतकुण्डलिनेः (स्वपूज्यपितामहस्य मानसिकचित्रस्य) ध्यानं एव अकरोत्, अन्याः सर्वाः औपचारिकताः हित्वा। अनेन सः एकवर्षपर्यन्तं साधारणकुण्डलिनीयोगाभ्यासम् कृतवान् तदोपरान्तं च एकमाहपर्यन्तं यौनयोगकुण्डलिनीयोगाभ्यासाभ्यां एव स्वकुण्डलिनीजागरणं प्राप्तवान। यौनयोगे, यौनस्रावे पूर्णात्मनियन्त्रणं अपेक्ष्यते। प्राचीनकाले, चेत् यौनस्रावः आत्मनियन्त्रणं बिना स्वतः एव भवति स्मः, तर्हि तस्मिन अधिकान्शतः योगिनी एव दोषयुक्ता मन्यते स्मः। तेन एव योगिनी एव गुरुरूपा मन्यते स्मः, यतोहि पुरुषयौनस्रावनियन्त्रणे योगिन्यः भूमिका महत्त्वपूर्णतरा। यौनस्रावात्मनियन्त्रणात् कुण्डलिनेः यौनस्रावोपरि आरोपणं सुलभं येन् तस्य महती शक्तिः कुण्डलिन्या गृह्यते। यौनस्रावाय महती मानसिका चैतन्यमयिनी च ऊर्जा आवश्यका। यौनयोगात् सा ऊर्जा रक्ष्यते कुण्डलिनीपोषणे च सा व्ययीभूयते। अनेन यौनस्रावबिना एव यौनसन्तुष्टिः अपि प्राप्ता भवति, अपि च कुण्डलिनी अपि पुष्टा भवति। अनेन शारीरिकशक्तेः अनावश्यकक्षरणं अपि रुध्यते। एवमेव, यौनयोगोपरान्तं चेत् अश्लीलदृष्याणि दृष्यन्ते वा अश्लीलवार्ताः श्रूयन्ते, तर्हि अपि तैः मनः न दुष्प्रभाव्यते, अर्थात मनोदेहे उत्तेजना न उद्भूयते। वास्तवेन संपूर्णमानसिकशक्तिः कुण्डलिनीं पुष्टुं व्ययीभूता येन् विकारं जनयितुं शक्तिः न शेषा। संभवतः यौनस्रावस्य निरन्तरतया

दीर्घकालपर्यन्तरोधनं अपि यौनाङ्गेभ्यः हानिकरं। अतः संभवतः प्राचीनतन्त्रशास्त्रेषु योगिन्यः ऋतुकाले एव यौनस्रावोत्सर्जनं विहितं। संभवतः एतद्ऋतुकालः रक्तोत्सर्जकमाहवारीकालात् एकसप्ताहपूर्वात् एकसप्ताहपश्चात् पर्यन्तं कथितः, यतोहि एतद्काले गर्भाधानसंभावना नगण्या। अनेन एव एतद्कालः यौनयोगप्रशिक्षणकाले यौनयोगप्रारम्भिककाले वापि यौनयोगं शिक्षितुं सर्वोत्तमः।

प्राचीनकाल में, यौनयोग से अधिकाँश लोग भयभीत रहते थे; क्योंकि इसकी असफलता से उन्हें अपने जप, तप, व्रत, उपवास, दान, तीर्थ व अन्य धार्मिक क्रियाकलापों के क्षीण होने का भय सताता रहता था। आजकल तो अधिकाँश लोग धार्मिक क्रियाकलापों को करते ही नहीं, और यदि चंद लोग करते भी हैं, तो युक्तियुक्त ढंग से व ध्यान (विशेषतः कुण्डलिनी का) लगाकर नहीं करते, अतः उपरोक्त भय की संभावना भी नहीं है। साथ में, आजकल अधिकाँश लोग बिना विवेक-वैराग्य व आत्मसंयम के; देहक्षायी यौनसंसर्ग में लिप्त रहते हैं। यौनयोग में स्त्री को गुरु व देवी की तरह अतिपूज्य माना जाता है, जिससे आजकल के गिरते हुए नारीसम्मान को भी बचाया जा सकता है। प्राचीनभारत में ऐसा होता था, जिसके उदाहरणस्वरूप बहुत से शक्तिपीठ व बहुत सी देवीमाताएं हैं, परन्तु मध्ययुग से लेकर आजतक बरकरार उथल-पुथल व आपाधापी से वह परम्परा अब क्षीणप्राय ही प्रतीत होती है। उपरोक्त कारणों से स्पष्ट है कि आजकल के समय में, यौनयोग में चाहे सफलता मिले या असफलता, दोनों ही मामलों में लाभ ही लाभ है। यदि यह आध्यात्मिकता नहीं भी देगा, तो भी भौतिक प्रगति तो देगा ही, जिसकी आधुनिक युग में बहुत मांग है। इससे सिद्ध होता है कि यौनयोग आज के समय में सर्वाधिक प्रासंगिक है।

यौनयोग सबसे अच्छा तब रहता है, जब योगी-योगिनी अनेक वर्षों से, अपने मूल निवासस्थान पर ही देहपुरुष की तरह द्वैताद्वैत के साथ; भरपूर व्यस्त, व्यावहारिक व कर्मठ जीवन बिता रहे हों; दोनों को शविद व तंत्ररहस्य का ज्ञान हो व दोनों ही तंत्रयोग से शक्ति ले रहे हों; और यौनसम्बन्ध से आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होने के सिद्धांत पर विश्वास करते हों आदि-आदि। यदि इन रहस्यों का अप्रत्यक्ष रूप से भी ज्ञान हो, यहाँ तक कि यदि इन पर केवलमात्र दृढ़ विश्वास भी हो, तो भी अधिकाँश मामलों में काम चल पड़ता है। यदि कुण्डलिनीयोग का अभ्यास कर रहे हों, तब तो और भी अधिक अच्छा, परन्तु प्रेमयोगी वज्र ने अनुभव किया कि देहपुरुष की तरह, पूर्ण व्यस्तता से भरे हुए अद्वैतजीवन के साथ, नियमित कुण्डलिनीयोग करना कुछ कठिन होता है। वैसे तो ऐसा अभ्यास की कमी से ही होता है। अद्वैतयुक्त जीवन-व्यवहार भी कुण्डलिनीयोग की तरह ही काम

करता है। वैसे अद्वैतजीवन में, मुख्यतया शविद/पुराणों, वैदिक कर्मकांडों आदि से अद्वैतभाव को निरंतर रूप से धारण करके रखा जाता है। परन्तु कुण्डलिनीयोगमुखी जीवन में, मुख्यतया कुण्डलिनी की सहायता से अद्वैतभाव को निरंतर बना कर रखा जाता है। वैसे तो कुण्डलिनी अद्वैतजीवन के लिए भी आवश्यक होती है, नहीं तो इसके बिना अद्वैतभाव में मन नहीं लगता। इसलिए कुण्डलिनी को सदैव क्रियाशील रखना चाहिए। कुण्डलिनी ही अद्वैतभाव वाले नीरस जीवन में उत्तम प्रकार की आनंदमयी मानसिकता प्रदान करती रहती है। वैसे तो हठपूर्वक व कुण्डलिनीविहीन अद्वैतजीवन जीते हुए भी, कालान्तर में स्वयं ही कोई कुण्डलिनी क्रियाशील हो जाती है। कुण्डलिनी व अद्वैत एक-दूसरे को बढ़ाते रहते हैं। प्रेमपूर्ण व संयुक्त परिवार/समाज में ही कुण्डलिनी के क्रियाशीलन व अंततः उसके जागरण की संभावना सर्वाधिक होती है। इस प्रकार के समाज में ही विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से प्रगाढ़ सम्बन्ध बनते हैं। फिर कालान्तर में, किसी न किसी व्यक्तिविशेष के भौतिकरूप का मानसिकचित्र किसी भाग्यवान व्यक्ति के मन-मंदिर में कुण्डलिनी बन कर उभर ही जाता है। ऐसा ही प्रेममयी समाज प्राचीन भारत (ancient India) में होता था। तभी तो प्राचीन भारत की संस्कृति आजतक बेजोड़ है। फिर वे दोनों उपरोक्त यौनयोगी किसी शाँत, प्रकृति से पूर्ण व आध्यात्मिक स्थान पर कुछ सालों के लिए प्रवास पर चले जाएं (पति-पत्नी, संतानसहित भी, इससे संतानों में भी आध्यात्मिक गुण प्रविष्ट हो जाते हैं)। वहाँ पर वे दोनों अपने को तनावरहित, शाँत, प्रसन्नचित्त व एक-दूसरे के प्रति समर्पित अनुभव करते हैं। फिर दोनों नियमितरूप से कुण्डलिनीयोग का अभ्यास करें, और अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर, उसे यौनयोग के साथ जोड़ें। बीच-बीच में, अपनी कुंडलिनियों से सम्बंधित स्थानों का भ्रमण भी करते रहें। इन सभी उपायों से कुण्डलिनीजागरण की संभावना बढ़ जाती है। संभवतः उपरोक्तानुसार, यदि लम्बे समय तक प्रेमिका (consort) के साथ अद्वैतपूर्ण, कर्मठ व संयमपूर्ण जीवन जिया जाए, तभी कालान्तर में उसके साथ यौनयोग से, सरलता से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। इसका कारण यह है कि लम्बे समय तक के अद्वैतमयी जीवन से कुण्डलिनी का पोषण होता रहता है। तांत्रिक की वह सर्वप्रिय कुण्डलिनी, उसी की उस तांत्रिकप्रेमिका/तांत्रिकार्धान्गिनी के साथ भी जुड़ती रहती है, जो लम्बे समय से उसके साथ रह रही होती है। इसलिए कालान्तर में उसके प्रति परिचयहीनता, असुरक्षा आदि की विघ्नकारक भावनाएं भी उत्पन्न नहीं होतीं। यौनयोग तभी सर्वश्रेष्ठ फल प्रदान करता है, यदि दैनिक जीवन में थकान, तनाव, मानसिक दोष, व्यर्थ के ताम-झाम, कुप्रबंधन, विकृत समयसारणी, अपमान का दंश, सामाजिक बहिष्कृति, अशाँति,

रमणीकतारहित पर्यावरणता; कुटिल व प्रेमहीन पड़ौसीपन; भ्रष्ट/प्रेमहीन व व्यवधानपूर्ण सामाजिकता; तथा पर्यावरणीय प्रदूषण आदि विघ्नपूर्ण कारक उपस्थित न हों।

कुण्डलिनीजागरण के १- २ साल पहले से ही प्रेमयोगी वज्र को कुछ अजीबोगरीब सा अनुभव होना शुरु हो गया था, जैसे कि सिर का भारी रहना, सिर में दबाव जैसा महसूस होना, सिरदर्द होना, शारीरिक शक्ति का क्षीण होना, शरीर में विशेषतः हाथों-बाजुओं में कम्पन महसूस होना, अपने स्वास्थ्य के प्रति शंका रहना, व्यक्तित्व का बदलना, परमप्रेमी का विस्मरण होना; चित्र-विचित्र व सपष्ट रूप के स्वप्न आना, आगे होने वाली घटनाओं के संकेत स्वप्न में मिलना, दिवंगत महान आत्माओं से साक्षात्कार होना आदि-आदि। उसके सिर में दबाव, विशेषतः तब उत्पन्न होता था, जब उसके मन में क्रोध आदि की बलवान व अहितकर स्फुरणाएँ उत्पन्न होती थीं। ऐसा लगता था, जैसे कि उस दबाव से वे भड़काऊ स्फुरणाएं दब जैसी जाती थीं। क्रोध तो उसका बहुत क्षीण हो गया था। वैसे तो उसने लगभग डेढ़ माह तक क्रोध-निवारक मानसिक-दवा (antidepressant) भी कुछ समय पूर्व खाई हुई थी। उससे भी उसका क्रोध एकदम से कम हुआ था। परन्तु उस दवा का कई महीनों-वर्षों तक, स्थायी प्रभाव कैसे रह सकता था? संभवतः वे सभी परिवर्तनात्मक लक्षण, उसकी उस पुरानी कुण्डलिनी (प्रथम देवीरानी/अनोद्वाहित) के क्षीण होने से उत्पन्न हो रहे थे, जिसके रिक्त स्थान को भरने के लिए, नई कुण्डलिनी (वृद्धाध्यात्मिक पुरुष) उभर रही थी। उसकी अर्धांगिनी (द्वितीय देवीरानी) को भी वह रूपांतरित/परिवर्तित/बदला-बदला जैसा लग रहा था। प्रेमयोगी वज्र को कुण्डलिनीजागरण से लगभग एक वर्ष पूर्व ही स्वप्न में दिखा था कि वह रात्रिकाल में दो-दो चमकते हुए; बहुत स्पष्ट व देवतुल्य सूर्यों को देख रहा था, जिससे रात्रि जगमगा गई थी। वह विचित्र रात्रि थी, क्योंकि उसमें अन्धकार व प्रकाश, दोनों एकसाथ थे। वास्तव में उसे सूर्य व चन्द्रमा एक साथ दिखाई दिए, और चन्द्रमा की चमक भी सूर्य के समकक्ष लग रही थी। उस स्वप्न ने उसे कई दिनों तक आनंद से भर दिया था। उस वर्ष गर्मी भी बहुत पड़ी थी। हो सकता है कि वह स्वप्न उसका संकेत भी हो। उसी से कुछ समय पहले, उसे भगवान शिव, गाजों-बाजों व अपने अनुचरों के साथ, बहुत स्पष्ट रूप में दिखे थे (सारी संगीतमयी आवाजें भी स्पष्ट सुनाई दी थीं), जिससे उसके मन में कई दिनों तक शान्ति छाई रही थी। २० वर्ष पूर्व, क्षणिकात्मज्ञान के बाद भी उसे कुछ रहस्यमयी व स्पष्ट स्वप्न आए थे। एक बार उसे दिखा कि लोगों की बड़ी भारी भीड़ एक पहाड़ी के ऊपर, पंक्तिबद्ध होकर चढ़ी जा रही थी, और उसके सभी लोग बारी-बारी से वहां एक गुफानुमा कक्ष में, एक सूक्ष्मदर्शीयंत्र में किसी परमसूक्ष्म परमाणु को

देखे जा रहे थे, तथा उस परमाणु को भगवान मानकर संतुष्ट व प्रसन्न हो रहे थे। हो सकता है कि वह देहपुरुष को इंगित कर रहा हो। उसी के आसपास, एक बार उसे विशाल अन्तरिक्ष के अन्दर, ब्रम्हांडीय पिंड विचित्र व आश्चर्य भरे तरीके से उड़ते हुए दिखाई दिए, जिसके साथ कोई अदृश्य आकाशीय पुरुष आश्चर्यमयी व रहस्यमयी विधि से मौखिक व्याख्या भी कर रहा था, जैसे कि "सृष्टि के निर्माण के प्रारंभ में बड़े-बड़े ग्रह साँय-साँय की आवाज करते हुए चलते थे"। वह दृश्य भी बहुत स्पष्ट व प्रभावशाली था। उपरोक्तानुसार, कुण्डलिनीजागरण से पहले वाले लक्षणों में, वह अपने को अर्धचेतन (stunned) जैसा अनुभव करता था। उसकी स्मरणशक्ति; मानसिक व शारीरिक क्रियाशीलता काफी घट गई थी। उसे अपना सिर घुमा हुआ सा महसूस होता था। वह अपने को नशे में जैसा महसूस करता था, व थका-थका सा रहता था। हो सकता है कि इन लक्षणों में कुछ योगदान उसके शारीरिक रोग (inflammatory disease) आदि का भी हो, परन्तु ये लक्षण कुण्डलिनी-क्रियाशीलता व परिपक्वता के साथ भी मेल खाते हैं। सबसे बड़ी परीक्षा/वास्तविकता की पहचान तो स्वानुभव से ही होती है। वह उन १- २ सालों में प्रचंड अद्वैतभाव वाले संघर्षपूर्ण व विकासपूर्ण जीवन के साथ अपनी द्वितीय कुण्डलिनी (वे वृद्ध पुरुष) को प्रचंडता से अनुभव कर रहा था। उन लक्षणों के कारण उसने चिकित्सालयों के दौरे किए, अपने मस्तिष्क का सीटी-स्केन (ct scan) करवाया व अन्य शारीरिक परीक्षण भी करवाए, यद्यपि सभी कुछ ठीकठाक निकला। चिकित्सक के परामर्शानुसार, वह अपनी शारीरिक शक्ति को कामचलाऊ बना कर रखने के लिए, कभी-कभार माँसाहार का सेवन भी करने लग गया था, शविदप्रेरित अद्वैतदृष्टिकोण के साथ (यद्यपि कुण्डलिनीजागरण से लगभग एक वर्ष पहले से, अज्ञात आत्मप्रेरणा से या योगसाधना के प्रभाव से, वह पूर्णरूप से शाकाहारी बन गया था)। माँसाहार से उसमें कुछ तमोगुण उत्पन्न हो जाता था, यद्यपि उससे उसके शरीर व मन के साथ ही, उसकी कुण्डलिनी भी पुष्ट हो जाया करती थी। तमोगुण तो उसका, शविद के चिंतन से स्वयं ही दब जाया करता था। उसने यह भी अनुभव किया कि आमिष भोजन से उत्पन्न उसके क्षुद्र पापकर्म, उसके जीवन में छुटपुट रूप में होने वाली देहहानिकारक व देहहानिचेतावनीकारक घटनाओं से शीघ्र ही नष्ट हो जाया करते थे, जिससे उसे तमोगुण के बोझ के एकदम से घटने का आभास स्वयं को भी होता था। इससे इस धारणा पर भी प्रश्नचिन्ह लगता है कि केवल शाकाहारियों की कुण्डलिनी ही जागृत हो सकती है। यद्यपि प्रेमयोगी वज्र ने क्षणिकात्मज्ञान होने तक किसी भी रूप में माँसाहार नहीं किया था। आमिषभोजन करने की आवश्यकता रखने वाले शरीरविज्ञानदार्शनिक तो आमिषान्न खाते हुए

भी यही भावना करते हैं कि वे अद्वैतनिष्ठ देहपुरुषों का ही भक्षण कर रहे हैं, जिन्हें न तो पीड़ा होती है, और न ही जिनकी मृत्यु होती है। इससे उनका अद्वैतमय दृष्टिकोण तीव्रता से पुष्ट हो जाता है। कुछ पाप तो उससे लगता ही है, कर्म-फल के सिद्धांतानुसार, यद्यपि उन पापरूपी कर्मों के फलों को भोगते हुए भी उनके अन्दर वही अद्वैतनिष्ठा छाई रहती है, उपरोक्त भावसमारोपण के सिद्धांतानुसार। इससे उनका अद्वैतदृष्टिकोण दुगुने वेग से वृद्धि करता है, और साथ में कुण्डलिनी भी, क्योंकि अद्वैतदृष्टिकोण व कुण्डलिनी साथ-साथ ही रहते हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि माँसाहार करने वाले साधारण पुरुषों में जो साँसारिक व्यावहारिकता की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा विद्यमान होती है, वह देहपुरुषों के अप्रत्यक्ष प्रभाव से ही उत्पन्न होती है। प्रेमयोगी वज्र ने भी माँसाहार से अपनी कुण्डलिनी को संतुलित व पुष्ट होते हुए महसूस किया। संभवतः वैसा उसके देहदेश के संतुलितपोषण, उसके नागरिक देहपुरुषों के अप्रत्यक्ष प्रभाव व शविद के प्रत्यक्ष प्रभाव (सीधे शविद-चिंतन से) के फलस्वरूप होता था।

योगशास्त्रों में उल्लेख आता है कि कुण्डलिनीयोग से पुराने समय में किए हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। वास्तव में, जिन कर्मों (प्रारब्ध) से यह वर्तमान योनि का मानवजीवन निर्धारित हुआ होता है, वे कर्म तो नष्ट न होते हुए, अपना फल प्रदान करके ही शाँत होते हैं (यद्यपि उनका प्रभाव बहुत कम अवश्य हो जाता है)। परन्तु जो कर्म संचितावस्था में, अवचेतन मन में पड़े हुए हैं, और जिनसे अगला जन्म निर्धारित नहीं हुआ है, वे कुण्डलिनीयोग से पूर्णतः क्षीण हो सकते हैं। कर्म वास्तव में अव्यक्तरूपी बीज की अवस्था में अवचेतन मन में पड़े रहते हैं, जैसा कि शविद में भी एक स्थान पर वर्णित किया गया है। कुण्डलिनीयोग के प्रभाव से जब सर्वाधिक अव्यक्त आत्मा भी कुण्डलिनी के रूप में जागृत हो जाती है, तब दूसरे व उससे कमतर अव्यक्त भाव (कर्मों के बीज) भी सोए हुए नहीं रह सकते, अपितु वे भी स्वप्नकाल में व्यक्तरूप में प्रकट होते रहते हैं, जिससे वे उसी तरह से नष्ट हो जाते हैं, जिस तरह से बीज अंकुरित हो कर नष्ट हो जाता है। क्योंकि वे संचित कर्म वर्तमान जन्म के लिए निर्धारित नहीं हुए होते हैं, अतः फल देने वाले वृक्ष के रूप में भी नहीं पनप पाते, अपितु केवल अंकुरित होकर, उसी तरह से भस्म हो जाते हैं, जैसे कि खेत के अवांछित खरपतवार आदि। कुण्डलिनीजागरण से पहले भी कुण्डलिनीयोग के द्वारा बहुत से संचितकर्म नष्ट हो जाते हैं। उन संचितकर्मबीजों पर आधारित स्वप्नों के अतिरिक्त, कुण्डलिनीयोगी को अन्य भी, अनेक प्रकार के स्वप्न आते रहते हैं, जैसे कि भविष्य में होने वाली घटनाओं का आभास कराने वाले या अन्यानेक कारणों से आने वाले स्वप्न। क्योंकि प्राचीनकाल में अधिकाँश लोग कुण्डलिनीयोगी

हुआ करते थे, अतः उस समय भविष्य का आभास कराने वाले स्वप्नों का बोलबाला हुआ करता था, जिससे स्वप्नशास्त्र का उदय हुआ।

इसी तरह से, साधारण अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर, स्विंग रिसाईटेशन (swing recitation), सबटल एनर्जी योग (subtle energy yoga) व क्लीयर लाईट योग (clear light yoga) का अभ्यास भी किया जा सकता है। प्रेमयोगी वज्र के अनुभव के आधार पर, इनकी आवश्यकता कम ही पड़ती है। मुख्य तो कुण्डलिनीयोग व यौनयोग ही हैं। उपरोक्त तीनों साधनाएं उन्नत तांत्रिक तकनीकों में प्रतिष्ठित हैं। ये सभी तांत्रिक साधनाएं पहले साधारण रूपों में की जाती हैं, फिर अभ्यास दृढ़ हो जाने पर, ये यौन-मुद्राओं के साथ की जाती हैं।

चेत् च्युतिना अगर्भकस्खलनं, तदा तस्य सूक्ष्मशक्तिः (तस्मिन् आरोपितं कुण्डलिनीचित्रं) यौगिकबन्धैः वज्रशिखायाः ऊर्ध्वदिशायां मस्तिष्कपर्यन्तं उन्नीयते। अनेन बिन्दुपतनं निवार्यते। वास्तवेन, कुण्डलिनीचित्रं एव बिन्दुः इति कथ्यते। अनेन भौतिकशक्तेः अपेक्षाकृतः अल्पतरह्रासः, यद्यपि कुण्डलिनीशक्तेः (समाधेः) परिपक्वतायां अकस्मात् वृद्धिः। तान्त्रिकयौनसंसर्गे पुरुषयौनस्रावः चिरकालपर्यन्तं न अवरोध्यते, अपितु तदोत्सर्जने पूर्णनियन्त्रणं स्थाप्यते। अधिकान्शतः यौनस्रावः योगिन्यः अगर्भकऋतुकाले उत्सृज्यते। संभवतः शिवलिङ्गस्य (शिव+लिङ्गस्य), अर्धनारीश्वरस्य शिवपार्वतयोः (शिवशक्तयोः) च अराधनाधारे तान्त्रिकरहस्यं एव। वज्रशिखरे कुण्डलिनीध्यानं तन्त्रस्य एकाद्भुतकला। यौनयोगे वज्रशिखरस्य पार्श्वक्षेत्रेषु यद्संवेदना, तेन् शक्तिस्खलनं जायते। तद्संवेदनायां कुण्डलिनीध्यानात् तद्बिन्दुस्खलनं बाधितं। तेन् कुण्डलिनी अतीव पुष्टा अपि च यौनसंतुष्टौ पूर्णता। एतद् अतीव शनैः-शनैः कर्तव्यं अपि च तदोपरि कुण्डलिनीध्यानकाले अतिसतर्कता आश्रयणीया, अन्यथा स्खलनसंभावना। महदभ्यासादेव अस्मिन् निपुणता। यदैव बिन्दुस्खलनं अति निकषा, तदैव वज्रस्य गतिः बाधितव्या कुण्डलिनी च बन्धैः उन्नीतव्या। पूर्णाभ्यासात् पूर्वं स्खलनसीमा न स्पर्शणीया, अपितु किञ्चिदेव संवेदनां अनुभूय, शान्तः भूत्वा कुण्डलिनी उन्नीतव्या। वज्रोद्भूतया तद्संवेदनया संपूर्णशरीरे एकरोमाण्चः उत्पद्यते। तन्त्रे बिन्दुरक्षणं निर्दिष्टं, यतोहि बिन्दुस्खलनात् वज्रः शिथिलः अनेकदिवसपर्यन्तं। अनेन तदोपरि कुण्डलिनीध्यानं न सुलभं। यदा वज्रे एव कुण्डलिनी न पुष्टा, तदा सा मस्तिष्के कथं पुष्टा भवितुं अर्हति, यतोहि वज्रादेव कुण्डलिनी मस्तिष्कं उपसरति। शब्दान्तरतः कुण्डलिनीवर्धकयन्त्रः किन्चिद्दिवसपर्यन्तं त्रुटिपूर्णः, यत् देहपुरुषाः पुनः साधयन्ति अपि, यद्यपि हानिपूर्तिः दीर्घकालपर्यन्तं न संभवा।

स्विन्गरिसाईटेशने (in swing recitation), तान्त्रिकः तद्प्रेमिका च यबयुमासने बद्धौ परस्परविपरीतक्रमेण श्वसतः। यदा तान्त्रिकः प्रश्वसति, तदा तस्य प्रेमिका निःश्वसति यदा च सः निःश्वसति तदा सा प्रश्वसति। निःश्वसन तान्त्रिकः परिकल्पयति यत् तस्य कुण्डलिनी तद्मूलाधारात् उत्पतन् तद्नासिकया बहिः निस्सरति, यां प्रेमिका स्वप्रश्वासेन आकर्षति स्वमूलाधारं च अवनयति। प्रेमिकायाः निःश्वसनेन सा कुण्डलिनी तद्मूलाधारात उत्पतन तद्नासिकया बहिः निस्सरति, यां तान्त्रिकः स्वप्रश्वासेन अन्तःप्रति आकर्षति स्वमूलाधारं च अवनयति। एवमेव एतद्क्रमम् असन्ख्यवारं विभिन्नाभिः गतिभिः च पुनः-पुनः कर्तुं शक्यते। तान्त्रिकप्रेमिका अपि स्वकुण्डलिनीं एवमेव उभयोः शरीरयोः मध्ये दोलायमानां पश्यन् तिष्ठति। एतद्प्रक्रिया कश्चिदपि चक्रावधिपर्यन्तं कर्तुं शक्यते।

सबटल एनर्जी योग/ इन्नर हीट योग (subtle energy yoga/inner heat yoga) में, नाभि चक्र पर यज्ञ करती हुई कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए। यह सत्य भी है, क्योंकि नाभि-क्षेत्र के देहपुरुषों का मुख्य काम ही अग्नि जलाकर भोजन को पकाना होता है, जिससे पूरे देहदेश के देहपुरुष भोजन कर पाते हैं। मन के सभी संकल्पों को उस अग्नि में दग्ध किया जाता है। वास्तव में संकल्प एक प्राणवायु का पुंज ही तो है, जो कि उस जठराग्नि को भड़काने में व्यय हो जाता है। मूलाधार से संकल्प-वायु उपरोक्त अग्नि के चुसाव द्वारा ऊपर खींच ली जाती है। वह वायु फिर नाभि के स्तर की ऊँचाई पर, मेरुदंड में स्थित अग्नि को भड़काती है। उस अग्नि की ऊंची लौ के साथ, वह संकल्प-वायु भी मेरुदंड के चक्रों से होते हुए, ऊपर की ओर उठती हुई मस्तिष्क में पहुँचती है। वहाँ पर ठंडी, अतः भारी होते हुए, आगे के चक्रों से होकर नीचे गिर जाती है। मूलाधार से वह फिर अग्नि द्वारा ऊपर खींच ली जाती है। इस तरह से कुछ चक्रों के बाद वह संकल्प-वायु शाँत हो जाती है। इस प्रकार सभी संकल्प शाँत कर लिए जाते हैं। इससे, उन संकल्पों की शक्ति लेकर, यज्ञ करती हुई मानवाकार कुण्डलिनी प्रवृद्ध हो जाती है। यौनतंत्र में मुख्य चक्र, मूलाधार व सहस्रार, ये दो ही होते हैं। उच्च साधक की कुण्डलिनी मस्तिष्क व मूलाधार के बीच में निरंतर झूलती रहती है। मूलबंध/उड्डीयानबंध लगाने पर वह मस्तिष्क में स्थित हो जाती है, व मूलबंध/उड्डीयानबंध को ढीला छोड़ने पर वह फिर से मूलाधार में स्थित हो जाती है। तभी तो कुण्डलिनी की उपमा उस नागिन से की गई है, जो कभी पूरा खुलकर अपना फन ऊपर को उठा लेती है, तो कभी कुंडल जैसा रूप बना कर संकुचित हो जाती है। क्लीयर लाईट योग उच्चतम कोटि का योग है। इसमें सभी संकल्पों/जगत को चिदाकाश में विलीन कर दिया जाता है। इन

आधारभूत तांत्रिक साधनाओं को साधक अपनी आवश्यकता व अनुकूलता के अनुसार, कुछ सीमा तक ढाल भी सकता है। मुख्य उद्देश्य व दिशा-निर्देशक बिंदु तो कुण्डलिनी को सुदृढ़ करना ही है। ये सभी साधनाएं पहले शुद्ध यौगिक रूप में सिद्ध की जाती हैं, फिर उन्हीं साधना-रूपों को तांत्रिक यौनसंसर्ग के साथ मिलाकर, पूर्णसमाधि व आत्मज्ञान की शक्ति, तीव्रता से प्राप्त की जाती है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि लगभग २० वर्षों के कर्मठतापूर्ण शविद के व एक वर्ष के साधारण कुण्डलिनीयोग के अभ्यास के बाद ही प्रेमयोगी वज्र यौनयोग में कुछ सफल हो सका। कर्मठतायुक्त शविद के आचरण से उसकी कुण्डलिनी लगभग एकसमान रूप से व मध्यम स्पष्टता के साथ, कुछ स्थिर/स्थायी व निरंतर जैसी हो गई थी, जबकि साधारण कुण्डलिनीयोग से उसमें स्पष्टता व दृढ़ता आई। यौनयोग से उसे अतितीव्र बल मिला, और वह जागरण की ऊँचाई तक पहुँच गई। कुण्डलिनी को पुष्ट किए बिना, सीधी तांत्रिकयौनक्रिया से लाभ की अपेक्षा हानि भी हो सकती है। संभवतः यौनयोग को कुण्डलिनीयोग के नियमित अभ्यास के बिना नहीं करना चाहिए, क्योंकि यौनांगों पर बन रहा, अत्यधिक काम के बोझ का दबाव, यौनचक्रों पर कुण्डलिनी के ध्यान से ही शाँत होता है। कुण्डलिनीयोग को यौनयोग के बिना भी किया जा सकता है, परन्तु वैसा करने पर सद्गृहस्थी को पूर्ण सफलता मिलना दुष्कर है, यद्यपि पूर्णत्यागी या संन्यासी व्यक्तियों को कुछ अधिक आसानी से इसमें सफलता मिल जाती है, क्योंकि उनके त्याग की शाँति के कारण उनमें ध्यान की दृढ़ता होती है, अतः उन्हें कुण्डलिनी-आरोहण के लिए यौनसंसर्ग जैसे बाहरी बल की आवश्यकता कम ही पड़ती है। वास्तव में गृहस्थीपुरुष के लिए कुण्डलिनीयोग की पूर्णता, यौनयोग में ही निहित प्रतीत होती है। द्वैताद्वैत दृष्टिकोण व कुण्डलिनीयोग के अभ्यास से जब कुण्डलिनी काफी परिपक्व हो जाती है, तब वह अपने आप को सहस्रार तक पहुंचाने वाले मुक्तिगामी वेग (escape velocity) को प्राप्त करने के लिए, यौनयोग की ओर स्वतः ही आकर्षित हो जाती है। कई बार, उस समय कुण्डलिनीसाधक व्यक्ति एक आम यौनरोगी/यौनलोलुप/यौनसनकी की तरह प्रतीत होता है, यद्यपि वह उसकी कुण्डलिनी के द्वारा सत्पथ की ओर ही प्रेरित किया जा रहा होता है। यदि उस समय उसे उपयुक्त यौनयोग/तंत्र या तंत्रशास्त्र आदि का ज्ञान न मिले, तो साधारण यौनसम्बन्ध से उसकी कुण्डलिनी अत्यधिक क्षीण भी हो सकती है, अथवा वह पथभ्रष्ट होकर यौनापराधी भी बन सकता है। कुण्डलिनी को यदि मुक्तिगामी वेग न मिले, तो वह तद्धारक व्यक्ति के जीवन भर, जागरण के बिना ही, उसके शरीर में मंडराती रह सकती है। यह उसी तरह से होता है, जिस तरह से अंतरिक्षयान को मुक्तिगामी वेग

(escape velocity) न मिलने से, वह धरती के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र को हरा कर, धरती की कक्षा से ऊपर नहीं जा पाता, और धरती के वातावरण के आसपास ही भटकता रहता है। कुण्डलिनीयोग के द्वारा कुण्डलिनी को चक्रों पर सुदृढ़ किया जाता है। यौनयोग के समय वही कुण्डलिनी, आग के शोलों की तरह भड़क कर, अत्यधिक स्पष्ट हो जाती है, जिससे अन्य फालतू विचारों का शोर भी थम जाता है। इसका अर्थ है कि कुण्डलिनीयोग यौनक्षति से बचाने वाले एक सुरक्षक घेरे व कुण्डलिनी को ऊपर उठाने वाले एक पम्प, दोनों की तरह ही काम करता है। संभवतः यौनयोग, "सब कुछ या कुछ नहीं" की तरह काम करता है। इसका अर्थ है कि यदि इस जीवन में, इसके द्वारा कुण्डलिनी जागृत नहीं हुई, तो इससे आत्महानि (नरकप्राप्ति) की संभावना है। यद्यपि ठीक ढंग से करने पर, यह योग अन्य सभी प्रकार के योगों की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है, और इसमें सफलता भी शीघ्रता से मिल जाती है। आत्महानि की संभावना फिर अत्यधिक कम हो जाती है, यदि इसके साथ गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो, इसे एकपत्नीव्रत के साथ किया जाए व इसे उन्हीं, एक ही पत्नीदेवी तक सीमित रखा जाए। यौनयोग से हानि का भय संभवतः इसीलिए होता है, क्योंकि इससे आदमी मस्त जैसा, आत्मानंद से भरपूर जैसा व अद्वैतनिष्ठ सा (trans state) हो जाता है। इस वजह से उसमें निष्ठा, लगन, जुझारूपन व उत्तरदायित्व जैसे साँसारिक गुण उतने अधिक प्रकट नहीं रहते, जितने कि एक आम साँसारिक/कर्मजीवी मनुष्य में होते हैं। यौनयोग से, कुछ प्रत्यक्ष रूप से व कुछ उससे उत्पन्न मस्तमौलेपन से, एक व्यक्ति में कुछ न कुछ सामर्थ्यहीनता तो रहती ही है। इसलिए यदि वह यौनयोग से कुण्डलिनीजागरण नहीं कर पाता है, तो संतोषजनक साँसारिकता से भी वंचित रह जाता है, और आध्यात्मिकता से भी। यद्यपि वह उन नशेड़ी व आलसी प्रकार के लोगों से तो अच्छा ही होता है, जो साथ में रंगीनता का आनंद भी नहीं ले पाते, और संसार को भी नहीं सुहाते। योगहीन यौनसंसर्ग के समय, शरीर के विभिन्न स्थानों (यौन-क्षेत्र, हृदय-क्षेत्र, नाभि-क्षेत्र, ग्रीवा-क्षेत्र, मस्तिष्क-क्षेत्र) पर, व्यायाम के साथ, प्रचंडता से ध्यान जाता है, जिससे वहाँ पर मन के अच्छे-बुरे सभी भाव प्रगाढ़ता के साथ अनुभूत होते हैं। परन्तु इसके विपरीत, यौनयोग में केवल कुण्डलिनी का ही ध्यान करने से, सभी विचारों की शक्ति केवलमात्र उस कुण्डलिनी को लगती है, और वह अत्यधिक पुष्ट हो जाती है। यह भी एक सिद्धांत है कि जिस क्षेत्र में मन केन्द्रित हो जाता है, वह क्षेत्र पुष्टता को प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ के लिए रक्तप्रवाह बढ़ जाता है। इसी सिद्धांत से, कुण्डलिनीयोगमिश्रित यौनयोग से पूरा शरीर पुष्ट हो जाता है, क्योंकि कुण्डलिनी-चक्र (७ पूर्वोक्त चक्र) पूरे शरीर के आधार बिंदु हैं। इसी तरह से, साधारण

कुण्डलिनीयोग में भी विभिन्न चक्रों पर कुण्डलिनी का ध्यान किया जाता है, व्यायाम के साथ। इससे कुण्डलिनी कुछ अधिक स्पष्ट व प्रगाढ़ हो जाती है। इसका अर्थ है कि कुण्डलिनीयोग, यौनयोग का ही कुछ निम्नतर शक्ति वाला, परन्तु कुछ उच्चतर सामाजिकता वाला रूपांतरण है। यौनयोग के बिना, केवल साधारण कुण्डलिनीयोग या अप्रत्यक्षतंत्र या दोनों का युग्मितरूप विशेषतः उनके लिए है, जो यौनयोग करने में अस्मर्थ हैं, जैसे कि वृद्ध, अस्वस्थ, बालक, अविवाहित व ब्रम्हचारी आदि।

साधारणयौनसम्बन्ध का वह प्रभावशाली रोमांच, वह दुनिया जीतने की मंशा रखने वाली उमंग, वह महान सत्ता-गौरव का अहसास आदि-आदि सभी विलक्षण व समस्त लोकों में सर्वाधिक सुखप्रद माने जाने वाले, जो भी दिव्य अनुभव व क्रियाकलाप होते हैं; वे सभी, यौनयोग के प्रभाव से कई गुना अधिक वृद्धि को प्राप्त करते हैं, तथा साथ में कुण्डलिनी को भी पुष्ट करते हैं। यौनयोग से धीरे-धीरे सकारात्मक परिवर्तन महसूस होने लगते हैं। मन में ताजगी व उमंग छा जाती है। काम करने का उत्साह व काम करने की लगन बहुत बढ़ जाती है। योगी का मस्तमौलापन बढ़ने लगता है। वह दुनियादारी को मस्ती व ख़ुशी के साथ निपटाने लगता है। कोई बात उसके दिल पर नहीं लगती, अर्थात वह किसी भी बात का बुरा न मानते हुए, कुढ़ता नहीं है, अपितु अपने आप में खुश रहता है, क्योंकि उसमें हृदय-ग्रंथि (दिल की गाँठ) खुली हुई होती है। वह एक मस्त बच्चे की तरह हो जाता है। बच्चा तो अज्ञानी व अकर्मक होता है, परन्तु उसमें ज्ञान व कर्म के साथ ही मस्ती विद्यमान रहती है। कुण्डलिनी की स्पष्टता व उससे जुड़ा आनंद बढ़ने लग जाता है। कुण्डलिनी की गंध भी अनुभव होने लगती है। फिर कुण्डलिनी की आवाज भी, बहुत हल्के व सूक्ष्म रूप में, कभी-कभी अनुभव होने लगती है। उसके व्यक्तित्व का आकर्षण बढ़ जाता है। उसकी प्रेमिका (consort) के साथ, अन्य परिचित-अपरिचित लोग भी उसके प्रति प्रेम, लगाव व आदर का भाव रखने लग जाते हैं। इस प्रकार के निष्ठापूर्ण यौनयोग से, उसकी कुण्डलिनी उसके मस्तिष्क में पूरी तरह से व्यक्त व जीवंत जैसी प्रतीत होती है, और कभी भी जागृत हो जाती है। वास्तव में यौनयोग के बिना, यौनसम्बन्ध का पूर्ण आनंद व पूर्ण लाभ, प्राप्त ही नहीं किया जा सकता। यौनचक्रों व मस्तिष्क के बीच में सीधा व प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। कुण्डलिनी को मस्तिष्क में स्थापित करने का कार्य जितनी शीघ्रता से यौनचक्र करते हैं, उतनी शीघ्रता से अन्य चक्र नहीं करते। यौनचक्र अत्यधिक ऊर्जावान होते हैं। यौनचक्रों से कुण्डलिनी सीधे व एकदम से मस्तिष्क में पहुँच जाती है। इन सभी का प्रत्यक्ष अनुभव प्रेमयोगी वज्र को, प्रत्यक्षतंत्र व अप्रत्यक्षतंत्र, दोनों ही के समय हुआ।

उपरोक्तानुसार, प्रेमयोगी वज्र ने २० वर्षों के, शविद के भरपूर, व्यावहारिक व कर्मठतापूर्ण अनुशीलन के बाद, जब कुण्डलिनीयोग का नियमित अभ्यास करना शुरु किया, तो वह लगभग १ वर्ष में ही सफलता के निकट पहुँच गया। इसका तात्पर्य है कि यदि लम्बे समय तक देहपुरुष की तरह द्वैताद्वैत व अनासक्ति से भरा हुआ अपना मानव जीवन, पूरी तत्परता, कर्मठता, युक्तियुक्तता व हर्षोल्लास के साथ जिया जाए, तो मन जीवन से पूर्णतया संतुष्ट हो जाता है, और उसमें जीवन जीने की गहरी इच्छा (craving) नहीं दबी रहती। इससे कुण्डलिनीयोग में भी अच्छी तरह से मन लगता है, जिससे सफलता भी शीघ्र मिल जाती है। प्रेमयोगी वज्र ने यह भी अनुभव किया कि आम दुनियादारी के बीच में, लम्बे समय तक धारण की गई अद्वैतनिष्ठा के साथ कर्मयोग का आचरण (लगभग औसतन १५- २० वर्ष तक) करने के उपरांत यदि निवासस्थान का परिवर्तन (लगभग औसतन १-४ साल के लिए) हो जाए, तो नए स्थान पर कुण्डलिनी योग व यौनयोग करने से कुण्डलिनीजागरण की संभावना अत्यधिक रूप से बढ़ जाती है। इसीलिए तो प्राचीन भारत में पूरी आयु भर कर्मयोगी बन कर, जीवन के उत्तरार्ध में ज्ञान के लिए वन को प्रस्थान करने की प्रथा विद्यमान थी। इसका सीधा सा अर्थ है कि लम्बे समय की कर्मसम्मुखता के बाद, जब कोई व्यक्ति किसी कारणवश कर्मों से विमुख होकर, शाँत हो जाता है, तब उसकी बाह्यगामी शारीरिक ऊर्जा अंतर्गामी होकर, मानसिक बन जाती है, और कुण्डलिनीजागरण को उत्पन्न करती है। परन्तु ऐसा तभी होता है, जब अद्वैत के अभ्यास से उस व्यक्ति की कुण्डलिनी पहले से ही पुष्ट हो, और शाँतिकाल प्राप्त होने पर वह व्यक्ति कुण्डलिनीयोग का अभ्यास करे, अन्यथा उसकी अंतर्मुखी मानसिक ऊर्जा कुण्डलिनी के ऊपर केन्द्रित नहीं हो पाती, और इधर-उधर के विचारों/क्रियाकलापों में बिखर कर नष्ट हो जाती है। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी तो पूर्णतया ऐसा ही हुआ था। आजकल भी तो ऐसा ही हो रहा है। अधिकाँश लोग भौतिकवाद से थककर व ऊबकर, वापिस अपने मन के घौंसले में लौट रहे हैं, और यही कारण है कि आजकल आत्मजागरण के मामले बढ़ रहे हैं।

यौनयोग के बारे में भ्रमित होने की अत्यधिक संभावना होती है। वास्तव में यह साधारण यौनसंसर्ग की तरह नहीं लगता, अपितु उससे बिल्कुल विपरीत लगता है। यौनयोग तो पूजा-अर्चना/अराधना/जप-तप/स्वाध्याय/व्रत-उपवास (कुण्डलिनी के लिए) आदि आध्यात्मिक गतिविधियों की तरह लगता है। बहुत से लोग भ्रम से अपने आप को यौनयोगी समझते हैं, परन्तु वास्तव में, उनमें से अधिकाँश लोग आत्महानिकारक साधारण यौनसंसर्ग में डूबे हुए होते हैं।

यौनयोग के लिए दोनों अंतरलैंगिक योगियों का मन शाँत, थकानरहित, तनावरहित, पर्याप्त समय-शक्ति की उपलब्धता के साथ व स्पष्ट मानसिक समाधिचित्र (कुण्डलिनी) के साथ होना चाहिए। दोनों का ही, यौनयोग करने का एकमात्र उद्देश्य कुण्डलिनीजागरण होना चाहिए, जो किसी भी रूप में मन में प्रतिक्षण बसा होना चाहिए। महान तंत्रज्ञों व तंत्रशास्त्रों के द्वारा निर्धारित सर्वसाधारण नियमों का ज्ञान होना चाहिए, और उनका पालन भी किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, पूर्वोक्तानुसार, लोकमर्यादा का पूरा ध्यान रखते हुए, इसमें स्त्री को देवी की तरह पूज्य माना जाता है ओर किसी की धर्मभार्या व पुत्री को प्रेमिका (consort) नहीं बनाया जाता, क्योंकि इनको औरों की भावनात्मक संपत्ति के अंश के रूप में समझा जाता है। जहाँ तक हो सके, प्रेमिका (consort) /धर्मपत्नी को बदलने की अपेक्षा अन्य समस्याओं को दूर किया जाता है। यौनयोग में सम्मानयुक्त व मर्यादित विचारों, शब्दों व क्रियाकलापों का ही प्रयोग किया जाता है। कुण्डलिनीजागरण की सर्वाधिक प्रेममयी, मर्यादित व सर्वश्रेष्ठ विधि तो एकपत्नीव्रत के साथ यौनयोग ही है, जिसको अपनाकर ही प्रेमयोगी वज्र को कुण्डलिनीजागरण का त्वरितरूप से अनुभव हुआ। ऐसी अत्यावश्यक पूर्वौपचारिकताओं के पूरे न होने पर, आत्मसंयम में क्षीणता विद्यमान रहती है, जिससे यौनयोग के साधारण या निम्नस्तर के यौनसम्बन्ध में परिवर्तित होने की संभावना बनी रहती है। फिर भी, किसी भी रूप में मर्यादित यौनयोग, कुछ न कुछ तो लाभदायक है ही। इसमें व्यक्ति खुला हुआ (open minded) व मस्त-मौला होना चाहिए, “वसुधैव कुटुम्बकम्” को व्यावहारिक रूप में चरितार्थ करने वाला; संकीर्ण सोच वाला नहीं। यौनसम्बन्ध में जहाँ आत्मग्लानि का भाव होता है, वहीं यौनयोग में आत्मगौरव का भान होता है। यौनसम्बन्ध में जहाँ अवसाद या मानसिकताहीनता होती है, वहीँ यौनयोग में मानसिकतापूर्णता होती है। यौनसम्बन्ध में जहाँ घृणा का भाव भी विद्यमान होता है, वहीँ यौनयोग में लेशमात्र भी घृणा नहीं होती, अपितु यौनसंबंध से कई गुना अधिक प्रेम विद्यमान होता है। यौनसंबंध में जहाँ एक-दूसरे को नीचा दिखाने का भाव होता है, वहीँ यौनयोग में एक-दूसरे के प्रति आदर का भाव होता है। यौनसंबंध में जहाँ केवल अपनी प्रसन्नता व सुविधा को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है, वहीँ यौनयोग में एक-दूसरे की प्रसन्नता व सुविधा के ऊपर समान रूप से ध्यान दिया जाता है। यौनसंबंध के समय जहाँ साँसारिकता व भ्रम से भटके हुए मन का आश्रय लिया जाता है; वहीँ यौनयोग के समय गुरु, वेद-पुराणों, शास्त्रों, शविद, देवताओं व कुण्डलिनी आदि के एकाग्रमयी ध्यान से भरे हुए मन का आश्रय लिया जाता है। यौनसंबंध जहाँ नकारात्मक व अज्ञानमयी सोच

को बढ़ाता है, वहीँ यौनयोग सकारात्मक व ज्ञानमयी सोच को बढ़ाता है। यौनसंबंध के बाद जहाँ संसार की क्षणिक व भ्रमयुक्त चमक-दमक बढ़ती है, वहीँ यौनयोग के बाद आत्मा की स्थायी व स्थिर चमक बढ़ती है। यौनसंबंध जहाँ बंधन की ओर ले जाता है, वहीँ यौनयोग मुक्ति की ओर ले जाता है। यौनसंबंध जहाँ क्षणिक लाभ प्रदान करता है, वहीँ यौनयोग स्थायी लाभ प्रदान करता है। जहाँ यौनसम्बन्धी से घृणा के कारण लोग उससे दूर हटने लगते हैं, वहीँ यौनयोगी से लोग प्रेम के कारण आकर्षित होने लगते हैं। यौनसंबंध से जहाँ दुर्भाव विशेषतः हिंसकभाव उत्पन्न होते हैं, वहीँ यौनयोग से सद्भाव विशेषतः अहिंसकभाव उत्पन्न होते हैं।

भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक व शारीरिक रूप से, यौनयोग साधारणयौनसम्बन्ध की तरह ही होता है, यद्यपि मानसिक दृष्टिकोण, निर्धारित लक्ष्य तथा शारीरिकक्रियाविधि की भिन्नता के साथ। साधारण यौनसम्बन्ध में सर्वसाधारण जीवों की तरह का लौकिक, आसक्तिमय व द्वैतमय दृष्टिकोण विद्यमान होता है; जबकि यौनयोग में अनासक्तिमय व अद्वैतमय दृष्टिकोण होता है। इसी तरह, साधारण यौनसम्बन्ध में सर्वसाधारण एवं लौकिक लक्ष्य मन में होते हैं, जबकि यौनयोग में कुण्डलिनीजागरण का लक्ष्य मन में होता है। साधारण यौनसम्बन्ध सर्वसाधारण लौकिकविधि से बनाए जाते हैं, जबकि यौनयोग शास्त्रीयविधि व शास्त्रीयमर्यादा के साथ किया जाता है। इसी तरह से, साधारण यौनसंबंध में यौन-ऊर्जा, अनेक प्रकार के विचारों में विभक्त हो जाती है, जबकि यौनयोग में सारी यौन-ऊर्जा एक ही मानसिक कुण्डलिनी-चित्र को प्रज्वलित करती है, जिससे उसके जागृत होने की सम्भावना अत्यधिक बढ़ जाती है।

अन्य व्यक्तियों की संतानों की अपेक्षा अपनी संतानों से जो अत्यधिक प्रेम होता है, वह यौनसंसर्ग के कारण ही तो होता है। यौनसंसर्ग में इतनी अधिक शक्ति होती है कि वह चित्र-विचित्र लोकों व योनियों से आए हुए अपने पुत्रों के प्रति इतना अधिक स्नेह व आकर्षण उत्पन्न कर देता है, बेशक वे पिछले जन्मों में घोर शत्रु ही क्यों न रहे हों। इसी तरह से, यौनसंसर्ग में अदृश्य (अव्यक्त) आत्मा को संतान के रूप में प्रकट करने की शक्ति होती है। यही शक्ति जब अदृश्य कुण्डलिनी को जीवित (जागृत) करने के लिए प्रयोग में लाई जाती है, तब यह साधारण यौनप्रक्रिया, प्रभावशाली यौनयोग के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसमें यौनसंसर्ग को कुण्डलिनीयोग की तरह करते हुए, कुण्डलिनी का विधिवत ध्यान किया जाता है, जिससे सुप्त कुण्डलिनी सर्वाधिक शीघ्रता से जागृत हो जाती है। तंत्रयोग के इसी सिद्धांत के अनुसार ही, धर्मविवाह के अवसर पर वेदों, देवताओं, गुरुओं, मित्रों व सम्बन्धियों का विधिवत सत्कार व

स्मरण किया जाता है, ताकि पूरे जीवनभर आध्यात्मिकता व भौतिकता का उचित स्तर बना रहे। संभवतः प्राचीन भारत में इसीलिए गुरु की व बड़े-बुजुर्गों की रुचि की स्त्री से विवाह किया जाता था, ताकि वह स्त्री तंत्रयोग के माध्यम से, उनके रूप की कुण्डलिनी को पुष्ट किया करती। यौनसंसर्ग के सम्बन्ध से घोर शत्रु भी आपस में परम मित्र बन जाते हैं। इसी वजह से यह प्राचीनकाल से लेकर, राजनीति का एक सर्वश्रेष्ठ हथियार सिद्ध होता आया है। राजनैतिक, आर्थिक, पारिवारिक, साँस्कृतिक व अन्य वर्गसम्बंधित स्वार्थों को लक्ष्य में रखकर परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी इसी कड़ी का एक हिस्सा है। अपवादस्वरूप, अवैध संबंधों के कारण जो अन्यायपूर्ण हिंसा होती है, वह क्रोध में, बहकावे में आकर, समाज को पाठ पढ़ाने के नाम पर, बलपूर्वक, हृदय के ऊपर पत्थर रखकर व प्रकृति के विरुद्ध जा कर की जाती है। यह सर्वथा अमान्य व निंदनीय कृत्य है, क्योंकि यौनसंसर्ग के प्रभाव से वे हिंसाएँ वीभत्स हो जाती हैं, व उनके परिणामस्वरूप, उनसे उत्पन्न पाप भी कई गुना बढ़ जाता है। सीधी सी बात है कि यौनसंसर्ग के प्रभावक्षेत्र में जो कुछ भी आता है, चाहे वह दैवीय कुण्डलिनी हो या फिर राक्षसी आचार-विचार, उसका प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। यौनसंसर्ग एक सर्वाधिक अद्भुत व रहस्यमयी जीवलीला है, जिस पर संकोचवश व अन्यानेक सामाजिक कारणों से पर्याप्त व निष्पक्ष शोध नहीं हुए हैं। वैसे इसका रहस्य तंत्रशास्त्रों में बखूबी छिपा हुआ है। यौनसंसर्ग को यदि नियमित रूप से किए जाने वाले कुण्डलिनीयोग के साथ होने दिया जाए, व उसे तांत्रिक विधि से किया जाए, तो यह कुण्डलिनी की क्रियाशीलता व उसके जागरण में सर्वाधिक सहयोग करता है। परन्तु यदि यौनसंसर्ग को कुण्डलिनीयोग के नियमित अभ्यास के बिना व तांत्रिक विधि के बिना किया जाए, तो कुण्डलिनी को नष्ट करने में, सर्वाधिक अहम भूमिका भी यही निभा सकता है।

वास्तव में यौनसंसर्ग के प्रति भूख भी कुण्डलिनीजागरण के प्रति भूख का ही एक रूप है। कोई भी साधारण व्यक्ति यौनसंसर्ग का आश्रय, एक ऐसे आनंदरूपी अनुभव के लिए लेता है, जिसके आगे शेष सभी आनंदमयी अनुभव फीके पड़ जाएं। कुण्डलिनीजागरण भी ऐसा ही एक महान आनंद है, जो यौनसंसर्ग के आनंद से भी कहीं अधिक बड़ा होता है, परन्तु आम आदमी को यौनसंसर्ग ही सबसे बड़ा आनंद लगता है। दोनों ही प्रकार के अनुभवों के बीच में बहुत समानता होती है। वास्तव में, यौनानंद धीरे-धीरे बढ़ता हुआ, स्वयं ही समाधि-आनंद बनने की ओर अग्रसर होता रहता है, परन्तु अधिकाँशतः ऐसा नहीं हो पाता। इसके मुख्य कारण हैं, तांत्रिक विधि के द्वारा यौनसंसर्ग न करना, कामोन्माद (orgasm) को अधिकाधिक दिनों तक न बना कर रखना,

मानसिक समाधि-चित्र का चिन्हित न होना, कुण्डलिनीयोग से नियमित ध्यान न करना, यौनसंसर्ग को यौनयोग (यौनसंसर्ग+कुण्डलिनीयोग) की तरह न करना तथा प्रेमिका (consort) के प्रति, विशेषतः उसके बाहरी रूपाकार के प्रति आसक्ति होना। प्रेमयोगी वज्र को यौनसंसर्ग से भी, उस क्षणिकात्मज्ञान की झलक का हल्का सा प्रभाव महसूस हुआ करता था। उसे यौनानंद व कुण्डलिनीजागरण के आनंद की प्रकृति के बीच में, अपेक्षाकृत रूप से अधिक निकटता अनुभव हुई, यद्यपि आनंद के स्तर में अंतर होना तो स्वाभाविक ही था। यौनसंसर्ग के बाद उसे अपनी कुण्डलिनी की क्रियाशीलता बढ़ी हुई प्रतीत होती थी। उसे कुण्डलिनीजागरण, यौनसंसर्ग का ही एक परिष्कृत, आध्यात्मिक/तांत्रिक, मानवीय व उच्च शक्ति वाला रूपांतरण प्रतीत हुआ था। इसी तरह से, उसे क्षणिकात्मज्ञान के बाद भी अपना रूपांतरण अनुभव हुआ था, व यौनयोग के बाद भी।

अदृश्य/इन्द्रियातीत कुण्डलिनी (देवता,गुरु आदि) के निरंतर ध्यान से साधक की मानसिक शक्ति पूर्णरूप से प्रस्फुटित/क्रियाशील रहती है। इससे कुण्डलिनी वास्तविक/भौतिक प्रतीत होती है। जब कालांतर में किसी वास्तविक प्रेमी से सामना होता है, तब उस प्रेमी का मानसिक चित्र वास्तविक से भी ज्यादा वास्तविक, अर्थात महावास्तविक प्रतीत होता है। इससे शारीरिक मोह से अछूते रहते हुए भी (बिना भौतिक संयोग के ही मानसिक चित्र को धारण करने की आदत तो योगादि से पहले से ही पड़ी होती है), उसके मन में प्रेमी के प्रति महान आकर्षण पैदा हो जाता है, और उसका मन उस मानसिक चित्र में समाधिस्थ हो जाता है। इसीलिए बालपन से ही साधना करने के लिए व साधकों की संगति करने के लिए प्रेरित किया जाता है, ताकि किशोरावस्था के प्रारम्भ में, ऊर्जा का उफान होने पर, जब उस साधक का रोमांटिक आदि प्रकार के वास्तविक प्रेमी से सामना होए, तब वह बिना किसी शारीरिक संपर्क के ही समाधि में स्थित हो जाए, और अपने को पूर्ण कर ले। इससे दोनों ही विपरीत लक्ष्य एकसाथ प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात सामाजिकता भी बनी रहती है, व तंत्रसम्मत साधना का फल भी मिल जाता है। वास्तव में योग-साधना व यौनसंसर्ग, दोनों ही आध्यात्मिक रूप से कुछ समानता साझा करते हैं। योग-साधना यौनसंसर्ग की कमी को अधिकाँशतः पूरा कर देती है, तभी तो बहुत से योगी लोग आजीवन ब्रम्हचारी बन कर रह पाते हैं। वास्तव में लोग समाधि की झलक प्राप्त करने के लिए ही यौनसंसर्ग का आश्रय लेते हैं। हालांकि यह सौदा बहुत महँगा पड़ता है। यदि बालपन से ही योग-साधना की आदत पड़ जाए, तो किशोरावस्था में यौनापराध से बचा जा सकता है। यदि साधनारत बालक, अपनी किशोरावस्था

में अप्रत्यक्ष रूप से यौनाकर्षण का अनुभव करता है, तो उसकी प्रतिदिन की साधना एकदम से प्रज्वलित होकर उसे आत्मज्ञान तक ले जाती है। पूर्ववर्णनानुसार, प्रेमयोगी वज्र के साथ भी तो ठीक ऐसा ही हुआ था।

यौनसंसर्ग एवं यौनयोग, दोनों ही बाह्यदृष्टि से समान हैं, क्योंकि दोनों ही आत्मजागरूकता के साथ उत्कृष्ट मानसिकता को उत्पन्न करते हैं, परन्तु साधारण यौनसंसर्ग में यह मानसिकता/आत्मजागरूकता बिखरी हुई, बहुमुखी व बहिर्मुखी होती है; जबकि यौनयोग में यह कुण्डलिनी को महत्त्व देते हुए एकाग्रमुखी व अंतर्मुखी होती है, या केवल कुण्डलिनी तक ही पूर्णतया सीमित कर दी जाती है, जिससे शीघ्र ही कुण्डलिनी जागृत हो जाती है (अभ्यास के समय की स्वप्नवत चित्र की अवस्था से ऊपर उठकर, जागृतावस्था के भौतिक व स्थूल चित्र से भी अधिक व्यक्तरूप में अनुभव हो जाती है)। इसका यह अर्थ भी है कि जो-जो मानवीय वस्तुएँ व जो-जो मानवीय भाव उच्च मानसिकता को उत्पन्न करते हैं, वो-वो सारे ही कुण्डलिनीजागरण में भी सहायक होते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य बात है कि अमानवीयस्त्रोतों से उत्पन्न मानसिकता से तमोगुण के साथ द्वैत उत्पन्न हो जाता है, जो कुण्डलिनी को हानि पहुंचाता है। इसका अर्थ है कि कुण्डलिनीयोगी यदि मानवता व मानसिकता से भरे हुए कर्मों-फलों का आश्रय ले, तो शीघ्रता से कुण्डलिनीलाभ प्राप्त करता है। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी तो ऐसा ही हुआ। उसे सेवा, संगीत, मित्रता, लेखन, प्रेम, मेल-मिलाप, प्रणयसम्बन्ध, यौनसम्बन्ध आदि लौकिक/मानवीय कृत्यों से जो भी मानसिकता प्राप्त हुई, उसका प्रयोग उसने कुण्डलिनीयोग के माध्यम से कुण्डलिनी को उठाने के लिए किया। ऐसा वह तभी कर पाया, जब उपरोक्त लौकिककृत्यों को करते हुए, उसने देहपुरुष के द्वारा अपनाई जाने वाली द्वैताद्वैतनिष्ठा को अपनाकर, अपनी कुण्डलिनी को जीवित रखा। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति अपने मन में कुण्डलिनी को जीवित रखे बिना उच्च मानसिकता को बना कर रखता है, तो इससे स्वाभाविक प्रतीत होता है कि उससे कुण्डलिनी पुष्ट नहीं होती, अपितु आत्मविभ्रम में ही वृद्धि होती है। लगता है, इसी मानसिक कुण्डलिनी को जीवित रखने के लिए ही सभी धर्मों में नियमित साधना के ऊपर विशेष बल दिया गया है। साधना व्यक्तिगत भी हो सकती है। उदाहरण के लिए, बहुत समय तक प्रेमयोगी वज्र को पृथक रूप से धार्मिक साधना करने का समय नहीं मिला, परन्तु जो वह शविद का निर्माण कर रहा था, वही उसकी साधना बन गई, क्योंकि उसके द्वैताद्वैत के प्रभाव से उसकी कुण्डलिनी उसके मन में लगभग निरंतर ही विद्यमान रहती थी। इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अद्वैत को पुष्ट करने से कुण्डलिनी स्वयं ही पुष्ट हो

जाती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी को पुष्ट करने से अद्वैत स्वयं ही पुष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक कुण्डलिनी बसी होती है, क्योंकि सभी को मानसिक आनंद के लिए एक विश्वसनीय व बलवान स्रोत की आवश्यकता होती है, जो कि भौतिकन्यूनता व द्वैताद्वैतनिष्ठा के समय काम आए, परन्तु बहुत कम लोग ही अपनी उस कुण्डलिनी को महत्त्व देते हैं, या उसे पहचानते हैं। संभवतः वही कुण्डलिनी अनेक प्रकार की भौतिक लाचारियों, जैसे कि बुढ़ापे, बीमारी, कमजोरी, समाजबहिष्कृति आदि अवस्थाओं में व्यक्ति को आश्रय प्रदान करती है। वही कुण्डलिनी व्यक्ति को देहावसान के बाद, तब तक सहारा देती है, जब तक उसे कोई निर्धारित भौतिकशरीर या फिर मोक्ष नहीं मिल जाता।

शविद व वेदों-पुराणों के पीछे भी कुण्डलिनीसिद्धांत ही काम करता है, क्योंकि उनमें वर्णित देहपुरुषों व देवताओं की अराधना करते समय, मन की कुण्डलिनी उनके ऊपर आरोपित हो जाती है (क्योंकि इन्द्रियातीत देवताओं को इन्द्रियातीत/मानसिक कुण्डलिनी का स्वरूप स्वयमेव मिल जाता है), और वह पुष्ट हो जाती है। हिंदुदर्शन में अधिकाँश स्थानों पर जो लिखा है कि इन्द्रियों के बहकावे में न आओ, मोहमाया के बहकावे में न आओ, त्याग करो, सादगी से बर्ताव करो आदि-आदि; वह सब कुछ कुण्डलिनीजागरण की ओर ही इशारा करता है। वास्तव में कुण्डलिनीजागरण के बाद उपरोक्त जैसे सभी गुण स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह, देवता को या गुरु को जीवन का आधार इसीलिए माना जाता है, क्योंकि वही तो मन में विकसित होकर, कुण्डलिनी बन जाते हैं, जो जीवन का सर्वश्रेष्ठ आधार है। पुस्तक में यह सिद्ध भी हो गया है कि व्यायाम का, कर्म का व यौनता का आधार कुण्डलिनी ही है। जीवन वास्तव में व्यायाम, कर्म व यौनता ही से तो बना है। वास्तव में, गुरु या देव के रूप वाली कुण्डलिनी को मन में धारण करके रखना ही शिष्ट समाज में स्वीकार्य होता है, यौनप्रेमी के रूप वाली कुण्डलिनी को रखना नहीं। यौनप्रेमी की कुण्डलिनी को धारण करना व्यभिचार की श्रेणी में माना जाता है।

वैसे तो प्रेमयोगी वज्र का, अपनी द्वितीय कुण्डलिनी के भौतिक रूप के साथ सम्बन्ध, उसके अपने जन्म से लेकर था, व शविद के सहयोग से, वह कुण्डलिनीरूपी मानसिक चित्र उसके मन में लगभग पूर्वोक्त २० वर्षों से लेकर, बीच-बीच में कौंध जाया करता था। शविदनिर्माण के प्रारम्भ में, एकबार प्रेमयोगी वज्र भी परमात्मा की दिव्य करुणा के कारण, यौनापराध से बाल-बाल बच गया था, क्योंकि उस समय उसमें आत्मज्ञान का तनिक प्रभाव भी शेष था। उसे उस समय कुण्डलिनीयोग व यौनसंसर्गयोग, दोनों का किसी भी प्रकार से ज्ञान नहीं था, फिर भी वह अज्ञात

प्रेरणा से, अप्रत्यक्ष रूप से (अनजाने में ही) यौनसंसर्गयोग के बहकावे में आ गया था। अतः साधारण मामलों में यह योग योग्य गुरु व उचित विधि के मार्गदर्शन में ही दुष्प्रभाव से रहित हो सकता है। इसका ज्ञान केवल तीव्र जिज्ञासु व सुपात्र पुरुष को ही देना चाहिए। इससे अनभिज्ञ लोगों के साथ तो यौनसंसर्गयोग से सम्बंधित हंसी-ठिठोली भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे लोग इसका विपरीत अर्थ निकाल सकते हैं, व इस विद्या का दुरुपयोग कर सकते हैं। अधिकाँश लोगों को यह भ्रम होता है कि तांत्रिक यौनयोग से साँसारिक कार्य दुष्प्रभावित होते हैं। उन्हें यह भ्रम इसलिए होता है, क्योंकि वे यौनयोग की तुलना साधारण यौनसम्बन्ध से करने लगते हैं। वास्तव में, इन दोनों के बीच में आकाश-पाताल का अंतर है। वे यौनयोगी की तुलना एक साधारण संन्यासयोगी से भी करने लगते हैं, क्योंकि वे दोनों बाहर से एक जैसे दिखाई देते हैं, यद्यपि अन्दर से तंत्रयोगी/यौनयोगी हरफनमौला (all-rounder) होते हैं। वास्तव में यौनयोग एक प्रचंड ऊर्जा है। यह ऊर्जा आध्यात्मिक व आधिभौतिक, दोनों क्षेत्रों की प्रगति में अप्रतिम सहायता करती है। यह सत्य प्रतीत होता है कि पूर्णरूप से यौनसंतुष्टि भी यौनसंसर्गयोग से ही संभव है। इसी संतुष्टि की कमी से ही, अधिकाँश मामलों में दाम्पत्य जीवन में कटुता आती है। प्रेमयोगी वज्र को भी इस योग से, इस प्रकार की कटुता के क्षीण होने का आभास हुआ था। checked

ऐसा प्रतीत होता है कि तंत्र में सन्निहित शक्ति ही तंत्र के अपने सामाजिक पतन का कारण बनी। तांत्रिकों में कुण्डलिनी व आत्मज्ञान का दिव्य तेज होता था, जिससे उनके द्वारा कही गई व हृदय से सोची गई अधिकाँश बातें सत्य सिद्ध हो जाया करती थीं। इसीलिए ऊटपटांग (उत्पथगामी) किस्म के लोग उनसे डरते थे। वे सीधे तौर पर तांत्रिकों का सामना नहीं कर पाए, इसीलिए उन्होंने षडयंत्र रच कर, तांत्रिकों व तंत्रविद्या को अधिकतर समाजों में बदनाम व लगभग बहिष्कृत सा ही करवा दिया। तांत्रिकों में अद्वैतभाव होता है, जिससे उनकी मानसिक शक्ति बर्बाद होने से बची रहती है। उस संचित मानसिक शक्ति के तेज के कारण ही, उनकी दृष्टि बहुत तीखी व प्रभावशाली होती है। वह दृष्टि बुरे लोगों की बुराई को जला देती है, जिसे स्वभाव से बुरे लोग, अपने झूठे अहंकार के कारण सहन नहीं कर पाते। इसलिए वे अपने को दोष न देते हुए, तांत्रिकों को दोष देने लग जाते हैं।

कुण्डलिनीयोग आत्मज्ञान उत्पन्न करने वाली एक मैकेनिकल मशीन (mechanical machine) की तरह ही है। इसलिए मनुष्य को अपने प्रेम आदि मानवीय गुणों (प्राकृतिक आत्मज्ञान-कारक) को सावधानी से संभाल कर रखना पड़ता है, क्योंकि कुण्डलिनीयोग की

चकाचौंध में आकर वह मानवीय भावों की उपेक्षा कर सकता है। वैसे तो मानवीय भावों के साथ कुण्डलिनीयोग, और अधिक प्रभावकारी होता ही है। आजकल तो कुण्डलिनीयोग का अभ्यास इंटरनेट (internet), ई-बुक रीडर (e-book reader) व क्वोरा (quora) जैसी शिक्षा-वेबसाईटों (education websites) की सहायता से भी सरलता से किया जा सकता है, क्योंकि सारा ज्ञान आजकल गूढ़ता के बंधन से मुक्त हो गया है।

कई शत्रु बड़े चालाक व कपटी होते हैं। उन्हें पता होता है कि देहदेश की राजधानी को अधिगृहीत करके, वे सर्वाधिक शीघ्रता से देहदेश को अपना गुलाम बना सकते हैं। इसलिए वे छल-कपट से, सीधे ही राजधानी में प्रविष्ट होना चाहते हैं। एक बार लेखक ने देखा कि कुछ शत्रु, उनकी अपनी बिरादरी के द्वारा गुलाम बनाए गए देहदेश के व्यापारियों के बीच में घुस कर, उनके कारवाँ के साथ ही, एक नए देहदेश के अन्दर प्रविष्ट हो गए थे। व्यापारी तो अपना माल बेच कर, अपने देश को वापिस लौट गए थे, परन्तु वे शत्रु, आक्रमण की योजना बनाते हुए, वहीँ रुक गए। फिर एक गूढ़ योजना के तहत, वे शत्रु, डाक-विभाग के कर्मचारियों के बीच में अपनी पहचान छिपा कर प्रविष्ट हो गए। डाक-विभाग में सुरक्षा-व्यवस्था का ज्यादा इंतजाम नहीं होता, क्योंकि उग्रपंथियों को उसमें कोई विशेष दिलचस्पी नहीं होती। उसके पास न तो मुद्रा होती है, न उन्नत प्रकार के साधन और न ही हड़पे जाने योग्य महंगे साजो-सामान। उस विभाग के लोग तो साधारण प्रकार के होते हैं, जो साधारण जीवन जीने के आदी होते हैं। वे किसी की भी रोक-टोक के बिना, चिट्ठी-पत्रियों को यहाँ से वहाँ पहुंचाते रहते हैं। सुरक्षा एजेंसियां भी उनसे ज्यादा पूछताछ नहीं करती हैं, ताकि वे तनावरहित व सम्मानपूर्वक ढंग से जी पाएं। वास्तव में, अपने-अपने संदेशों के साथ सभी लोगों की भावनाएं जुड़ी हुई होती हैं, और उन भावनाओं के साथ डाक-विभाग के कर्मचारी जुड़े होते हैं। इसलिए समस्त देशवासी चाहते हैं कि वे कर्मचारी प्रसन्न व बेखौफ होकर घूमते रहें, और लोगों के संदेशों को प्रसन्नता का तड़का लगाते हुए, फिर उन्हें लोगों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए, लोगों को भी प्रसन्न करते रहें। फिर वे शत्रु, डाक-विभाग के कर्मचारी बन कर, हाथ में चिट्ठियों के थैले पकड़ कर, राजधानी की ओर बढ़ने लगे। कुछ शंकालु व सतर्क सुरक्षाकर्मी जब उनको बंदी बना कर, उनसे पूछताछ करने लगे, तब उन शत्रुओं ने आसपास में स्थित लोगों का भावनात्मक शोषण (emotional blackmail) करके, उनकी सहानुभूतियाँ बटोर लीं। उस भावना से प्रेरित होकर, लोगों ने देशभक्त सुरक्षाकर्मियों को ही पीट-पीट कर मार डाला। अपने बचाव के लिए क्रोध में आकर, सुरक्षाकर्मियों ने भी बहुत से लोगों पर गोलियां चला दीं। कई मानवाधिकार-एजेंसियों

ने उन देशभक्त सैनिकों के ऊपर हिंसा व देशद्रोह का झूठा मुकद्दमा चलवाकर, उन्हें राजदंड दिलवा दिया। वे मूर्ख देशवासी आपस में लड़ते रहे, और उधर शत्रु, मौके का फायदा उठाते हुए, राजधानी में पहुँच गए। वहाँ पर पहुँच कर उन्होंने अपना असली रूप दिखाना शुरु कर दिया, और जमकर तबाही मचाई। उन्हें पता था कि देहदेश के नष्ट होने के साथ ही, वे भी मारे जाएंगे। अतः देश के नाश से बहुत पहले ही, उन्होंने अपने सभी शत्रु-साथियों को, दूसरे देशों पर आक्रमण करने के लिए भेजना शुरु कर दिया। वे दुष्ट शत्रु भी उसी डाक-विभाग वाले मार्ग से होते हुए, डाक-विभाग के कर्मचारियों की सी वेशभूषा बना कर, उनके साथ ही राजधानी से वापिस लौट आए। जब नैष्ठिक कर्मचारी उनके ऊपर संदेह प्रकट करने लगते थे, तब वे दुष्ट, उन भोले-भाले कर्मचारियों को बहला-फुसला कर भ्रमित कर देते थे, जिससे वे उनकी सूचना पुलिस-विभाग को नहीं दे पाते थे। वे उन कर्मचारियों को मृत्यु का भय दिखा कर, उन्हें खूब खिला-पिला कर व उनको खूब सारी रिश्वत देकर, उन्हें अपने वश में कर लेते थे। फिर वे शत्रु, बंदरगाह के निकट स्थित, व्यापारियों की टोलियों के बीच में घुस कर, उनके साथ घुल-मिल गए। जब वे व्यापारी व्यापार के सिलसिले में, अपने समुद्री जहाज में बैठ कर, विदेश की ओर रवाना हुए, तब वे शत्रु भी उनके साथ विदेश पहुँच गए। व्यापारी लोग तो अपना काम निपटा कर, अपने माल के साथ, अपने मूल निवासदेश को वापिस लौट आए, परन्तु वे शत्रु वहीँ ठहरे रहे, और उस नए देश पर हमले की योजना बनाने लगे। वे भी अपने पूर्वजों की तरह ही, डाक-विभाग के बीच में घुल-मिल गए, और उन्हीं की तरह, आगे की कार्यवाही करते गए। इस तरह से, वह सिलसिला समान रूप से चलता रहा, और शत्रुओं ने बहुत से देशों को नष्ट कर दिया। डर के मारे, बहुत से राजाओं ने, अंतर्राष्ट्रीय सम्मलेन में यह मुद्दा प्रमुखता से उठाया। कुछ राजाओं को चुन कर, एक कमेटी (committee) बनवाई गई, जिसको उस समस्या का हल ढूँढने की जिम्मेदारी दी गई। कमेटी ने बुद्धिजीवियों की बहुत सी बैठकें (meetings) बुलवाईं। अंतिम निष्कर्ष के अनुसार, देहदेश के द्वारा, उन खुंखार शत्रुओं से आक्रमित होने से पहले ही, उन शत्रुओं की उस बिरादरी के कुछेक शत्रुओं को, जो अपने राक्षसराज की पक्षपातपूर्ण नीतियों से संतुष्ट नहीं थी, बहलाना-फुसलाना शुरु कर दिया गया। उनका खूब सेवा-सत्कार किया गया। उससे वे शाँत हो गए, व देहदेशों के मित्र बन गए। फिर उन्हें भिन्न-भिन्न राजाओं के द्वारा अपने-अपने देशों के अन्दर रहने के लिए आमंत्रित किया गया, जिससे वे उन देशों में ही प्रसन्नतापूर्वक/सुखपूर्वक निवास करते हुए, वहाँ के ही स्थायी निवासी बन गए। उन विभीषणों ने अपने राजा रावण की सारी युद्धनीति रामावतार देहपुरुषों को सिखा दी। जब उन

आततायी राक्षसों ने उन देहदेशों पर आक्रमण किया, तब उन देवमित्रों की सहायता से पहले से ही उनकी युद्धनीति का अभ्यास कर रहे देवताओं ने उन्हें आसानी से व शीघ्र ही नष्ट कर दिया। वे भेदी-राक्षस लम्बे समय तक देहदेशों को अपनी सेवा देते रहे। जब वे वृद्ध होकर मर गए, तब देहदेशों ने दूसरे भेदी-शत्रुओं को ढूँढना प्रारम्भ कर दिया था।

यौनयोग से कुछ थकान भी विद्यमान रहती है। इस कारण से, कुण्डलिनीजागरण की अनुभूति/झलक, संभवतः कुछ क्षणों से अधिक समय तक सहन नहीं की जा सकती। पूर्णजागरण को अनुभव करने हेतु शरीर-मन की पूर्ण कार्यक्षमता को बनाए रखने के लिए, संतुलित जीवन व संतुलित भोजन के साथ, संभवतः कुछ गुणवत्तापूर्ण माँसाहार की आवश्यकता भी पड़ती है। ऐसे सभी पंचमकारों से वह जीवन पद्धति (lifestyle) लगभग पूर्णतांत्रिक जीवन-पद्धति बन जाती है। यद्यपि यह पद्धति कठिन है, और संभवतः योग्य गुरु के बिना, गंभीर परिणामों वाली भी हो सकती है। बिना खतरे की व पूर्णजागरण की पद्धति तो केवलमात्र संन्यासयोगियों वाली, साधारण कुण्डलिनीयोग की पद्धति ही प्रतीत होती है। परन्तु इसमें तुरंत सफलता के लिए, संसार का त्याग करना ही पड़ता है। यद्यपि किंचित त्याग तो यौनयोग की सफलता के लिए भी करना पड़ता है। इसी तरह से, यौनपद्धति से, आत्मज्ञान की भी, संभवतः कुछ क्षणों की ही झलक अनुभव होती है, जैसी कि प्रेमयोगी वज्र को हुई थी। संभवतः पूर्णात्मज्ञान तो संन्यास व साधना के मिश्रित प्रयास से ही मिलता है। क्षणिकात्मज्ञान के बाद, प्रेमयोगी वज्र को कोई दिव्य प्रेरणात्मक शक्ति, संन्यासयोग की ओर लगातार धकेल रही थी, परन्तु अंततः उसने संसार के प्रतिरोध के आगे झुकते हुए, उसको लगातार अनसुना कर दिया। कोई राह न दिखने पर, उसे साँसारिक मार्ग को ही अपनाना पड़ा, यद्यपि तांत्रिक जीवन-पद्धति के साथ। इसे कर्मयोग का मार्ग या बौद्धों का मध्यमार्ग भी कह सकते हैं। इसी मार्ग की सफलता से प्रेरित होकर ही, उसने शरीरविज्ञान दर्शन की रचना की।

देहदेश के यातायातविभाग का अति विशाल मुख्यालय भी एक आश्चर्य की मूरत ही होता है। वह दिन-रात, बिना रुके-बिना थके काम करता रहता है। यह इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि प्राणवायु से भरे हुए टैंकर (tankers) भी यातायातविभाग की सड़कों पर ही दौड़ाए जाते रहते हैं। साँस लेने की आवश्यकता तो देहपुरुषों में भी स्थूल पुरुषों की तरह ही प्रतिक्षण बनी रहती है। फिर देहदेश में प्राणवायु को भंडारित करके रखने की भी समुचित व्यवस्था नहीं होती। उस मुख्यालय में अनगिनत कर्मचारी काम करते रहते हैं। वह विशाल मुख्यालय छोटे-छोटे हिस्सों को

मिलाकर बना होता है। एक बार लेखक ने देखा कि उस मुख्यालय के एक हिस्से को ईंधन व प्राणवायु की आपूर्ति करने वाली सड़क अवरुद्ध हो गई थी। उससे वह हिस्सा ईंधन व प्राणवायु की कमी के कारण, अजीबोगरीब ढंग से काम करने लगा। वह देहदेश के लिए विभिन्न प्रकार की, माल से लदी हुई गाड़ियों का आवागमन ठीक ढंग से नहीं करवा पा रहा था, जैसे कि कई बार गाड़ियों को अड्डे पर ही बहुत समय तक ठहराते हुए, उन्हें जाने की अनुमति नहीं देता था, तो कई बार बहुत सारी गाड़ियों को एक साथ ही हरी झंडी दिखा देता था। उससे मुख्यालय के अन्य भाग, उस भाग की कमियों को पूरा करते हुए, उसके काम को संभाल रहे थे। उससे पूरा मुख्यालय ही अजीब ढंग से काम करने लगा। संभवतः काम का बोझ बढ़ गया था, या उस मुख्यालय के कर्मचारी मृत्यदंड के भय से घबरा गए थे, जिससे वे उसे उचित विधि से नियंत्रित नहीं कर पा रहे थे। उन्हें यह पता नहीं था कि मुख्यालय के एक भाग को, पीछे से ही ईंधन की आपूर्ति बाधित हो गई थी, जिससे वे उसकी खराबी के लिए अपने को ही दोषी मान रहे थे। वैसी सूचना मिलते ही, राजा ने पड़ौसी देशों की सहायता से, उस प्रभावित क्षेत्र में विशेष संदेशवाहकों को भेजा, जिन्होंने उन कर्मचारियों को वस्तुस्थिति से अवगत करवा के शाँत व नियंत्रित कर दिया। यद्यपि ईंधन की कमी से जूझता हुआ हिस्सा खराब हो गया था, क्योंकि उस हिस्से की मशीनों व उन्हें संभाल रहे कर्मचारियों ने, अपना काम करना बंद ही नहीं किया। उसका कारण था, उस मुख्यालय की मशीनों के सोफ्टवेयर (software) में, किसी भी हालत में, न रुकने का सूक्ष्म आदेश (programming code) भरा होना। उस हिस्से में काम करने वाले अधिकाँश कर्मचारी भी परलोक चले गए थे, क्योंकि उन्हें साँस लेने के लिए पर्याप्त प्राणवायु नहीं मिल पाई थी। देहदेश की व्यवस्था एक बहुत बड़े जोखिम से बच गई थी, यद्यपि यातायात-मुख्यालय (केन्द्रीय राजधानी से दूर/क्षेत्रीय, यद्यपि पूरे देश को समाहित करने वाला) के एक हिस्से के नाकाम होने से, उसमें क्षीणता तो आ ही गई थी। कई बार राजा चुस्ती दिखाते हुए, तुरंत ही उस बाधित सड़क को खुलवा देता है, जिससे मुख्यालय का वह भाग नष्ट होने से बच जाता है। वैसे तो धीरे-धीरे वहाँ के लिए नई सड़कें बना दी जाती हैं, परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। देहदेश के बाकी के क्षेत्र तो इधर-उधर से उधार मांग कर या बाधित मार्ग से आने वाली थोड़ी-बहुत प्राणवायु से भी गुजारा चला लेते हैं, जब तक नई सड़कें बन कर तैयार नहीं हो जातीं। परन्तु उस मुख्यालय के हिस्से अत्यधिक क्रियाशील होते हैं। अतः छोटी-मोटी आपूर्ति से उनका गुजारा ही नहीं चलता। वहाँ के कर्मचारी भाग कर भी अपनी जान नहीं बचाते, क्योंकि वहाँ पर विशेष जांबाजों को ही नियुक्त किया जाता

है, जो अंत तक अपना काम नहीं छोड़ते। कई बार तो पीछे के मुख्य राजमार्ग ही बाधित हो जाते हैं। इससे पूरा मुख्यालय ही दुष्प्रभावित हो जाता है। ऐसी हालत में यदि राजा तुरंत कार्यवाही करके, मलबे आदि अवरोध को नहीं हटाता है, तब मुख्यालय के अधिकाँश भूभाग चपेट में आ जाते हैं। उस समय देहदेशनिवासियों की समझ में ही नहीं आता कि हवा का बहना बंद क्यों हो गया है। कई धार्मिक लोग सोचते हैं कि वायुदेव किसी कारणवश अप्रसन्न हो गए हैं, और वे उन्हें मनाने के लिए अनेक प्रकार के जप-तप, यज्ञ-यागादि करना प्रारम्भ कर देते हैं। मुख्यालय के कर्मचारी व आसपास के लोग, जोर-जोर से चिल्ला-चिल्ला कर राजा को सूचित करने लगते हैं। राजा भी उनकी दुर्दशा देख कर परेशान हो उठता है, और कई बार तो स्वयं भी चिल्लाने लगता है। पड़ौसी राजा इकट्ठे होकर उसकी भरपूर सहायता करते हैं। उस मुख्यालय का भूभाग अत्यंत दुर्गम व संवेदनशील स्थान पर स्थित होता है। वह अनेक प्रकार के नाजुक कलपुर्जों से भरा हुआ होता है। इसलिए इतनी शीघ्रता से, उसकी सड़कों से मलबे को हटाना, अधिकाँशतः संभव नहीं हो पाता। कई बार सफलता मिल भी जाती है। यदि मुख्यालय के पूरी तरह से ठप होने से पहले ही मुख्यालय को बदल दिया जाए, तो पुराने समय की, लगभग पूरी कार्यक्षमता वापिस मिल जाती है। परन्तु यह काम देहदेश के सबसे कठिन माने जाने वाले कामों में से एक होता है। उतने विशाल मुख्यालय को आपातकाल के लिए, अतिरिक्त रूप में रखना भी संभव नहीं है, क्योंकि पूरे देहदेश में उतना बड़ा अतिरिक्त भूभाग ही उपलब्ध नहीं होता, और न ही उतने अधिक महंगे व जटिल संरचना-जाल को बनाने के लिए, और फिर उसे संभाल कर रखने के लिए, पर्याप्त संसाधन ही होते हैं। अतः आपातकाल के समय, आवश्यकता पड़ने पर, उस मुख्यालय का सारा साजो-सामान, वैसे किसी दूसरे देश से मंगाना पड़ता है, जो विघटित हो रहा हो, इसलिए उसे उस मुख्यालय की, भविष्य के लिए आवश्यकता न हो। अत्यधिक विस्तीर्ण व जोखिम भरे उस साजो-सामान के भण्डार को ढोना व फिट (fit) करना भी अत्यंत कठिन होता है। पुराने मुख्यालय से मशीनों को खोल कर, नई मशीनों को एकदम से उनकी जगह में जोड़ना पड़ता है। यदि उसमें कुछ अड़चन आ जाए, तो देहदेश में प्राणवायु का संकट उत्पन्न हो जाता है। मुख्यालय के आकार-प्रकार आदि की भी उचित जांच व पैमाईश करनी पड़ती है।

साधना के लिए आभासिक संन्यास (त्याग) से भी काम चल पड़ता है। उदाहरणतः, प्रेमयोगी वज्र ने कुछ अकेलापन महसूस होने पर, धरती के दूसरे कोने के लोगों के साथ, इन्टरनेट (internet) पर कुण्डलिनीयोगचर्चा का सम्बन्ध बना कर रखा। उससे उसे आभासिक त्याग का

फल भी मिला, और उसका कुण्डलिनीयोग से सम्बंधित ज्ञान भी बढ़ा। उससे वह त्याग जैसी साँसारिकता में व्यस्त था, क्योंकि इंटरनेट पर पूर्णापरिचितों के साथ अपूर्णसंपर्क से, त्याग जैसा फल प्राप्त होता है। साथ में, उससे रात और दिन भी इकट्ठे हो गए थे, जो ज्ञान का मुख्य चिन्ह है। वास्तव में, जब धरती के एक कोने में दिन होता है, तो दूसरे कोने में रात होती है।

फिर लेखक के देखते ही राजा ने राजमार्ग के अवरुद्ध होने का कारण जानने के लिए, जांच-पड़ताल शुरु करवा दी। बहुत खोजबीन के बाद पता चला कि राजमार्ग पर क्षमता से अधिक माल लादे हुए, भारी गाड़ियां पलायन कर रही थीं। वास्तव में वह अतिरिक्त माल राजमार्ग पर, बहुत समय पहले से ही लगातार गिरता जा रहा था, और उससे चिपकता जा रहा था, क्योंकि उसमें चिपचिपाहट अधिक थी। साथ में, गोंद, फैवीकोल आदि जैसे चिपकू पदार्थों के बड़े-बड़े ड्रम (drums), सामान के अधिक वजन/फैलाव व गाड़ी के झटकों के कारण खुल जाते थे, और उनमें रखा हुआ पदार्थ सारे सामान के साथ मिश्रित हो जाता था। धीरे-धीरे जमता हुआ वह माल, इतना ऊंचा उठ गया कि उसने मार्ग को अवरुद्ध ही कर दिया। राजा ने किसानों से उसका कारण पूछा। किसान-संगठन (farmers' union) के अध्यक्ष (president) ने जवाबी पत्र में किसानों को निर्दोष बताया। उसने कहा कि विदेशों से भारी मात्रा में कच्चा माल आयातित किया जा रहा था। उस आयातित माल में गोंद, फेवीकोल आदि जोड़ों को भरने वाले पदार्थ, आवश्यकता से अधिक मात्रा में थे। उन्होंने तो केवलमात्र कच्चे माल के दुरुपयोग को रोकते हुए, उसे तैयार माल में ही पूरी तरह से समाहित कर दिया था, क्योंकि वह कच्चा माल बहुमूल्य मुद्रा देकर खरीदा जाता था। राजा किसानों की देशभक्ति से बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें बहुत से ईनाम/पारितोषिक देकर, भविष्य में भी उन्हें वैसा ही निष्ठापूर्ण कर्म करते रहने के लिए प्रोत्साहित किया। राजा को फिर अपने विदेशमंत्री की लापरवाही व उसके लालच का पता चला। वह वास्तव में बड़े अधिकारियों के साथ मिलकर कमीशनखोरी कर रहा था, और कमीशन के लालच में, आवश्यकता से अधिक कच्चे माल का आयात करवा रहा था। राजा ने मंत्री को बहुत लताड़ लगाई। राजा को भी दुःख हुआ, क्योंकि वह मंत्री से बहुत प्रेम करता था, और उसके ऊपर बहुत अधिक विश्वास भी करता था। राजा ने भविष्य के लिए, अधिक माल के आयात पर, विशेषतः जोड़ों को भरने वाले चिपचिपे पदार्थों के आयात पर रोक लगवा दी। राजा ने खाद्य एवं आपूर्ति विभाग तथा, वस्तु-आपूर्ति विभाग को, सभी प्रकार की वस्तुओं के मूल्य घटाने के निर्देश दिए। उससे उपभोक्तावाद बढ़ गया, जिससे लोग अधिक से अधिक माल खरीद कर, उनका उपभोग करने लग गए। उस बढ़े हुए

उपभोग से उनकी क्रियाशीलता भी बढ़ गई, जिससे नए-नए निर्माण शुरु हो गए, नए-नए खेलों का विकास हुआ, खेतों में अन्न की पैदावार बढ़ गई व वस्तु-सेवा के आदान-प्रदान की गति भी बढ़ गई। उससे माल की मांग और भी अधिक बढ़ गई। माल की मांग बढ़ने से, राजमार्गों पर गिरे हुए सामान को आसपास के लोग, अपने प्रयोग के लिए तुरंत उठा लेते थे। कर्मचारी भी मुनाफे के लालच में आकर, उस माल को उठा लेते थे, और औने-पौने दामों पर बेच देते थे। वैसे भी उस माल को उठाना तब थोड़ा आसान हो गया था, क्योंकि फिर वह राजमार्गों व लोगों के कपड़ों से, पहले की तरह अधिक नहीं चिपक पा रहा था। इस तरह से देहदेश की अर्थव्यवस्था सुधर गई थी, और समस्या का समुचित समाधान भी हो गया था।

कुण्डलिनीजागरण तो केवल अप्रत्यक्षरूप से ही आत्मज्ञान करवाता है। आत्मज्ञान का एकमात्र व प्रत्यक्ष कारण तो केवल एकाग्रध्यान ही है। यदि कुण्डलिनीजागरण के बिना ही, योगसाधना आदि से या यौनाकर्षण से या अन्य किसी भी कारण से, लम्बे समय तक एकाग्रध्यान होता रहे, तब भी आत्मज्ञान संभव है, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र के साथ अप्रत्यक्षतंत्र के समय हुआ था। कुण्डलिनीजागरण तो केवल एकाग्रध्यान बनाए रखने में सहायता ही करता है, क्योंकि जागरण के समय अनुभूत की गई कोटिसूर्यमयी कुण्डलिनी, व्यक्ति को बार-बार अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। यदि कुण्डलिनीजागरण के बाद भी एकाग्रध्यान निरंतर न बना रह पाए, तो उस कुण्डलिनीजागरण का कोई विशेष महत्त्व प्रतीत नहीं होता। इसीलिए संभवतः कुण्डलिनीजागरण को अनुभव कर लेने के बाद, योगी को शाँत, तनावरहित, कर्मलोभमुक्त, युक्तियुक्त व अद्वैतपूर्ण जीवन जीने का परामर्श दिया जाता है, ताकि कुण्डलिनी के ऊपर निरंतर रूप से एकाग्रध्यान बना रह सके। विभिन्न धर्मों में, विशेषतः सनातन धर्म में, एकाग्रध्यान के महत्त्व का वर्णन प्रत्येक स्थान पर दृष्टिगत होता है। इसी एकाग्रध्यान से ही अद्वैत भी पुष्ट होता है, जो मुक्ति के लिए अत्यावश्यक है।

कुण्डलिनी-जागरण के समय, एक ही मानसिक चित्र (कुण्डलिनी) के ऊपर ही, पूरा मस्तिष्क अपनी सारी ऊर्जा लगा देता है। इससे वह चित्र जीवंत व प्रत्यक्ष हो जाता है। यह विश्वास न करने में कोई भी कारण प्रतीत नहीं होता कि आधुनिक नाड़ीविज्ञान (neuro-science), कृत्रिम रूप से ऐसी अवस्था को उत्पन्न नहीं कर सकता। आज तो विज्ञान बहुत आगे निकल चुका है। इसी तरह, प्रेमयोगी वज्र के अनुसार, यदि मन में निरंतर बस रहे, एक चित्र से ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, तब तो संभवतः उस चित्र को आधुनिक मनोवैज्ञानिक-यंत्रों की सहायता से भी बना कर रखा जा

सकता है। कुछ लोग मानते हैं कि योग के रूप में एकाग्र ध्यान लगाने की अपेक्षा साक्षीकरण-अभ्यास (संकल्पों के प्रति) करना चाहिए। वास्तव में कुण्डलिनीजागरण एकाग्रध्यान से ही होता है। वैसे आत्मज्ञान तो साक्षीकरण से, सीधे भी हो सकता है, परन्तु कुण्डलिनीजागरण ही आत्मज्ञान का तीव्रतम, सर्वाधिक प्राकृतिक, सर्वाधिक वैज्ञानिक, सर्वाधिक व्यावहारिक, सरलतम व विश्वसनीयतम उपाय है।

रुचि-अरुचि भिन्न विषय है, और सत्यता भिन्न विषय है। किसी भी विषय को अरुचिकर कहा जा सकता है, परन्तु उसकी सत्यता को नहीं ठुकराया जा सकता। उदाहरण के लिए, अधिकाँश लोगों के लिए अध्यात्म अरुचिकर हो सकता है, परन्तु उसकी सत्यता के ऊपर संदेह नहीं किया जा सकता। सत्य को निरंतर स्वीकार करते रहने मात्र से ही, धीरे-धीरे अरुचि भी रुचि के रूप में परिवर्तित हो जाती है। महात्मा बुद्ध ने भी कहा है कि उठना-गिरना तो जीवन में चलता रहता है, परन्तु सत्य को सदैव स्वीकार करना चाहिए। जो सत्य की सत्यता को स्वीकार ही नहीं करते, सत्य के प्रति उनकी अरुचि कैसे समाप्त हो सकती है? जो सत्य को स्वीकार करते हैं, उनकी ओर सत्य स्वयं ही अग्रसर होता रहता है।

कई लोगों के मन में प्रश्न उठता है कि कुण्डलिनीयोग को आँखें खुली रख कर या बंद करके करना चाहिए। वास्तव में योग का मुख्य व एकमात्र ध्येय तो कुण्डलिनी को विकसित करना ही होना चाहिए, इसके लिए चाहे जिस किसी भी मानवीय विधि का आश्रय क्यों न लेना पड़े। कुण्डलिनी तो एक मानसिक चित्र होता है, जिसे देखने के लिए आँखों की आवश्यकता नहीं होती। आँखों से तो बाहरी चित्र ही दिखाई देते हैं। बाहरी चित्र भीतरी चित्र के चिंतन में व्यवधान उत्पन्न कर सकते हैं। वैसे जब कुण्डलिनी जागरण हो रहा होता है, उस समय खुली आँखें मानसिक चित्र में व्यवधान उत्पन्न नहीं कर सकतीं, क्योंकि उस समय मस्तिष्क की अधिकाँश ऊर्जा कुण्डलिनी को जगाने में लग रही होती है, जिससे कुण्डलिनी अधिकतम अभिव्यक्ति के स्तर पर होती है। आँखें भी कैमरे की तरह ही काम करती हैं। बाहर का चित्र ग्रहण करने के लिए, कैमरे (camera) का शटर (shutter) खुल जाता है, और फिर बंद हो जाता है, ताकि वह चित्र कैमरे के अंदरूनी भाग में विकसित हो सके। इसी तरह से, अपने सर्वप्रिय भौतिक चित्र को सही ढंग से व विस्तार से ग्रहण करने के लिए हम अपनी आँखें खोलते रहते हैं, और उसे मन में पक्का बैठाने के लिए, योग के समय अपनी आँखें बंद करते रहते हैं।

वास्तव में, मन्त्र तो कुण्डलिनी को प्राण प्रदान करने का एक बहाना मात्र ही होता है। मंत्र बोलते समय, मुख से जो प्राण उत्सर्जित होता रहता है, वह मूर्ति, सूर्य, अन्य किसी स्थान या अज्ञात स्थान आदि पर स्थित की गई/कल्पित कुण्डलिनी को पुष्ट करता रहता है। इसीलिए इष्टमंत्र एक ही होना चाहिए, क्योंकि बारंबार के रटने से वह कंठस्थ हो जाता है, जिससे उसको बोलने के लिए मस्तिष्क को बल लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। उससे मस्तिष्क की शक्ति कुण्डलिनी को पुष्ट करने के लिए बच जाती है। मंत्रजाप के प्रारम्भ में यदि कुण्डलिनी का ध्यान किया जाए, तो पूरे जप के दौरान स्वतः ही कुण्डलिनी को उसकी शक्ति मिलती रहती है। एक प्रकार से, उस मंत्र के साथ कुण्डलिनी जुड़ जाती है। यही मंत्र-सिद्धि है, और यही जप का रहस्य भी है। इसी तरह, यदि संगीत सुनने के प्रारम्भ में कुण्डलिनी का ध्यान किया जाए, तो पूरा संगीत कुण्डलिनी को पुष्ट करता रहता है। संभवतः यही तो सभी कार्यों को प्रारम्भ करने के साथ इष्टदेवता (कुण्डलिनी) के स्मरण के पीछे छिपा हुआ रहस्य है। ऐसे ही, साँस से भी प्राण बाहर निकलकर कुण्डलिनी को पुष्ट करते रहते हैं। विशुद्धिचक्र पर, उस स्थान पर कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए, जहाँ पर आवाज उत्पन्न होती है। वहाँ पर ओम आदि की आवाज का ध्यान भी किया जा सकता है। इससे वाणी में भी शक्ति आ जाती है। प्राण कुण्डलिनी को प्रज्वलित करता रहता है, और कुण्डलिनी प्राण (प्राणवायु) को खींचती रहती है। इस तरह से, प्राण व कुण्डलिनी, एक स्थान पर (कुण्डलिनी के स्थान पर), एक-दूसरे को निरंतर बढ़ाते रहते हैं। जैसे किसी अंगारे में ध्यान व हवा का प्रयोग करते हुए, पहले उसमें अग्नि की चिंगारी को उत्पन्न किया जाता है, फिर हवा देना जारी रखा जाता है, जिससे वह चिंगारी अग्नि-ज्वाला के रूप में परिवर्तित हो जाती है, बेशक उसकी ओर निरंतर ध्यान भी न दिया जाता रहे; उसी तरह से कुण्डलिनी की चिंगारी को उत्पन्न करके, यदि उस पर प्राणवायु के गिरते रहने का निरंतर ध्यान किया जाता है, तो वह स्वयं ही अग्नि-ज्वाला की तरह स्पष्ट व प्रचंड होती रहती है, बेशक उस पर प्रत्यक्ष रूप से निरंतर ध्यान न भी दिया जाए (या यूं कहो कि निरंतर न भी देखा जाए, परन्तु यह ध्यान में रखा जाए कि उस विशेष चक्र/स्थान पर कुण्डलिनी-ज्वाला प्राणवायु से भड़क रही है)। इसे कुछ यूं भी समझ सकते हैं कि यदि किसी चक्र पर कुण्डलिनी का ध्यान करने में कठिनाई आ रही हो, तो चक्र पर गिरती हुई साँस का ध्यान करना चाहिए। इससे प्राण की शक्ति से, वहाँ पर कुण्डलिनीचित्र अनायास ही उभरने लग जाता है। साँस को चक्र पर स्थित कुण्डलिनी के ऊपर डालते हुए, यदि कुछ देर बाद कुण्डलिनी दूसरी जगह दिखने लगे, तो उसे कुण्डलिनी-अग्नि की भड़की हुई व दूर भागी हुई ज्वाला-शिखा समझकर,

यथास्थान पर ही भड़कने देना चाहिए। कुछ देर के बाद, वह सिमट कर स्वयं ही उस चक्र पर पहुँच जाती है, या किसी दूसरे चक्र पर चली जाती है। इसी तरह, कुण्डलिनी की चित्र-विचित्र मुखाकृतियों, उसकी चित्र-विचित्र शारीरिक स्थितियों व उसके चित्र-विचित्र कर्मों को अग्नि की चित्र-विचित्र ज्वालाओं (लपटों) का रूप समझना चाहिए। जिस चक्र पर भी कुण्डलिनी हो, वहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि बंधों के खिंचाव व दबाव से, वहाँ पर पूरे शरीर की शक्ति इकट्ठी हो रही है। उससे कुण्डलिनी स्वयं ही भड़क जाती है। वास्तव में, शरीर, मन व अन्य भी सभी कुछ प्राणरूप ही तो है, अन्य कुछ नहीं। योग में सब कुछ प्राण (सूक्ष्म व ध्यानमयी प्राणवायु) से ही उपलब्ध होता है। कुण्डलिनी प्राणबल से ही मूलाधार से ऊपर उठती है। जब कुण्डलिनी एक चक्र से दूसरे चक्र को जाती है, तो प्राण के रूप में ही जाती है। प्राण में महान शक्ति है। जब साँस छोड़कर व उसे वहीँ रोकते हुए, मूलबंध का दबाव छोड़ा जाता है, तब कुण्डलिनी प्राणवायु के साथ निचले चक्र के ऊपर स्वयं ही गिर जाती है। सबसे पहले साँस को अन्दर खींच कर, उसे चक्र के ऊपर स्थित कुण्डलिनी के ऊपर डाला जाता है, और उस सांस को जालंधर बंध लगा कर वहां पर कैद कर लिया जाता है। जब कुण्डलिनी वहाँ पर स्पष्ट हो जाती है, और प्राण वहाँ से नीचे उतरने का प्रयत्न करने लगता है, तब उसे मूलबंध से ऊपर उठा कर कुण्डलिनी के ऊपर चढ़ाया जाता है। इससे, ऊपर व नीचे, दोनों ओर से कुण्डलिनी पर प्राणों का दबाव बनता है, और वह उस चक्र पर स्पष्ट रूप से क्रियाशील हो जाती है। योग करते हुए, विशेषतः आसन व प्राणायाम करते हुए, मूलाधार पर कुण्डलिनी को प्रज्वलित करना अधिक सरल होता है। कई बार, विशेषतः जब मन अधिक उचाट हो, तब प्रारम्भ में कुण्डलिनी को तनिक बलपूर्वक, मन से मूलाधार चक्र पर स्थिर करना पड़ता है। फिर तो वह प्राणों से स्वयं ही पुष्ट होने लगती है। इसके लिए, साँस (प्राण) के अन्दर जाते ही, मूलाधार क्षेत्र व कभी-कभी स्वाधिष्ठान क्षेत्र में भी, एक सरसराहट का या गति का या झटके का या खाली ध्यान का अनुभव करना पड़ता है। हल्की सी सरसराहट या हल्के से झटके का अर्थ है कि प्राणों ने कुण्डलिनी के ऊपर चोट की है। इससे कुण्डलिनी विशेष रूप से चमक जाती है। इसी सिद्धांत के अनुसार, कुण्डलिनीयोग के मुख्य भाग, कुण्डलिनीभ्रमण (kundalini rotation) में एक चक्र पर साँस को रोक कर, वहाँ पर कुण्डलिनी का ध्यान कर लेने के बाद, यथावश्यकतानुसार साधारण/नॉर्मल (normal) साँस लेते हुए, साँस को उस चक्र पर गिरते हुए व उससे कुण्डलिनी को प्रज्वलित होते हुए अनुभव करें। जब साँस काफी क्षीण हो जाए, और ऐसा लगे कि साँस से पेट भर गया है, अर्थात तृप्ति हो गई है, तब निचले चक्र पर यही प्रक्रिया दोहराएँ।

स्वाधिष्ठान व मूलाधार चक्रों पर, जब कुण्डलिनी का ध्यान किया जाए; तब साँस छोड़ते समय, मूलाधारचक्रबिंदु पर माँसपेशी की, ऊपर की ओर को हल्की सी सिकुड़न बनाई जाए, और स्वाधिष्ठानचक्रबिंदु के लिए, मूलाधार-माँसपेशी से मूलाधारचक्र को, ऊपर की ओर हल्का सा धक्का दिया जाए, ताकि नीचे का प्राण (अपान) भी स्वाधिष्ठानचक्र के ऊपर गिरता रहे। ऐसा दबाव निरंतर बना कर भी रखा जा सकता है, तब भी, जब साँस उन पर गिर भी रही हो। उपरोक्त प्रयासों से मूलाधार-कुण्डलिनी के ऊपर साँस/प्राण का सटीक निशाना लगता है, और स्वाधिष्ठान-कुण्डलिनी पर प्राण व अपान इकट्ठे होकर मिल जाते हैं, जिससे कुण्डलिनी सम्बंधित चक्रों पर प्रज्वलित होकर चमकने लग जाती है। कपालभाति प्राणायाम के बाद, सभी बंध लगाकर, जब कुण्डलिनी को मूलाधार से ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाता है, तब मूलाधार चक्र पर ध्यान लगाते हुए, उसे तनिक संकुचित सा किया जाता है। उससे कुण्डलिनी आसपास के क्षेत्र से इकट्ठी होकर, उस सूक्ष्म चक्रबिंदु पर जमा हो जाती है। वह फिर उड्डीयान बंध से ऊपर चढ़ जाती है। उस समय जालंधर बंध लगाने से, विशेषतः नए योगी के अभ्यास काल में, कुण्डलिनी को मस्तिष्क तक पहुँचाने में कुछ कठिनाई हो सकती है, क्योंकि उसमें गर्दन मुड़ी हुई रहती है। अतः जालंधर बंध को नहीं भी लगा सकते हैं। मूलाधार चक्र पर, उसकी हल्की सी सिकुड़न से कुण्डलिनी चमकती रहती है, और उड्डीयान बंध से उस पर ऊपर की ओर को एक खिंचाव लगता है। जैसे ही वह मस्तिष्क की ओर जाती है, वैसे ही मूलाधार (मूलबंध) को ढीला छोड़ देना चाहिए, ताकि कुण्डलिनी पर नीचे की ओर को खिंचाव न लगे, और वह कमान से छूटे हुए तीर की तरह, आसानी से ऊपर जा सके। मूलाधार चक्र अग्निकुंड की तरह ही होता है, जिसमें प्राणवायु से कुण्डलिनी धधक जाती है। संभवतः इसीलिए उसे कुण्डलिनी (कुंड+लिनी, कुंड में शयन करने वाली चेतना) कहते हैं। मूलाधार चक्र शरीर में सबसे नीचे, जननांग को मलद्वार से जोड़ने वाली रेखा के केंद्र में भी होता है, और शरीर के पिछले भाग में, रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले स्थान पर भी। आवश्यकतानुसार कुण्डलिनी का ध्यान, दोनों में से किसी भी स्थान पर किया जा सकता है। योगासन आदि करते समय व व्यावहारिक गतिविधियों के समय, पिछले भाग में ध्यान करना अधिक आसान प्रतीत होता है, विशेषतः जिनसे कमर में मोड़ (bend) पड़ता हो, और सिद्धासन में प्राणायाम आदि के समय, अग्रभाग में। वैसे, अभ्यास हो जाने पर, मेरुदंड वाला मूलाधार ही श्रेष्ठ लगने लगता है। वैसे, पृष्ठभाग का मूलाधार बहुत शक्तिशाली प्रतीत होता है। वहाँ पर कुण्डलिनी-अग्नि सर्वाधिक स्पष्टता के साथ भड़कती हुई प्रतीत होती है, और वहाँ से उसका ऊर्ध्वगमन भी

सर्वाधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। यह जो फीते से नापकर, चक्रों की स्थिति बताई जाती है, उसकी आवश्यकता प्रेमयोगी वज्र को तो पड़ी नहीं। उसने तो अनुमानित निर्धारण ही किया। हो सकता है कि योग की उच्चावस्था में ही चक्रों के सटीक निर्धारण की आवश्यकता पड़ती हो।

वेद-पुराण, ईश्वर का भजन-कीर्तन आदि इसलिए बने हैं, ताकि इनके आचरण के समय द्वैताद्वैत, और अधिक प्रतिष्ठित व सुदृढ़ हो सके, क्योंकि कई बार व्यवहारकाल में अत्यधिक व्यस्तता के कारण, द्वैताद्वैत की समुचित प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। इसी तरह से, व्यस्तता के बाद के शाँतिपूर्ण काल में यदि शविद से द्वैताद्वैत को प्रतिष्ठित किया जाए, तो तन-मन की सारी पुरानी थकान मिट जाती है, और व्यक्ति दोगुने उत्साह से नया कर्म करने के लिए उठ खड़ा होता है। कर्म करने से उत्पन्न हुआ कर्मबंधन भी इससे क्षीण हो जाता है। आधुनिक विज्ञानी भी यही कहते हैं कि कर्म करने से ही कर्म व संकल्प आदि संपूर्ण नहीं हो जाते, क्योंकि वे बीज-रूप में मन में विद्यमान रहते हैं। कर्म के बाद किए गए योग/तद्कर्मसम्बंधित चिंतन आदि से ही वह कर्म पूर्णतः किया हुआ बन पाता है। वास्तव में, योग/शांतिपूर्ण चिंतन से वे कर्म/संकल्प मन में पुनः प्रकट हो जाते हैं, जिनके प्रति अनासक्ति स्वयं ही विद्यमान रहती है, यद्यपि योग की शक्ति के अंतर्गत पाले जा रहे साक्षीकरण के अभ्यास से अनासक्ति अधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। इससे वे शाँत हो जाते हैं।

अद्यतने जनसंख्यासघनकाले तान्त्रिकयौनसंबन्धः जनसंख्यानियन्त्रणस्य उत्तमोपायः। अनेन विवाहसुखः, आध्यात्मिकविकासः अवांछितगर्भात् च निर्भयं त्रीणि एकसार्धं प्राप्तानि।

शविद व कुण्डलिनीयोग, दोनों साथ-साथ काम करते हैं। जब कुण्डलिनी पर ध्यान केन्द्रित होता है, तब कुण्डलिनीयोग से गुजारा चलाया जाता है। जब मानसिक दोलन की स्थिति होती है, तब शविद के अद्वैत की सहायता ली जाती है। शविद के अद्वैत से व्यर्थ/हानिकारक प्रकार की भावनाओं व संवेदनाओं पर रोक लगती है, और मस्तिष्क में एक सकारात्मक माहौल बनता है। इससे मानसिक ऊर्जा संरक्षित हो जाती है, जो कुण्डलिनी को स्वयमेव पुष्ट करती है। वैसे, अंततः दोनों विधियों से कुण्डलिनी ही पुष्ट होती है। यौनयोग में प्रेमिका (consort) का पृथक व्यक्तित्व नहीं देखा जाता। इसमें तो सम्बन्ध बनाते हुए दो देहदेश देखे जाते हैं, उनके देहपुरुष देखे जाते हैं, और उनके दो राजा देखे जाते हैं, या एक राजा और एक रानी देखी जाती है। शविद की धारणा निरंतर मन में बसा कर रखी जाती है। शविद के अनुसार ही देहदेशों के प्रत्येक भागों को अनुभव किया जाता है। इससे स्वयं ही शुद्ध मानसिक कुण्डलिनी पुष्ट होती रहती है, क्योंकि कुण्डलिनी वास्तव में देहपुरुष को प्रदान किया गया एक रूपाकार ही तो है। वास्तव में जिस कुण्डलिनी का

ध्यान किया जाता है; वह अधिकाँशतः अद्वैतशील गुरु, देवता या किसी अन्य प्रेमी व्यक्ति के रूप की ही बनी होती है। देवता या दिवंगत पुरुष के रूप की कुण्डलिनी तो और भी अधिक अद्वैतशील होती है, क्योंकि उसमें जीवन व मृत्यु, दोनों के भाव भी साथ-साथ विद्यमान होते हैं।

एक रहस्यमयी बात और है। जिस तरह से साधनामय, अद्वैतमय, अनासक्तिमय, शान्तियुक्त, मानसिक विकारों से रहित व आनंदमयी जीवन जीते हुए व्यक्ति खुद ही तांत्रिक यौनयोग में प्रवीण हो जाता है; उसी तरह से किसी के रूप की, विशेषतः देवीरानी के रूप की मानसिक नित्यसमाधि (तांत्रिक यौनयोग) से उपरोक्त गुण स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं। यही तो कुण्डलिनीयोग/तांत्रिक यौनयोग का रहस्य भी है। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी ऐसा ही हुआ था। क्योंकि उसके मन में प्रथम देवीरानी के रूप की नित्यसमाधि, यौनाकर्षण से स्वयं ही लग गई थी, अतः उपरोक्त सभी गुण उसमें स्वयं ही उत्पन्न हो गए, जो उसे पूर्वोक्त क्षणिकात्मज्ञान तक ले गए।

प्रेमयोगी वज्र के मन में गुरु तब से लेकर मजबूती से जुड़ गए थे, जब से प्रथम देवीरानी उसके मन के साथ जुड़ गई थीं। उन दोनों के चित्र उसके मन में साथ-साथ रहते थे। वे दोनों चित्र एक-दूसरे को बढ़ाते रहते थे। उसके विवाह के पूर्व भी, प्रस्तुत पुस्तक के पूर्वोक्त, उसके द्वारा लिखित एकश्लोकी तंत्रशास्त्र के बल से, उसके मन में गुरु का चित्र वैवाहिक संबंधों के साथ, विवाहपूर्व ही समारोपित हो गया था। उसी चित्र ने उसे शीघ्रातिशीघ्र विवाह के लिए प्रोत्साहित किया, क्योंकि वह कुण्डलिनीचित्र जागृत होना चाहता था। मन की उसी निष्ठासंपन्न धारणा के कारण, उसका वैवाहिक जीवन स्वतः ही, उसके अनजाने में ही तंत्र में परिवर्तित हो गया, और वह कुण्डलिनी को क्रियाशील करता रहा। यद्यपि उसका प्रारंभिक वैवाहिक जीवन अपेक्षा के विपरीत, उतना मधुर नहीं था। यहाँ तक कि वह कई बार, व्यस्त व स्पर्धापूर्ण साँसारिकता से उत्पन्न तनाव के कारण, अपनी धर्मपत्नी के साथ हल्की हाथापाई भी कर देता था। फिर अचानक से उसमें इतना बड़ा परिवर्तन कैसे आ गया कि वह यौनयोग वाला सौहार्द उत्पन्न कर पाया। वास्तव में, वह उसके अद्वैतभाव, विशेषतः शविद के कारण प्रज्वलित होती हुई कुण्डलिनी की शक्ति से ही संभव हुआ। उसके निकट के लोग व अन्य परिचित लोग; विशेषतः जो अपने आप को आसक्ति व अहंकार के साथ शुद्ध, आध्यात्मिक, धार्मिक, आदर्शवादी व लोकशिक्षक आदि समझते थे; वे उससे अप्रत्यक्ष रूप से या कहो कि मन से कुछ बुझे-बुझे रूप से व्यवहार करते रहते थे, संभवतः उसके तांत्रिक दृष्टिकोण के कारण। लेखक ने एक स्थान पर देखा कि विवाह के समय, वधु को ब्राम्हण पुरोहित (गुरु) के आँचल में प्रत्यक्षरूप से बैठा कर, उन गुरु के द्वारा आशीर्वाद देने की प्रथा थी। वास्तव में

इससे गुरु का चित्र वधु के चित्र के साथ जुड़ जाता है, जिससे वर को अप्रत्यक्षतंत्र का लाभ मिलने की संभावना बढ़ जाती है। इसका अर्थ है कि वह प्रथा तंत्रसम्मत ही थी। इससे यह सिद्ध होता है कि हिंदु पद्धति की अधिकाँश मान्यताएं व प्रथाएं मनोविज्ञानसम्मत या तंत्रसम्मत ही हैं।

जिसकी कुण्डलिनी क्रियाशील होती है, उससे सभी जीव एक विशेष लगाव महसूस करते हैं। उसके आसपास प्रसन्नता व तनावहीनता का वातावरण छाया रहता है। आसपास के लोग उसे प्यार व सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। वे उसी की तरह मस्त, अद्वैतशाली व प्रेमपूर्ण बन जाते हैं। ये सभी अनुभव प्रेमयोगी वज्र को हुए थे, और यहाँ तक कि जागरण वाले दिन तो उसे अपने प्रति भक्ति (devotion) का एक अत्यल्प सा भाव भी दिखा था। कुण्डलिनीजागरण के निकट तो व्यक्ति को चारों ओर ही अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध होती हैं। लाख चाहने पर भी कोई उसका बुरा नहीं कर सकता। इसके विपरीत, उसकी ओर फेंकी गई बुराई, उसकी भलाई के रूप में परिवर्तित हो जाती है। उसकी दबी हुई शुभेच्छाएं भी पूरी होने लगती हैं, अशुभ नहीं, क्योंकि कुण्डलिनी सब कुछ समझती है । वास्तव में कुण्डलिनी ही व्यक्ति को एक व्यक्तित्व प्रदान करती है। अधिकाँश लोग तो बिना व्यक्तित्व के ही जीवन जी रहे होते हैं।

शविद के जैसे क्रियापूर्ण अद्वैत का आचरण करते-करते, एक समय ऐसा आता है, जब व्यक्ति रूपांतरित (transformed) सा हो जाता है। उसका दिमाग खाली-खाली सा रहने लगता है, उसकी स्मरणशक्ति घट सी जाती है, व वह सभी से अलग-थलग सा रहने लगता है। उसकी सोचने व निर्णय लेने की क्षमता भी घट जाती है। वह अवस्था उसके कुण्डलिनीजागरण वाले स्तर की प्रारम्भावस्था ही होती है। इससे कुछ परेशान व सशंकित सा होकर, वह कुण्डलिनीयोग की ओर स्वयं ही मुड़ जाता है। इस रूपांतरण का यह अर्थ नहीं है कि उसके मस्तिष्क की किसी भौतिक संरचना में परिवर्तन होता है, अपितु यह है कि उसका स्वभाव व दृष्टिकोण रूपांतरित हो जाता है। वह अद्वैतमयी, अनासक्त, सत्त्वगुणसंपन्न, आनंदमयी व सर्वजीवप्रेमी बन जाता है। संभव है कि उसके मस्तिष्क के सूक्ष्म नाड़ी-परिपथ (neuronal circuits) स्तरोन्नत हो जाते हों, क्योंकि वे नाड़ी-परिपथ ही तो व्यक्ति के व्यवहार व दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं। इसके लिए शाँत, आरामदायक, प्रेमपूर्ण, सत्संगमयी व सहयोगात्मक परिवेश के साथ, अन्य अनुकूल परिस्थितियाँ भी उपलब्ध होनी चाहिए; ठीक वैसी ही, जैसी किसी बच्चे के विकास के लिए चाहिए होती हैं। यदि अनुकूल परिवेश न मिले, तो रूपांतरण बहुत धीमा हो जाता है, और यहाँ तक कि तब तक के लिए रुक भी सकता है, जब तक कि उपरोक्त सौहार्दपूर्ण व आध्यात्मिक परिवेश उपलब्ध नहीं हो जाता।

क्योंकि प्रेमयोगी वज्र को उपरोक्त सभी उपयुक्त परिस्थितियाँ लगभग समयानुसार मिल गई थीं, अतः उसके रूपांतरण को उससे तीव्र बल मिला, जिससे उसकी कुण्डलिनी जागृत हो गई। ऐसा रूपांतरण कुण्डलिनीजागरण के बाद भी चलता रहना चाहिए, आत्मज्ञान होने तक। यद्यपि तब पहले की अपेक्षा कुछ कम अनुकूलताओं से भी काम चल सकता है। आत्मज्ञान के बाद भी हल्की-फुल्की अनुकूलताएँ मिलती रहनी चाहिए, व साधना निरंतर जारी रहनी चाहिए, अन्यथा उसका रूपांतरण विपरीतगामी (reverse) भी हो सकता है, जिससे योगी पुनः पूर्ववत आम स्थिति में भी पहुँच सकता है, क्योंकि सभी कुछ सापेक्ष ही तो है। कुण्डलिनीजागरण के बाद, क्योंकि रूपांतरण तीव्र गति से हो रहा होता है, जिसके लिए अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है, इसलिए साँसों की गति भी बढ़ जाती है। मानसिक रूपांतरण से शारीरिक रूपांतरण भी हो जाता है, जैसे कि मस्तिष्क के लिए रक्तप्रवाह का बढ़ना और मस्तिष्क के कार्य में सुधार आदि-आदि, ताकि समाधि-चित्र निरंतर बना रह सके। जब कुण्डलिनीजागरण के बाद प्रेमयोगी वज्र का रूपांतरण होने लगा, तब उसमें वही लक्षण पुनरावृत (repeat) होने लगे, जो उसके क्षणिकात्मज्ञान से पहले की तांत्रिक समाधि के समय उत्पन्न हुए थे। उसके मस्तिष्क में प्रथम देवीरानी के रूप की कुण्डलिनी को पछाड़ कर, उन वृद्धाध्यात्मिकपुरुष के रूप की कुण्डलिनी पुष्ट हो रही थी, जो शरीर की ऊर्जा के बड़े भाग का भक्षण कर रही थी। वह थका-थका सा रहने लगा था। उसका मन महान आनंद से पूर्ण व शाँत रहने लग गया था। पुरानी/दूसरी कुण्डलिनी व उससे सम्बंधित मामलों के मस्तिष्कीय-परिपथ (brain circuits) क्षीण हो रहे थे, और नई कुण्डलिनी से सम्बंधित नए नाड़ी-परिपथों का निर्माण हो रहा था। उसमें बच्चों की तरह का विकास जारी था, और उसे नींद भी खूब आ रही थी। उसके दिमाग की धारणा-शक्ति बढ़ रही थी आदि-आदि। क्योंकि उसने अपनी कुण्डलिनी (मानसिक वृद्धाध्यात्मिकपुरुष) को अपनी आत्मा के रूप में अनुभव कर लिया था, अतः उसके मस्तिष्क में ऐसे नए नाड़ी-परिपथों का निर्माण हो रहा था, जो उसके गुरु के चित्र को उसके मस्तिष्क में सदैव बना कर रख पाते। आम आदमी में वैसे विशेष परिपथ नहीं होते, जिससे उन्हें अपनी आत्मा के रूप में अँधेरा ही अनुभव होता है। इसका कारण यह होता है कि उनकी वह समाधि (कुण्डलिनीजागरण) ही नहीं लगी होती है, जो अनादिकाल से भटकती हुई अन्धकारमयी आत्मा के साथ, गुरु/कुण्डलिनी के प्रकाशमयी चित्र को जोड़ती है। वही समाधि मस्तिष्क को स्तरोन्नत (upgrade/update) करवाती है। साथ में, इस समाधि/कुण्डलिनीजागरण में, अन्धकारयुक्त आत्मा चमकती कुण्डलिनी के साथ एकाकार हो जाता है, अर्थात आत्मा प्रकाशपूर्ण हो जाता है।

इससे साधक अनजाने में ही, स्वयं ही अपनी आत्मा को स्वच्छ करने के अभियान में लग जाता है। क्योंकि अद्वैतभाव से ही आत्मा स्वच्छ हो सकती है, अतः उसमें अद्वैतभाव स्वयं ही विकसित होने लगता है, जो उसकी जीवनशैली को भी सकारात्मक रूप से रूपांतरित कर देता है।

धर्मयुद्ध का रहस्य भी शविद में ही छिपा हुआ है। वास्तव में, समस्याग्रस्त स्थिति में अद्वैत का आचरण महान फलदायक होता है। मृत्यु से बड़ी समस्या भला क्या हो सकती है? परन्तु वास्तव में मृत्यु का केवल भय ही होना चाहिए, वास्तविक मृत्यु नहीं। मृत्यु के बाद किसी को कैसा ज्ञान, कैसा कुण्डलिनीजागरण व कैसी मुक्ति? इसीलिए धार्मिकशास्त्रों में स्थान-स्थान पर युद्धादि का वर्णन है, व मृत्यु आदि का वर्णन है, ताकि मृत्यु का भय बना रहे। संभवतः कुछ चरमपंथी धर्मों के मूलरूप में, ऐसे साँकेतिक धर्मयुद्ध की ओर ही इशारा किया गया था, परन्तु बाद के अनुभवहीन विद्वानों ने उसे गलत ढंग से समझा या गलत ढंग से वर्णित किया। इसी तरह, यदि अद्वैत को सुखी/भावपूर्ण क्षणों में भी धारण किया जाए, तो उससे पुष्ट हुई कुण्डलिनी दुःख/अभाव में भी सहारा देती है। कहा भी है कि सुख में सुमिरन सब करे, दुःख में करे न कोए; जो सुख में सुमिरन करे, तो दुःख काहे को होए।

योगासन व प्राणायाम करते समय, अन्दर जाती हुई प्रत्येक साँस (प्राण) की, कुण्डलिनीचित्र के ऊपर पड़ते रहने की भावना करनी चाहिए। इससे कुण्डलिनीचित्र निरंतर बना रहता है, और उसकी स्पष्टता भी बढ़ती जाती है; चाहे वह किसी भी चक्र पर रखा गया हो, यहाँ तक कि यदि किसी भी चक्र पर न होते हुए कहीं पर भी हो, जैसे कि शरीर के किसी भी भाग, आकाश, अनजाने स्थान आदि में। साँस की दोनों ओर की गति से भी कुण्डलिनी को प्राणबल प्रदान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कुण्डलिनी नाभिचक्र पर हो, तो उसे ऊपर की ओर से, अन्दर जाने वाली साँस से प्राणबल दिया जाता है, और नीचे की ओर से, बाहर जाने वाली साँस से। इस तरह से, कुण्डलिनी चाहे जहाँ कहीं पर भी हो, उसे उच्छ्वास व निःश्वास, दोनों से पुष्ट किया जा सकता है। अन्दर-बाहर जाती हुई दोनों साँसों से एकसाथ, कुण्डलिनी-अग्नि को, विशेषतः कपालभाति के समय प्रज्वलित किया जा सकता है; जैसे कि हाथ से झलने वाले पंखे से, दोनों दिशाओं की हवाओं से अग्नि पुष्ट होती रहती है। कपालभाति के समय, मूलाधार पर कुण्डलिनी को शक्ति देती हुई साँसों का ध्यान इस प्रकार से भी कर सकते हैं, जैसे वायु इंजन को शक्ति देती है। जैसे इंजन का धुंआ बाहर निकलता है, वैसे ही कुण्डलिनी की अपशिष्ट वायु अर्थात उसका धुंआ बाहर निकलते हुए अनुभव किया जा सकता है। अन्दर जाती हुई साँस की कल्पना, कुण्डलिनी पर गिरते हुए एक

बार कर लो, व उस धारणा को मन में बना कर रखो, फिर मन को ढीला छोड़ दो, ताकि वह स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सके। इससे जो कुछ भी वह सोचता है, उससे व उपरोक्त धारणा के मेल की शक्ति से कुण्डलिनी ही पुष्ट होती रहती है। मन के साथ जबरदस्ती कम ही करनी चाहिए। उसे प्यार से, युक्ति से व उसकी स्वतंत्रता को हानि पहुंचाए बिना ही वश में करना चाहिए। इन्हीं तथ्यों को दर्शाते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि प्राणों को वश में करने से मन वश में हो जाता है, अर्थात प्राणों के माध्यम से ही मन वश में आता है, अन्यथा नहीं। संगीत की आवाज से जो प्राण निकलता है, उसकी भावना भी कुण्डलिनी के ऊपर गिरते हुए रूप में करनी चाहिए, चाहे कुण्डलिनी कहीं पर भी अनुभव हो रही हो। यह भी एक प्रकार का संगीतयोग है, जो बहुत प्रभावशाली होता है। अप्रत्यक्ष रूप से भी संगीत से कुण्डलिनी को बल प्राप्त होता है। वास्तव में गीतों से अद्वैत पुष्ट होता है। नए-पुराने गीतों से नए-पुराने समय का अनुभूत जनजीवन पुनः स्मरण हो आता है। उससे उत्पन्न भावों पर अद्वैतभाव का आरोपण करने से अद्वैत को अत्यधिक पुष्टि प्राप्त होती है, जिससे कुण्डलिनी भी पुष्ट हो जाती है। चक्रसाधना (kundalini rotation) में, यौगिक बन्ध लगा कर साँस रोकते समय, पूर्वोक्तानुसार बारी-बारी से प्रत्येक चक्र पर पूरे शरीर की वायु (प्राण) के इकट्ठे होने की व उससे कुण्डलिनी चित्र की अग्नि के प्रज्वलित होने की भावना करनी चाहिए। जिस तरह धरती की शक्ति के, नीचे से ऊपर की ओर के दबाव से व सूर्य की शक्ति के ऊपर से नीचे की ओर के दबाव से, भौतिकपुष्प खिल जाता है; उसी प्रकार ऊपर से नीचे की ओर भरी जाने वाली साँस (प्राण) के साथ आवश्यकतानुसार लगाए जाने वाले जालंधरबंध से नीचे जाता हुआ प्राण तथा मूलबंध व उड्डीयानबंध से ऊपर उठ रहा प्राण, जिस स्थान पर या विशेषतया जिस कुण्डलिनीचक्र पर, दोनों इकट्ठे होकर मिश्रित हो जाते हैं; वहाँ पर मानसिकपुष्प (कुण्डलिनी) खिल जाता है।

वैसे, प्रेमयोगी वज्र, शविद के २० वर्षों के आचरण के दौरान, सनातन धर्म व संस्कृति के या उनका आचरण करने वाले लोगों की संगति में भी निरंतर बना हुआ था। इसका तात्पर्य यह है कि यदि शविद के प्रभाव के साथ, सनातन धर्म-संस्कृति का प्रभाव भी मानस-पटल पर पड़ता रहे, तो आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति अति शीघ्रतापूर्वक हो जाती है।

कुण्डलिनी जब मूलाधार चक्र पर होती है, उस समय साँस रोकते हुए, जब स्वयं ही उड्डीयान बंध व मूल बंध लग जाते हैं, तो स्वयं ही उनसे मस्तिष्क तक एक काल्पनिक खिंचाव स्तम्भ (virtual sucking column) सा बन जाता है। वह स्तम्भ कुण्डलिनी को ऊपर की ओर खींचता

रहता है। साथ में, मूलबंध से भी कुण्डलिनी को ऊपर की ओर धक्का लगता है। इससे कुण्डलिनी धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठते हुए, मस्तिष्क तक पहुँच जाती है। इस प्रकार से, वहाँ पर दो बल एकसाथ कार्य कर रहे होते हैं, उड्डीयानबंध का खिंचाव-बल (pull-force) व मूलबंध का धक्का-बल (push-force)।

शास्त्रों में तितिक्षा के ऊपर बहुत बल दिया गया है। इसका अर्थ है कि अनासक्त व अद्वैतयुक्त रहते हुए, सभी भावनाओं को सहते रहना चाहिए। परन्तु इनको सहने के तरीकों का वर्णन कम ही आता है। शविद भी इनको सहने का एक प्रमुख व अत्यंत प्रभावशाली तरीका है। वास्तव में भावनाएं बुरी नहीं होती, क्योंकि वे तो मुक्त देहपुरुष में भी ज्यों की त्यों विद्यमान रहती हैं। बुराई तो उनसे प्रभावित होने की उस अनुभूति में होती है, जो देहपुरुष में नहीं होती। उदाहरण के लिए, हर्ष व विषाद की अनुभूति होने में कोई बुराई नहीं है, क्योंकि ये तो चेतना के स्वाभाविक व मानवीय गुण हैं। बुराई तो उनसे प्रभावित होने में है, जिससे साँस उखड़ सी जाती है, और आदमी का मन चीखने-कराहने का करता है। वास्तव में यह उनके प्रति सत्यत्व बुद्धि से होता है। देहपुरुष का ध्यान करने से यह सत्यत्व बुद्धि उसी क्षण नष्ट हो जाती है, और आदमी उनके प्रभाव से मुक्त हो जाता है। थोड़ा-बहुत प्रभावित होने में भी कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु चिंताजनक स्थिति तब होती है, जब उनके प्रभाव के कारण व्यक्ति अपने नियंत्रण से बाहर हो जाता है, उसके अन्दर एक टीस जैसी हावी हो जाती है, और उसकी मानसिक शाँति के साथ-साथ उसका मानसिक आनंद भी भंग हो जाता है। देहपुरुष की तरह, तन-मन से प्रभावित होने का नाटक भी किया जा सकता है, परन्तु उसे सत्य समझने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। इसी तरह से, मानसिक दोषों के अनुभव होने में भी कोई बुराई प्रतीत नहीं होती, यदि उनसे प्रभावित हुए बिना रहा जाए।

शविद के आचरण का प्रभाव कई बार तो दिखता भी नहीं, परन्तु प्रभाव पड़ता अवश्य है, जो धीरे-धीरे इकट्ठा होता हुआ, कालान्तर में आध्यात्मिक रूपांतरण कर देता है। शविद का प्रभाव आसपास की संगति पर भी निर्भर करता है, जीविका व कर्मों के प्रकार पर भी निर्भर करता है, कर्मों व भावनाओं की गति पर भी निर्भर करता है, स्वास्थ्य व आयु पर भी निर्भर करता है, तथा शविद के प्रति निष्ठा/समर्पण की मात्रा पर भी निर्भर करता है।

प्रेमयोगी वज्र को लगा था कि समवाही तंत्र की अपेक्षा विषमवाही तंत्र पर लोगों को अधिक विश्वास था। समवाहीतंत्र को वे हीनता से देखते थे। उन्हें लगता था कि किसी स्त्री को मन में बसा कर रखना, पौरुषत्व के विरुद्ध था। इसी हीनता के भय से ही तो प्रेमयोगी वज्र ने प्रथम देवीरानी

की कुण्डलिनी को जागृत करने का कभी भी प्रयास नहीं किया, यद्यपि कुण्डलिनीजागरण का फल कहा जाने वाला क्षणिकात्मज्ञान तो उसे बिना कुण्डलिनीजागरण के, देवीरानी के रूप की नित्य मानसिक समाधि से ही प्राप्त हो गया था। वास्तव में कुण्डलिनीजागरण भी नित्यसमाधि को ही उत्पन्न करता है। लोगों की उस सोच का एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि संभवतः अधिकाँश लोगों को मनोवांछितत्व, आकर्षकत्व व दृढ़संयमशक्ति, एकसाथ इन तीनों गुणों वाली वैसी प्रेमिकाएं या धर्मपत्नियां उपलब्ध नहीं थी, जिनके प्रति मन में असीमित आकर्षण उत्पन्न हो जाता। वैसे भी, धर्मपत्नी के साथ समवाही तंत्र तो कठिन ही होता है, क्योंकि प्रतिदिन उसके साथ रहने से व उसके सदैव साथ में बने रहने के दृढ़ विश्वास से, उसके प्रति आकर्षण, बढ़ने की अपेक्षा घटता जाता है। संभवतः उन्हें यह भी लगता था कि प्रत्यक्ष समाधि-सम्बन्ध केवल प्रत्यक्षतंत्र के प्रत्यक्षयौनसम्बन्ध (समवाही) से बनाया जा सकता था, जिसे वे असामाजिक मानते थे, विशेषतः उद्वाहपूर्व; प्रत्यक्षतंत्र के विषमवाही या साँकेतिक प्रकार/अप्रत्यक्षतंत्र के यौनसंबंध से नहीं। यद्यपि पूर्वोक्तानुसार, प्रेमयोगी वज्र ने सिद्ध कर दिया कि अप्रत्यक्षतंत्र के साँकेतिकयौनसंबंध से सर्वाधिक आकर्षण उत्पन्न किया जा सकता है, जो समाधिरूप ही होता है, साथ में उसमें असामाजिकता भी नहीं होती। संभवतः उन लोगों के मन ने स्वगृहस्थसम्बंधित हीनता/अपमान से बचने के लिए, अनजाने में ही, प्रत्यक्षतंत्र के अस्तित्व को ही सिरे से नकार दिया था। क्योंकि उन्हें प्रत्यक्षतंत्र श्रेणी के विषमवाही तंत्र का ज्ञान नहीं था, इसीलिए वे गृहस्थसम्बंधित हीनता का अनुभव करते हुए प्रतीत होते थे। इसी तरह, अनोद्वाहित/अविवाहित लोगों को अप्रत्यक्षतंत्र श्रेणी के साँकेतिक तंत्र (समवाही या विषमवाही या इन दोनों का मिश्रण) का ज्ञान नहीं था, इसीलिए वे उससे दूर रहते थे। प्रेमयोगी वज्र को प्रथम देवीरानी के साथ अप्रत्यक्षतंत्र के समवाही व विषमवाही, दोनों तंत्र पद्धतियों के मिश्रण से त्वरित व शक्तिशाली कुण्डलिनी-लाभ प्राप्त हुआ था।

कुछ लोग कहते हैं कि अद्वैतसाधना (non-dualism) या साक्षीकरण (witnessing) श्रेष्ठतर साधना होती है, तो कुछ कहते हैं कि एकाग्रता (concentration) या ध्यान-समाधि (contemplation) श्रेष्ठतर होती है। वास्तव में, दोनों का मिला-जुला रूप ही सर्वश्रेष्ठ होता है। यदि दोनों को इकट्ठा न कर सको, तो प्रातः-साँय के समय न्यूनतम १-१ घंटे के लिए, कुण्डलिनीयोग के रूप में एकाग्रसाधना को करना चाहिए, और पूरे दिनभर, देहपुरुष की तरह ही अद्वैतसाधना या साक्षीकरण साधना करनी चाहिए, जिसे कर्मयोग भी कहते हैं। प्रातः-साँय ज्ञानयोग व दिनभर कर्मयोग। वास्तव में, दोनों विधियों से ही कुण्डलिनी पुष्ट होती है, और दोनों

से ही अद्वैत/साक्षीभाव भी पुष्ट होता है। यदि अद्वैतभाव कुण्डलिनी को पुष्ट कर सकता है, तब कुण्डलिनी अद्वैत को क्यों पुष्ट नहीं कर सकती? अद्वैत की महिमा महान है। अद्वैत से आध्यात्मिक विकास स्वयं ही होता है, कुछ विशेष करने की आवश्यकता नहीं होती। स्वयं ही आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती रहती है। यदि अद्वैत को निरंतर धारण करके रखा जाए, तो आत्मज्ञान को कोई नहीं रोक सकता। साक्षीपन (witnessing) व अद्वैत एक ही वस्तु-भाव है। साक्षीपन से भी अद्वैत की तरह यही सिद्ध होता है कि सभी कुछ एकसमान है, क्योंकि इसमें कुछ भी तोला (JUDGE) व परखा नहीं जाता, अपितु सबके प्रति एकसमान निर्लिप्त भाव बना कर रखा जाता है, जिससे अद्वैत स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। अतः साक्षीपन भी कुण्डलिनी को पुष्ट करता है।

प्रेमयोगी वज्र अपनी कक्षा में भी सबके साथ समान दृष्टि से व्यवहार करता था। उसकी कक्षा में भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्यार्थी अध्ययन करते थे। कुछ श्वेतवर्ण के थे, तो कुछ श्याम वर्ण के और कुछ सुनहरे; कुछ आकर्षक थे, तो कुछ साधारण प्रकार के थे; कुछ लम्बे थे, तो कुछ छोटी कद-काठी के। यद्यपि सभी का व्यवहार देहसमाज की तरह द्वैताद्वैतयुक्त, शालीन, मेल-जोल वाला, व्यावहारिक, प्रगतिशील, मानवतावादी, हँसमुख व कर्मठता से पूर्ण था। एक अतिगुणवती अध्यापिका ने तो प्यार के साथ उसका नाम गिरगिटदेवता रख दिया था, क्योंकि वह अद्वैत को छोड़े बिना ही, हर किसी के साथ पूरी तरह से घुल-मिल कर, उसके रंग में ही रंग जाया करता था। ऐसा उन वृद्धाध्यात्मिक पुरुष की संगति से ही संभव हुआ था। अद्वैत का उससे अच्छा उदाहरण भला क्या हो सकता था। उसी तरह से, उसके घर में व आसपास के समाज में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग रहते थे, जो भी उसी तरह घुल-मिल कर रहते थे। संभवतः उस समय वह अद्वैत, पुराणों के ऊपर लोगों की श्रद्धा के परिणामस्वरूप ही दृढ़ता से प्रतिष्ठित था। उसे मद्यप व आमिषाहारी लोग अच्छे नहीं लगते थे, यद्यपि अद्वैतशाली व प्रेमी प्रकार के आँशिक मांसाहारियों व मद्यपों के प्रति उसे घृणा नहीं, अपितु प्रेम व लगाव महसूस होता था, और उन्हें भी प्रेमयोगी वज्र के प्रति, विशेषकर आत्मज्ञान के बाद। इससे सिद्ध होता है कि अद्वैत व माँस-मद्य एक दूसरे को पुष्ट करते रहते हैं, यदि तांत्रिक धारणा हो। कर्म-फल का सत्य-सनातन सिद्धांत तो वही रहता है, केवलमात्र दृष्टिकोण में ही सुधार होता है। यह सिद्धांत तो तंत्रमान्य ही है। यद्यपि इसमें सद्गुरु का मार्गदर्शन अत्यावश्यक है, अन्यथा तंत्रसाधक का स्वभाव विकृत हो सकता है। वास्तव में, विभिन्नताओं का अच्छी तरह से ज्ञान रखने में कोई बुराई नहीं है, परन्तु द्वैतपूर्ण दृष्टि के माध्यम से किसी में हीनता की भावना उत्पन्न करने में ही बुराई है। एक स्वस्थ समाज के लिए सभी का

योगदान समान रूप से अपेक्षित है। मानवतावादी व आदर्शवादी स्वर्णसमाज को कुण्डलिनीजागरण अधिक सुलभ होता है, क्योंकि भासमान व साधनारत व्यक्ति या गुरु में ध्यान लगाना अधिक सरल है। तभी तो उच्चवर्ण के विशेष व्यक्ति को ही गुरु बनाया होता था। परन्तु आत्मज्ञान के लिए, उसे भी अन्य वर्ण-समाजों के आश्रित रहना पड़ता है, क्योंकि मिश्रित वर्णों व गुणों के समाज के बिना अद्वैत की पूर्णता सिद्ध ही नहीं हो सकती। उस अद्वैत से, चमचमाती कुण्डलिनी के भौतिक रूप के प्रति आसक्ति से पीछा छूटता है, जैसा होना आत्मज्ञान के लिए अत्यावश्यक है, क्योंकि उससे मानसिक कुण्डलिनी शीघ्रता से पुष्ट-परिपक्व होकर, और फिर पके हुए फल की तरह गिरकर, आत्मज्ञान के अनंत सागर में समा जाती है। क्योंकि अद्वैत से भी कुण्डलिनी पुष्ट होती है, और भिन्न-भिन्न वर्णों-गुणों के लोगों के समुदाय के अन्दर धारण किया गया अद्वैतभाव बहुत बलवान होता है, इसलिए यह भी सिद्ध होता है कि कुण्डलिनीजागरण में भी श्यामवर्ण के लोगों का अहम योगदान होता है। इसी तरह से, अधिकाँशतः निम्नवर्ण के लोगों को कुण्डलिनीजागरण के लिए स्वर्णों (गुरु/पुरोहित/देवता आदि) के आश्रित होना पड़ता है। यद्यपि गुरु बनने के लिए, स्वर्ण वर्ग का व्यक्ति उच्च कोटि के आचारों-विचारों वाला, आध्यात्मिक/अद्वैतशील, स्वाध्यायी, सदाचारी, अनुशासित, योगी, व्यावहारिक व वैदिक-पौराणिक होना चाहिए; जैसे कि प्रेमयोगी वज्र के पूज्य पितामह थे। केवल स्वर्ण वर्ग की पहचान मात्र से कोई विशेष व त्वरित लाभ प्रतीत नहीं होता। अतः हम देख सकते हैं कि विभिन्न समुदायों के बीच में परस्पर सहयोग से ही एक स्वस्थ समाज बनता है, और विकासोन्मुख रहता है। इसलिए विभिन्नताओं को सहेज कर रखना चाहिए। यदि अंतर्सामुदायिक-अतिनिकटता के सम्बन्ध से विभिन्नताओं को नष्ट करने का प्रयास किया जाता है, तब उन विभिन्नताओं से प्राप्त होने वाला अद्वैतलाभ भी नष्ट होने लगता है। पुराणों में वर्णित समुद्रमंथन के द्वारा भी इसी सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया गया है। समुद्र वहाँ पर संसार का प्रतीक है। विभिन्न संसाधन, जो समुद्र से निकले, वे भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रतीक हैं। साथ में निकलने वाला अमृत, मोक्ष का प्रतीक है। देवता वहाँ पर भासमान, कर्मशिथिल, चतुर, बलहीन व आध्यात्मिकसाधनारत लोगों के प्रतीक हैं; और असुर श्यामवर्ण, बलवान, सीधे-साधे व कर्मठ लोगों के। जब देवता समुद्रमंथन में बारम्बार प्रयास करके भी असफल होते रहे, तब उन्हें असुरों का सहयोग लेना पड़ा। दोनों जातियों के सम्मिलित प्रयास से ही भौतिक सुख-सुविधाएँ व मोक्ष, दोनों प्रकार के लक्ष्य एकसाथ सिद्ध हो गए।

जीवन में मूल्य चुकाए बिना कुछ भी नहीं मिलता; यहाँ तक कि कुण्डलिनीजागरण, आत्मज्ञान व मुक्ति आदि आध्यात्मिक समझी जाने वाली उपलब्धियाँ भी। प्रेमयोगी वज्र ने २० वर्षों तक निरंतर शविद का आचरण किया, व उससे उत्पन्न द्वैताद्वैत या अद्वैत को धारण करके रखा, तभी तो उसे क्षणिक कुण्डलिनीजागरण का अनुभव हुआ। कुण्डलिनीयोग व यौनयोग ने तो जागरण के लिए, कुण्डलिनी को थोड़ा सा ही यथावश्यक अतिरिक्त बल प्रदान किया, क्रियाशील तो वह क्रियात्मक अद्वैत के प्रभाव से, २० वर्षों से लेकर निरंतर ही थी।

प्रेमयोगी वज्र को तो पूर्णता मिल ही गई थी। फिर भी, पता नहीं वह प्रथम देवीरानी की परीक्षा क्यों ले रहा था? वह चाहता था कि देवीरानी अन्य सभी की परवाह छोड़कर, उसके प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाती, और अपनी इच्छा से ही उसके साथ जीवन बिताने के लिए पहल करती। संभवतः उसे अधूरे आत्मज्ञान का तनिक अहंकार भी हो गया था, क्योंकि "अधजल गगरी छलकत जाए"। उसे देवी के तांत्रिक दृष्टिकोण के ऊपर भी संदेह होता था। वह उसे पूर्णदेवी की तरह पूर्णतः निष्ठापूर्ण, प्रेमपूर्ण व अनासक्त देखना चाहता था। वह उससे अपने गुरु को प्रसन्न रखते हुए; उससे उनकी सच्ची सेवा व उनकी सदाज्ञा का पालन भी करवाना चाहता था। वह उसे अपने प्रेम में उतना अधिक दीवाना देखना चाहता था, जितनी अधिक दीवानी कृष्णप्रेम में मीरा या राधा थी। संभवतः वह मन से उतनी दीवानी हुई भी हो, परन्तु लोकलाज के भय से अपने दीवानेपन को प्रदर्शित न कर पाई हो। वह उसे तांत्रिक-प्रेम में पागल व लोकलाज के भय से भी रहित देखना चाहता था। हो सकता है कि देवीरानी भी प्रेमयोगी वज्र से ये सभी अपेक्षाएँ रख रही हो। प्रेमयोगी वज्र के मन में तो उसके रूप की नित्यानंदमयी समाधि लगी हुई ही थी, अतः वह भौतिक पहल करके अपनी समाधि की बलि क्यों चढ़ाता। विपरीततः, उसे तो यह आशा थी कि उस समाधि से उसे आत्मज्ञान की एक और झलक मिल जाती। यह भी हो सकता है कि देवीरानी के साथ भी वैसा ही हुआ हो, तभी तो वह भी पहल न कर पाई हो। इससे ओशो जी की यह बात एक बार पुनः अक्षरशः सत्य सिद्ध हो जाती है कि वास्तव में यौनसम्बन्ध समाधि-अवस्था की प्राप्ति के लिए ही बनाया जाता है।

दिवसकाल में, बीच-बीच में नींद की झपकियाँ लेना भी एक आध्यात्मिक लक्षण है। ऐसा, अद्वैतयुक्त व कुण्डलिनीयुक्त मस्तिष्क की थकान के कारण होता है।भावनाओं व संवेदनाओं में बहना बुरी बात नहीं है, परन्तु शीघ्र ही उन्हें अपने शरीर में स्थित शविद के अद्वैतमयी ध्यान से नियंत्रित कर लेना चाहिए, अन्यथा वे शरीर व मन को लाभ की अपेक्षा हानि ही पहुंचाती हैं।

संभवतः कुण्डलिनीजागरण का भी वही प्रभाव होता है, जो प्रतिदिन के कुण्डलिनीयोगाभ्यास का होता है। दोनों से ही कुण्डलिनी नित-निरंतर मन में बस जाती है। संभवतः जागरण के बाद भी कुण्डलिनीयोगाभ्यास तो करना ही पड़ता है, ताकि कुण्डलिनी, समाधि के रूप में मस्तिष्क में स्थिर रह सके, और नीचे न गिरे। इसका तो यह अर्थ हुआ कि कुण्डलिनीजागरण के बिना ही, नियमित रूप से कुण्डलिनीयोगाभ्यास से भी आत्मज्ञान या मुक्ति संभव है। कुण्डलिनीजागरण तो कुण्डलिनी को एक अतिरिक्त स्थिरता ही प्रदान करता है, अन्य विशेष या योगाभ्यास के अतिरिक्त कुछ नहीं। कुण्डलिनी-समाधि तो नियमित व निरंतर योगाभ्यास से ही परिपक्व होती है। कुण्डलिनीजागरण से तो केवल उसको एक अतिरिक्त बल ही प्राप्त होता है। यद्यपि यौनाकर्षण से उत्पन्न समाधि के लिए योगाभ्यास व कुण्डलिनीजागरण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह प्राकृतिक रूप से ही प्रचंड होती है। इसी तरह पूर्वोक्तानुसार, जब यौनयोग की कुण्डलिनी से, शक्तिशाली माने जाने वाले, यौनसम्बन्ध के समय उत्पन्न होने वाले अनर्गल/उत्तेजनापूर्ण विचार भी बदली (replace) हो जाते हैं, तब प्रातः-साँय के कुण्डलिनीयोगाभ्यास से, दिन भर के, अपेक्षाकृत कम शक्ति के व्यर्थ विचार क्योंकर बदली (replace) नहीं होंगे। वास्तव में, कुण्डलिनीयोग से मन की अतिरिक्त शक्ति कुण्डलिनी के ध्यान में व्यय हो जाती है, जिससे व्यर्थ के विचारों को मानसिक शक्ति नहीं मिल पाती, और अंततः वे क्षीण हो जाते हैं।

चित्तवृत्तियों के शाँत होते ही, आत्मज्ञानी के मस्तिष्क में भी अँधेरा ही छा जाता है, दूसरे सामान्य लोगों की तरह। प्रेमयोगी वज्र ऐसा अनुभव करके आश्चर्यचकित हो जाता था, और सोचता था कि फिर आत्मज्ञान से क्या लाभ? उसे यह भी प्रतीत नहीं होता था कि देहावसान के बाद वह चमचमाने लग जाएगा। यदि उस समय कोई, उससे सम्बंधित कुछ भी रहस्यमयी प्रश्न पूछता, तो वह यही कहता कि उसे पता नहीं। वह अद्वैतावस्था में ही स्वाभाविक रूप से रहता था। इसका अर्थ है कि वह प्रकाश-अन्धकार को एकसमान रूप से अहमियत देता था। इससे पुनः सिद्ध होता है कि अद्वैत में ही स्थित रहना चाहिए, अन्य कुछ विशेष नहीं। पर यह अवश्य था कि उसमें मृत्यु का भय बहुत कम हो गया था, जैसा कि एक अखंड नशेड़ी में होता है।

कई लोग सोचते हैं कि योगसाधना से शक्ति का व्यय नहीं होता। परन्तु वास्तव में, उससे भी शक्ति का व्यय होता है, यद्यपि दैनिक जीवन के शारीरिक व मानसिक श्रम की अपेक्षा बहुत कम। कोई भी कार्य बिना शक्ति के, मात्र पतली हवा से संपन्न नहीं होता। यद्यपि यह अलग बात है कि योगसाधना से व्यक्ति, कार्य करने की व व्यवहार करने की उचित विधि सीख जाता है; जिससे

काम, क्रोध आदि मानसिक दोषों व आसक्ति आदि अनुचित दृष्टिकोण से होने वाले, शक्ति के अनावश्यक व्यय पर रोक लगती है। इस तरह से, कुल मिलाकर योगसाधना से शक्ति की बचत ही होती है। यदि कुण्डलिनीचिंतन से दैनिक क्रियाकलापों में समस्या/शक्तिहीनता अनुभव हो रही हो, तो दिन के समय उसका चिंतन छोड़ दिया जा सकता है, और योगाभ्यास के समय को व ध्यान की गहराई को भी घटा दिया जा सकता है।

विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों व उनसे जुड़ी परम्पराओं में जो चित्र-विचित्र प्रकार का सामूहिक गाना-बजाना, नाचना व शोर-शराबा किया जाता है; वह सब कुण्डलिनीजागरण के लिए ही किया जाता है। इससे ध्वनि की प्राण-ऊर्जा कुण्डलिनी को उपलब्ध होती रहती है, जिससे उसके अचानक से जागृत होने की संभावना अत्यधिक रूप से बढ़ जाती है, नहीं तो वह पुष्ट तो हो ही जाती है। प्रेमयोगी वज्र को भी ऐसे समारोहों से, अपनी कुण्डलिनी की पुष्टता व स्थिरता में वृद्धि महसूस होती थी। संभवतः कुण्डलिनीजागरण को प्रत्येक धर्म में, भिन्न-भिन्न नामों व विधियों के साथ स्वीकार किया गया है।

अन्य अनुभवों की तरह ही, आध्यात्मिक अनुभव भी बाँटने से बढ़ते ही हैं। प्रेमयोगी वज्र ने जब आनलाईन सामाजिक साईटों (online social sites), विशेषकर अध्यात्म-सम्बंधित साईटों पर अपने क्षणिकात्मज्ञान के अनुभव को सभी के साथ साझा किया था, तो उसे उससे कुण्डलिनीजागरण का बल मिला था। समाज को आध्यात्मिक अनुभवों को छिपाने की बुरी आदत संभवतः मध्ययुग में पड़ी, जब विधर्मी व असहनशील लोग वास्तविक धर्म के ऊपर हावी हो गए थे। परन्तु आज अधिकाँश स्थानों पर ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता, और संचार के द्रुतगामी साधन भी सर्वसुलभ व सर्वत्रसुलभ हैं। अनुभव को बाँटने से जहाँ ग्रहण करने वाले को एक नया अनुभव प्राप्त होता है, वहीं बाँटने वाले को भी बदले में किसी दूसरे से एक नया अनुभव प्राप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुण्डलिनीजागरण/आत्मजागरण का सद्प्रभाव आगे आने वाले जन्मों में भी जारी रहता है, जैसा कि ऋषि पतंजलि ने उसके/समाधि के बारे में लिखा है। इसी तरह से, यह भी प्रतीत होता है कि इसका विकासात्मक प्रभाव जीन/डीएनए (gene/DNA) के ऊपर भी दर्ज हो जाता है, जो फिर आगे की पीढ़ी में भी स्थानांतरित हो जाता है। इसी वजह से, प्रेमयोगी वज्र के बच्चों में भी जन्म से ही कुछ विलक्षण प्रभाव प्रतीत होने लग गए थे। इन सभी बातों का सीधा सा अर्थ है कि मुक्ति की ओर मनुष्य जाति का विकास जारी है, और आने वाले समय में सभी का मस्तिष्क कुण्डलिनी-जागरण वाले मस्तिष्क के स्तर जितना उन्नत हो जाएगा।

अद्वैत भी दो प्रकार का होता है। पहला, जिसमें अभाव व दुःख को अस्वीकार किया जाता है। इसमें व्यावहारिकता व साँसारिकता की अपेक्षाकृत रूप से कमी होती है, क्योंकि इन दोनों के लिए अभाव का होना आवश्यक है। दूसरा, जिसमें अभाव व दुःख को भी परिस्थिति के अनुसार उत्पन्न होने दिया जाता है; उनका न तो स्वागत किया जाता है, और न ही बहिष्कार/अस्वीकरण, परन्तु उनके प्रति साक्षीभाव से स्थित रहा जाता है। यह अपेक्षतया अधिक व्यावहारिक व साँसारिक होता है। इसलिए साँसारिक लोग व प्रकृति भी इसके सद्व्यवहार व साँसारिकता के बदले में, अप्रत्यक्ष रूप से इस द्वितीय भाव वाले साधक की, कुण्डलिनीजागरण में सहायता करते हैं। शविद से मुख्यतः यह द्वितीय प्रकार का अद्वैत उत्पन्न होता है।

वास्तव में, नासिका-छिद्र बारी-बारी से खुलते व बंद होते रहते हैं। केवल थोड़े से ही समय के लिए, दोनों छिद्र एकसमान रूप से खुले रहते हैं। वह समय योगाभ्यास के लिए सर्वोत्तम होता है, क्योंकि उस समय ध्यान अच्छा लगता है। कहते हैं कि दोनों संध्याकालों के विशेष समय में, दोनों नासिका-छिद्र समान रूप से खुले होते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही, अनुलोम-विलोम प्राणायाम व नेति आदि हठयौगिक क्रियाएं भी की जाती हैं। जिस तरफ का नासिका-छिद्र बंद हो, यदि सिद्धासन के अंतर्गत, उस तरफ की टांग को नीचे रखा जाए, तो संभवतः कुण्डलिनीध्यान में कुछ सरलता प्रतीत होती है। एक बात और है। जिस विशेष समय पर दोनों नासिका-छिद्र खुले होते हैं, उस समय मन शान्तावस्था व ध्यानावस्था में स्वयं ही स्थित होता है, और उस समय योगसाधना करने का मन स्वयं ही कर जाता है। नासिका-छिद्र बराबर न चल रहे हों, तो जो नासिका-छिद्र अधिक खुला हो, उससे साँस भरने से, मूलाधार पर कुण्डलिनी अधिक अच्छी तरह से पुष्ट हो जाती है। यद्यपि प्रेमयोगी वज्र ने इन सब बातों की परवाह नहीं की, और साधारण अनुलोम-विलोम प्राणायाम के अतिरिक्त, कोई विशेष क्रिया नहीं की। इसके बावजूद भी उसका अकस्मात कुण्डलिनीजागरण, यौनयोग की शक्ति से ही संभव होया हुआ प्रतीत होता है।

पुराणों में जो कुछ भी लिखा है, वह सभी कुछ सत्य है। उदाहरणतः यदि सौ गज लम्बे राजा या उड़ने वाले घोड़े का भी वर्णन आता है, तो भी वह सत्य है। वास्तव में, आत्मा के अन्दर सभी कुछ संभव है। क्योंकि पुराणों में आत्मा का वर्णन ही मुख्य केंद्रबिंदु है, अतः पुराणों में वर्णित कोई भी बात झूठी नहीं है। शविद में कल्पनाओं की उतनी अधिक उड़ान तो नहीं है, यद्यपि वास्तविकता को वास्तविक व अद्वैतमयी रंग के साथ अवश्य रंगा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुण्डलिनीयोगसाधना विशेषतः उन लोगों के लिए बनाई गई है, जिनको निरंतर व अथक रूप से शारीरिक कार्य करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। अथक शारीरिक व मानसिक श्रम करने वालों की कुण्डलिनी तो स्वयं ही पुष्ट होती रहती है, विशेषतः यदि वे शविद आदि के कर्मयोग की सहायता भी लेते रहें। ऐसा ही तो प्रेमयोगी वज्र के साथ भी हुआ था। शारीरिक व मानसिक श्रम एक-दूसरे को पुष्ट करते रहते हैं। कुण्डलिनीयोग का रहस्य भी यही है, क्योंकि उसमें दोनों प्रकार के श्रम हो जाते हैं, जो एक-दूसरे को बढ़ाते भी हैं।

योगसाधना करते समय, पेट से ही श्वास-प्रश्वास लेना चाहिए, छाती (chest) से नहीं, क्योंकि पेट से साँस लेने पर ही निचले चक्रों पर प्राणवायु का उपयुक्त दबाव बन पाता है, और उनके ऊपर हलचल हो पाती है। पेट से साँस लेने पर, ध्यान अच्छा लगता है, मन शाँत हो जाता है, तनाव व अवसाद दूर होता है, और बहुत से दिव्य व आध्यात्मिक गुण विकसित होते हैं। साथ में, पेट से साँस लेने पर, रक्तसंचार के द्वारा प्राणवायु का अवशोषण भी अच्छी तरह से होता है, जिससे तन-मन स्वस्थ रहता है। इससे, थोड़ी संख्या के श्वास-प्रश्वासों से ही प्राणवायु (oxygen) की कमी पूरी हो जाती है। इससे साँस खुद ही यौगिक बन जाती है, अर्थात साँसें लम्बी व गहरी बन जाती हैं। प्रारम्भ में, अभ्यास न होने से कुछ कठिनाई आ सकती है, परन्तु बाद में उदर-श्वास (abdominal respiration) ही अच्छा लगने लगता है, और साधक अधिकाँश समय, साधनारहित समय में भी इसी श्वास को लेने लगता है। इससे उदर कुछ बढ़ा हुआ व फूला हुआ सा लग सकता है, यद्यपि वह एक सामान्य लक्षण होता है।

थकान के बाद यदि कुण्डलिनी को तनिक श्वास रोकते हुए, मूलबंध व उड्डीयान बंध से थोड़ा सा भी मस्तिष्क के अन्दर पुष्ट किया जाए, तो एकदम से आनंद के साथ राहत मिलती है। साथ में, साँसें भी जल्दी-जल्दी, नियमित व गहरी हो जाती हैं। यह चिंतन करना चाहिए कि बंधों से पूरे शरीर की प्राणशक्ति कुण्डलिनी के ऊपर आरोपित हो गई है, अर्थात एक प्रकार से पूरा तन-मन ही कुण्डलिनी के ऊपर आरोपित हो गया है, क्योंकि वास्तव में सम्पूर्ण तन-मन प्राणशक्ति का अभिव्यक्त रूप ही तो है। एक विधि यह भी है कि अपनी किसी भी अवस्था में अपने शरीर के अन्दर, मन से झांका जाए, और अपनी उस वर्तमान अवस्था को अद्वैतमयी देहपुरुष की उसी अवस्था के समान समझा जाए। उससे अचानक ही मन/मस्तिष्क में कुण्डलिनी प्रकट हो जाती है। फिर श्वास-प्रश्वासों से उस कुण्डलिनी अग्नि को भड़का दिया जाए।

यह पूर्णतः सत्य है कि कुण्डलिनी के क्रियाशील होने पर, मन में एक अपार शक्ति का संचार होने लगता है। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी वैसा ही हुआ था। उसका मन तो आसमान से तारे तोड़कर लाने का भी करता था। वह उस समय किशोरावस्था में था, जिससे भी, उससे अपनी शक्ति संभाले नहीं संभल रही थी। वह पूरी दुनिया पर राज करने की योग्यता रखते हुए, सभी को सीधे रास्ते पर लाना चाहता था। उस शक्ति के झटकों से अपने शरीर को बचाने के लिए, वह सदैव कुछ न कुछ अद्वैतमयी काम करता रहता था, ताकि बेकाबू शक्ति का सकारात्मक निस्सरण होता रहता। उससे कुछ क्षणों के लिए भी खाली नहीं बैठा जाता था। जब थक जाता था, तब व्यर्थ की बातों से अच्छा, वह एकांत में विश्राम करने को समझता था। इस वजह से उसे बहुत सी तरक्कियाँ व उपलब्धियाँ भी प्राप्त हुईं। उसी शक्ति के कारण ही तो वह शविद को भी अपने व्यक्तिगत जीवन में उतार सका। इसका यह अर्थ है कि शक्ति के बिना तो अद्वैतभाव को भी विकसित नहीं किया जा सकता। शक्ति ही सब कुछ है, इसीलिए तो सभी धर्मों, विशेषकर हिन्दू संस्कृति में शक्ति को माता का रूप दिया गया है, क्योंकि माता ही सब कुछ देती है। धीरे-धीरे, आयु बढ़ने के साथ, वह शिथिल होता गया, और उसकी शक्ति/ऊर्जा स्वतः ही उसके नियंत्रण में आने लगी। दूसरी बार, जब फिर उसकी कुण्डलिनी जागृत होकर क्रियाशील हुई, तब तक वह आयु के बहुत से पड़ाव लांघ चुका था। उसकी शक्ति ने तब भी बहुत हिलौरे मारे, जिससे उसने बहुत सारे आश्चर्यजनक काम भी किए, परन्तु तब पहले के जैसी बात नहीं थी। उस कुण्डलिनी शक्ति को धारण करने वाला, उसका तन-मनरूपी यंत्र बहुत पुराना हो चुका था। फिर भी उसे बहुत शक्ति मिली। उसने अपने कुण्डलिनीजागरण के एकदम बाद ही, उससे उपलब्ध शक्ति से इस विशाल, भावपूर्ण, भाषाव्याकरणानुसार, मस्तिष्कपूर्ण व सारगर्भित लिखित/अनुभूत शब्द-सामग्री को संकलित व पुस्तकीकृत किया। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कुण्डलिनीजागरण के एकदम बाद ही ऋषि-मुनियों ने इसी शविद-पुस्तक के जैसे वेद-पुराण लिखे हैं। कुण्डलिनीजागरण से उत्पन्न महान मस्तिष्कीय/मानसिक शक्ति ही ऐसे महान व आध्यात्मिक कार्य करवाती है।

आत्मज्ञान या कुण्डलिनीजागरण के बाद भी, यदि उनसे उत्पन्न अद्वैतभाव को बलपूर्वक दबा दिया जाए, तो वे पारलौकिक आध्यात्मिक अनुभव तीव्रता से विस्मृत होने लगते हैं, और उनसे संभव मानी जाने वाली मुक्ति के सम्बन्ध में भी शंका उत्पन्न होने लगती है। आग उसे भी जलाती है, जिसे आग के बारे में पूरा ज्ञान होता है, और उसे भी, जिसे ज्ञान नहीं होता। इसी तरह, मोहमाया अज्ञानी व आत्मज्ञानी, दोनों को ही अपना निशाना बना लेती है। जैसे आग के बारे में

जानने वाला, उससे सावधान रहता है, और उसके शिकंजे में नहीं फंसना चाहता; उसी तरह, मोहमाया को अच्छी तरह से समझने वाला आत्मज्ञानी, उससे सावधान रहता है, और सदैव उससे बचाव के लिए प्रयासरत रहता है। यदि आत्मज्ञानी पूर्णतः माया से अछूते होते; तो भगवान कृष्ण, राम, बुद्ध आदि लोग पूरे जीवनभर अद्वैतमयी योगसाधना में न लगे रहते। इस तरह से, जब आत्मज्ञान या कुण्डलिनीजागरण के बाद भी अद्वैतभाव को धारण करना ही पड़ता है, तब सीधे ही उस अद्वैतभाव को क्यों न धारण किया जाए, जो कभी धोखा नहीं देता; आत्मज्ञान या कुण्डलिनीजागरण के पीछे क्यों भागा जाए, जिनका प्रभाव अद्वैतभाव को निरंतर जारी रखे बिना, नष्ट भी हो सकता है? मुक्ति के लिए आत्मज्ञान को आवश्यक समझा जाता है, परन्तु उसका दीर्घकालिक प्रभाव भी अद्वैतभाव के ही आश्रित है; क्योंकि कुछ समय के बाद आत्मज्ञान तो विस्मृत हो जाता है, केवल अद्वैतभाव ही शेष बचा रहता है। फिर क्यों न अद्वैतभाव को ही मुक्ति के लिए प्रत्यक्ष रूप से आवश्यक समझा जाए? प्रेमयोगी वज्र ने २० वर्षों तक शविद-अद्वैत का आचरण किया था, तभी उसे कुण्डलिनीजागरण के लिए यौगिक प्रयास करने की आत्मप्रेरणा मिली। यदि उसे कुण्डलिनीजागरण न भी हुआ होता, तो भी उसे कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि केवलमात्र अद्वैत से ही उसे मुक्ति व तृप्ति का आभास होने लग गया था। इस तरह से, अद्वैतधारणा से लाभ ही लाभ है। परन्तु यदि वह अद्वैत को ठुकरा कर, केवल कुण्डलिनीजागरण या आत्मज्ञान के लिए ही अंधी दौड़ लगाता, तो हो सकता था कि उसे कुछ भी नहीं मिलता। वास्तव में, अधिकाँश लोगों को, अद्वैत को ठुकरा कर सीधी सफलता मिलती ही नहीं है। अद्वैतधारणा से दोनों ही अवस्थाओं में मुक्ति सुलभ प्रतीत होती है, चाहे कुण्डलिनीजागरण/आत्मज्ञान हुआ हो या न हुआ हो। सीधा सा अर्थ है कि साधक का प्राथमिक उद्देश्य तो अद्वैतभाव/कर्मयोग ही होना चाहिए। कुण्डलिनीजागरण या आत्मज्ञान तो द्वितीय/गौण उद्देश्य ही होना चाहिए।

प्रेमयोगी वज्र को आत्मज्ञान की पूर्वोक्त झलक के अनुभव के बाद, सारा संसार विक्षिप्त सा लगता था। अधिकाँश लोग संसार के प्रति अंधे प्रेम व आसक्ति में डूबे हुए, उसकी नक़ल करके जैसे स्वयं भी विक्षिप्त हो गए थे। अतः वह शाँत, सबसे अलग व संसार से कटा-कटा सा रहता था। अतः स्वाभाविक था कि वह चित्तवृत्तियों की चकाचौंध के लिए, संसार का आश्रय कम से कम ही लेता था, संसार से धोखे के डर से। यदि कभी संसार का आश्रय लेता भी था, तो अद्वैतमयी आत्मज्ञान के स्वाभाविक प्रभाव के साथ, परन्तु उसमें साधारण लोग-बाग़ को अँधेरा ही प्रतीत होता था। वास्तव में, जो/आत्मा आत्मज्ञानियों के लिए सर्वाधिक प्रकाश होता है, वह/आत्मा अज्ञानियों के

लिए सर्वाधिक अन्धकार होता है। अतः उस भय के कारण, उसने संसार का आनंद लेना लगभग छोड़ ही दिया था, विशेषतः अज्ञानी लोगों की संगति के बीच में। वैसी हालत में, कुण्डलिनी ने ही उसके मन में चेतनामयी चकाचौंध को बना कर रखा, और उसे जीवन से हतोत्साहित नहीं होने दिया। वह उसका समुचित मार्गदर्शन व उसकी समुचित सुरक्षा करती रही।

अद्वैतभाव से स्वयं ही अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब हम किसी भी कर्म-संकल्प को शविद के ध्यान की सहायता से, अद्वैतभाव के साथ धारण करते हैं, उसी समय वह कर्म-संकल्प, खरगोश के सींग की तरह, स्वयं ही मन से गायब हो जाता है, अर्थात उससे चिपकाहट (attachment) समाप्त हो जाती है, या यूं कहो कि मन के साथ उस कर्म-संकल्प को जोड़ने वाला गोंद पल भर में ही सूख जाता है।

निरंतर के यौनयोग के प्रभाव से; एक यौनयोगी बच्चे की तरह शाँत, निर्मल, हक्का-बक्का सा, थका-थका सा, अद्वैतशील, अनासक्त, मानसिक कुण्डलिनी से परिपूर्ण, निश्चिन्त व आनंदमयी बन जाता है। उसे अपना सिर खाली-खाली सा, विचारशून्य सा व हल्का सा प्रतीत होता है। उस विचारशून्यता के बीच में, चमकती हुई कुण्डलिनी उसके मन में स्वयं ही बीच-बीच में उभरती रहती है, जो संभवतः उसके दिव्यानंद का कारण होती है। वैसी अवस्था में, उसकी कुण्डलिनी अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर कभी भी जागृत हो सकती है।

कुछ अभ्यास हो जाने पर, कुण्डलिनी-घुमाव के समय, बंधों की सहायता से, चक्र पर स्थित कुण्डलिनी के ऊपर जब पूरे शरीर के प्राण इकट्ठे हो रहे हों, उस समय भावना करनी चाहिए कि प्राणों के साथ पूरा तन-मन ही वहाँ पहुँच गया है, और कुण्डलिनी के साथ जुड़कर एकाकार हो गया है। फिर साधारण साँस लेते हुए, यह ध्यान करना चाहिए कि वह कुण्डलिनी-ज्वालापुंज प्राणवायु को खींच कर भड़क रहा है। वास्तव में, सभी कुछ प्राण/प्राणवायु की ही अभिव्यक्ति तो है। वास्तव में, वैदिक हवन भी कुण्डलिनी को भड़काने के लिए ही किया जाता था। उसमें अग्नि-ज्वाला के रूप में कुण्डलिनी का, आहुतियों (अन्न/प्राण-शक्ति) व वायु (प्राणवायु) से भड़कते हुए रूप में ध्यान किया जाता था। साथ में, उसे विभिन्न शब्दों, सुगंधियों व संगीत-धुनों आदि से भी चहुँमुखी बल प्राप्त होता था। इसी तरह, जैसे ही शविद के अद्वैत से कुण्डलिनी प्रकट होने लगे, उसे साँसों से भड़का देना चाहिए। जैसे मोटर-इंजिन के भड़कने से या उसमें अग्नि के विस्फोट से हवा तेजी से व भारी आवाज के साथ उसके अन्दर प्रविष्ट होती है, उसी तरह कुण्डलिनी का ध्यान करने से, उसका पीछा करती हुई साँसें भड़क जाती हैं। कहीं पर भी ध्यान देते हुए, चक्रों पर स्थित

कुण्डलिनी के ऊपर साँसों को उड़ेलते रहने से, वह कुण्डलिनी ध्यान के स्तर तक स्वयं ही चढ़ जाती है, और कोई भी ध्यान कुण्डलिनीमय बन जाता है। इसी तरह, ऐसा नहीं समझना है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, अपितु पेट से लिए जाते हुए लम्बे व गहरे साँसों पर ध्यान देते हुए, यह धारणा बना कर रखनी है कि साँसें ही कुण्डलिनी के ऊपर गिर कर, उसका ध्यान कर रही हैं। इससे दिमाग पर पड़ने वाला बोझ भी कम हो जाता है, और अधिक मुश्किल भी नहीं आती।

कुण्डलिनी एक मनुष्याकृत देहपुरुष ही है। वह भी हमारी तरह ही साँस लेती है। इसलिए हम चक्र पर, अपनी साँस के रूप में कुण्डलिनी को साँस लेते हुए व पुष्ट होते हुए देख सकते हैं।

आजकल अधिकाँशतः जहाँ कर्मठता है, वहाँ पर अद्वैत नहीं है, और जहाँ पर अद्वैत है, वहाँ पर कर्मठता नहीं है। इस तरह से, एक अंधे और एक लंगड़े की मित्रता की कथा के अनुसार, कुछ समाज अंधे हैं, तो कुछ लंगड़े। वास्तव में कर्मठता व अद्वैत एक-दूसरे की खुराकें भी हैं, जो एक दूसरे को पुष्ट करती रहती हैं। एक गुण के बिना, दूसरा गुण नष्ट होने लगता है। यदि दोनों इकट्ठे हो जाएं, तो जीवन्मुक्ति को कोई नहीं रोक सकता।

मूलबंध तो कुण्डलिनी की ऊंचाई के स्तर-नियंत्रक (level-regulator) की तरह ही होता है। इसे थोड़ा अधिक दबाने से, कुण्डलिनी थोड़ा ऊपर उठती है, और थोड़ा ढीला छोड़ने से, कुण्डलिनी थोड़ा नीचे उतरती है। इसका दबाव उस स्तर का रखा जाता है, जिससे कुण्डलिनी विशेष रूप से निर्दिष्ट चक्र पर बनी रहे।

प्रत्येक दर्शन/धर्म में कहा गया है कि आत्मज्ञान के बाद भी अद्वैतशील जीवन जीते रहना चाहिए, तभी आत्मज्ञान जीवन में दृढ़ हो पाता है, अन्यथा, वह अधूरा रह जाता है। प्रेमयोगी वज्र ने तो यह भी देखा कि अद्वैत के निरंतर पालन के बिना, आत्मज्ञान क्षीण भी हो जाता है। आत्मज्ञान या कुण्डलिनीजागरण की वृत्तियाँ भी अन्य चित्तवृत्तियों की तरह ही होती हैं, यद्यपि वे अपेक्षाकृत रूप से बहुत अधिक बलवान होती हैं, इसीलिए लम्बे समय तक याद रहती हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वृत्तियाँ कभी विस्मृत ही नहीं होतीं। नियम तो सभी समान वस्तुओं के ऊपर एक जैसा ही चलता है। वास्तव में वे भी विस्मृत हो जाती हैं, यद्यपि अन्य साधारण चित्तवृत्तियों की अपेक्षा बहुत लम्बे समय के बाद। इसका अर्थ है कि सदैव अद्वैत का परिपालन करना चाहिए। वास्तव में, अद्वैत ही सब कुछ है। वही भगवान है। वही मुक्ति है। वही आत्मज्ञान है। वही कुण्डलिनीजागरण है। वही प्रेम है। वही स्वर्ग है। वही मानवता है। अद्वैत वेदान्त भी तो यही कहता है। यह दर्शन अद्वैत को ही सब कुछ मानता है। यह दर्शन अद्वैत को ही वेद का अंत, अर्थात

वेद का सार बताता है। यदि मन में अद्वैतभाव विद्यमान हो; तब संकल्प-विकल्प बड़ी शान्ति से, आराम से, प्रेम से व आनंद के साथ उभरते हैं। कई लोग सोच सकते हैं कि अद्वैतभाव को बनाने के लिए कोई शक्ति नहीं लगानी पड़ती, या कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वास्तव में, प्रयत्न के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अद्वैतभाव को निरंतर बनाए रखने के लिए भी निरंतर प्रयत्न करते रहना पड़ता है। जैसे ही वर्तमान स्थिति को अद्वैतयुक्त बनाने के लिए, शविद पर क्षणिक दृष्टि डाली जाती है{जैसी दृष्टि वाहनचालक (driver) किनारे के दर्पण (side mirror) पर डालता है। वह आगे की, सड़क की दृष्टि को हटाए बिना ही व सिर को मोड़े बिना ही, दर्पण पर क्षणिक व तिरछी दृष्टि डालता है}, वैसे ही वह वर्तमान की मानसिक स्थिति, आनंद के साथ हल्की होती हुई ओझल होने लगती है, और शविद-साधक चैन (relief) की एक लम्बी साँस (full breath) लेकर, अद्वैत में स्थित हो जाता है, जिससे उसकी कुण्डलिनी भी उजागर हो जाती है। शरीर के अतिरिक्त बाहर की प्रकृति या स्थूल जगत की ओर भी तिर्यक मानसिक दृष्टि डाली जा सकती है, क्योंकि शविद में हमने सिद्ध कर ही दिया है कि "यत्पिंडे तत्ब्रम्हांडे", अर्थात हर स्थान पर अद्वैतमयी देहदेश व उनमें निवास करने वाले अद्वैतमयी देहपुरुष विद्यमान हैं। जितनी अधिक बार, जितनी अधिक कर्मठता के साथ व जितनी अधिक निपुणता से कोई ऐसा करता है, उतना ही अधिक लाभ उसे होता है। ऐसा बार-बार करते रहना पड़ता है। इस विधि से, उसकी वर्तमान की यथोचित अवस्था भी दुष्प्रभावित नहीं होती, जैसे कि उक्त वाहनचालक की चालकता (driving) दुष्प्रभावित नहीं होती। वास्तव में, अद्वैत को बना कर रखना भी वाहन-चालन के जैसी ही एक कलाकारी है। अधिकाँश भौतिक काम तो शरीर से व स्वभाववश (आदतन) होते रहते हैं, जिनके लिए भटकते हुए मन की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। यदि अध्ययन या प्रबंधन आदि के मन के काम हों, तो वे काम, उनके अद्वैतसंपन्न होते ही; मन के बंधनकारिता, आसक्ति आदि स्वाभाविक दुष्प्रभावों से मुक्त हो जाते हैं। इसी तरह, कुण्डलिनी के प्रति क्षणिक तिरछी नजर से भी अद्वैत छा जाता है, और कुण्डलिनी उजागर हो जाती है। फिर वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए साँस को बढ़ा देती है, व उसे नियमित कर देती है। अन्दर जाती हुई साँस से कुण्डलिनी-अग्नि अधिकाधिक भड़कती जाती है, और बाहर निकलती हुई साँस से, उसका धुंआ बाहर निकलता जाता है। उस तिरछी नजर के बाद कुछ समय तक घबराने की जरूरत नहीं; क्योंकि फिर तो सभी कुछ, यहाँ तक कि अहंकार, बेचैनी, लोभ, मोह, आसक्ति आदि तथाकथित उत्पथगामी भाव भी रूपांतरित होकर, सत्पथगामी व लाभकारी बन जाते हैं।

कुण्डलिनीजागरण के निकट, प्रेमयोगी वज्र को विभिन्न आभासिक समस्याओं का सामना भी करना पड़ रहा था। आभासिक शब्द इसलिए, क्योंकि वे समस्याएँ यद्यपि उसे कभी-कभी वास्तविक लगती थीं, परन्तु गहराई से विचारने पर वे, समस्याएँ नहीं अपितु सुविधाएँ ही थीं। उसे आभासिक, आर्थिक समस्याओं का भान भी हुआ। उसे आभासिक शत्रुओं का भान भी हुआ। उसे आभासिक, सामाजिक समस्याओं का भान भी हुआ। उसे आभासिक, पारिवारिक समस्याओं का भान भी हुआ। उसे आभासिक, व्यावसायिक समस्याओं का भान भी हुआ। उसे देश-काल से सम्बंधित अन्य आभासिक समस्याओं का भान भी हुआ। उसे आभासिक, भावनात्मक समस्याओं का भान भी हुआ। इससे जाहिर होता है कि समस्याओं से कुण्डलिनी को खुराक मिलती है, क्योंकि समस्याओं से डरकर आदमी, कुण्डलिनी की शरण में चला जाता है। यदि किसी के जीवन में समस्याएँ न लिखी हों, तो कुण्डलिनी अपने जागरण के लिए, आभासिक (unreal) समस्याओं को उत्पन्न करती है। क्योंकि समस्याओं से घबराया हुआ व्यक्ति ही संसार को छोड़कर, एक कुण्डलिनी के आश्रित होता है; इसीलिए जब कोई व्यक्ति एकमात्र कुण्डलिनी के पोषण में व्यस्त हो जाता है, तब उसके जीवन में आभासिक समस्याएँ स्वयं ही उत्पन्न हो जाती हैं। वे समस्याएँ उसे प्रतीत नहीं होतीं या कभी-कभी हल्के रूप में प्रतीत होती हैं, परन्तु अन्य लोगों को, उसका अकेलापन देखकर, उसके जीवन में वे सत्यतः प्रतीत होती हैं। यह ऐसे ही होता है, जैसे कि दर्पण में वृक्ष नहीं होता, परन्तु प्रतीत होता है।

साधना का फल अवश्य मिलता है। यदि फल शीघ्र न मिले, तो देर-सवेर तो अवश्य ही मिलता है। जितनी मात्रा में साधना की जाए, उतनी मात्रा का फल अवश्य मिलता है। वास्तव में साधना का फल इकट्ठा होता रहता है, और कुण्डलिनीजागरण के रूप में, कालांतर में इकट्ठा ही प्रकट होता है। साधना वही है, जिसमें कुण्डलिनी का ध्यान होवे, बेशक वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो। वह संध्यावंदन-योग, कर्मयोग, शविदयोग, अद्वैतयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कुण्डलिनीयोग आदि-आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है।

अद्वैत को धारण करने से, आदमी नशेड़ी के जैसा भी लगता है। वह जागते हुए भी, सोया हुआ सा लगता है। वह काम करते हुए भी, निकम्मा जैसा लगता है। वह होश में होते हुए भी, बेहोश जैसा लगता है। वह जीवित होते हुए भी, मृत जैसा लगता है। वह स्वस्थ होते हुए भी, रोगी जैसा लगता है। वह चुस्त व तरोताजा होते हुए भी, सुस्त व थका हुआ सा लगता है। परन्तु वास्तव में वह इन सभी से अलग, एक दिव्यमानव जैसा होता है। वह विचारों के साथ होता है, परन्तु

विचारशून्य सा लगता है। यही अद्वैतावस्था या द्वैताद्वैतावस्था होती है, जिसे भावाभाव की अवस्था (trans state) भी कहते हैं। उसमें भाव (presence) भी होता है, और अभाव (absence) भी। दूसरे शब्दों में यदि कहें, तो न तो उसमें भाव होता है, और न ही अभाव।

सिद्धासन के समय, जब दाएं पाँव को नीचे रखते हैं, तब बायाँ पाँव, दाईं टांग के ऊपर से नीचे की ओर फिसलता रहता है। उस फिसलन से बचने के लिए, बाएँ पाँव को, मोड़ी गई दाईं टांग की दरार में, ठीक ढंग से फिट (fit) करना पड़ता है। इससे दोनों पाँवों की गोलाकार हड्डियां आपस में टकरा सकती हैं, परन्तु धीरे-धीरे आदत पड़ जाती है। सिद्धासन को बलपूर्वक व हठपूर्वक, बिना अभ्यास के नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि इससे बहुत से योगियों के घुटने खराब हो गए हैं। धीरे-धीरे आदत डालनी चाहिए। यदि सिद्धासन में असहज लगे, तो अर्धसिद्धासन या साधारण आसन भी लगा सकते हैं। वैसे तो अर्धसिद्धासन में भी घुटनों पर तनाव महसूस होता है। इसलिए नितम्ब (hip) को किसी पतले सिरहाने आदि की सहायता से कुछ ऊंचाई पर रखना चाहिए, जिससे टांगें घुटनों की दिशा में, उतराई में हो। उससे घुटनों में राहत महसूस होती है।

साक्षीकरण-भाव व अद्वैत का भाव, ये दोनों भाव साथ-साथ होने चाहिए। यदि अद्वैत का भाव न हो, तो साधक एक ही साक्षीकृत भाव से चिपका रहता है, आसक्ति के कारण। भावों को, अतः कर्मों को, अतः जीवन को गति देने के लिए, अद्वैत का भाव भी साथ में होना चाहिए। अद्वैत के बिना साक्षीकरण-भाव तो किया जा सकता है, परन्तु साक्षीकरण-भाव के बिना अद्वैतभाव को सरलता से धारण नहीं किया जा सकता। वास्तव में गहराई से देखने पर दोनों एक ही चीज है।

शास्त्रों में जो अधिकतर स्थानों पर वर्णन आता है कि यह जीवन असत्य है, इस संसार को सत्य न समझो आदि-आदि, उसमें भी संभवतः शविद-रहस्य ही छिपा हुआ है। यदि कोई, जीवन को यथोचित जीते हुए भी, उसे असत्य समझेगा, तो स्वाभाविक है कि जीवन के प्रति अनासक्ति ही रखेगा। यदि कोई, जीवन को पूर्णतया असत्य समझकर, नकार ही देगा, तब तो वह जीवन को ही जी नहीं पाएगा। फिर भी, अब तो विज्ञानवादी भी यह मानने लग गए हैं कि यह जगत असत्य/३डी सिमुलेशन/वर्चुअल (3D simulation/virtual) प्रकार का है। वे इसे परग्रहीय प्राणियों द्वारा एक विशालकाय कम्प्यूटर (computer) में खेली जा रही एक त्रिआयामी गेम (3D game) मान रहे हैं। वास्तव में अंतरिक्ष ही तो वह कम्प्यूटर है, तथा ईश्वरप्रेरित देवता ही जगतरूपी गेम खेलने वाले गेमर (gamers) हैं।

शास्त्रों में जो वर्णन आता है कि स्त्रियों की मोहमाया से बचो, तो संभवतः वह वर्णन प्रत्यक्ष दृष्टि से नहीं है, अपितु एक अप्रत्यक्ष सुझाव ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्त्रियों के सुन्दर चेहरे से, उसकी मधुर वाणी से या स्त्रियोचित रसभरे विचार-व्यवहार से दूर रहो। यदि ऐसा किया जाएगा, तो यौन-उत्तेजना कैसे मिलेगी, और यदि उत्तेजना नहीं मिलेगी, तो कुण्डलिनी को जागरणहेतु मुक्तिगामी वेग कैसे मिल पाएगा? इसका वास्तविक अर्थ संभवतः यह है कि उत्तेजना के वश में होकर, स्त्रियों से वैसा नजदीकी संपर्क न बनाओ, जिससे कुण्डलिनी शक्ति बाहर चली जाए, या सामाजिकता को क्षति पहुंचे; अपितु मध्यमार्गी बन कर रहा जाए। साथ में, स्पर्श आदि के अतिनिकटता के सम्बन्ध से, अनेक बिमारियों के फैलने का डर भी बना रहता है। योगशास्त्रों में यह वर्णन भी आता है कि योग के दीर्घकालिक अभ्यास से व्यक्ति आकर्षक हो जाता है, जिससे वह स्त्री की मोहमाया में फँस सकता है। इसका तात्पर्य संभवतः यही है कि पुष्टता को प्राप्त हुई कुण्डलिनी, अपने जागरण के लिए, यौनयोग की ओर स्वतः ही आकर्षित होने लगती है, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र के साथ हुआ था। परन्तु अधिकाँश योगी इस बात को समझ ही नहीं पाते, और उन्हें योग्य गुरु आदि का भी उचित मार्गदर्शन नहीं मिल पाता, जिससे उनकी योगभ्रष्ट बनने की संभावना बनी रहती है।

कुण्डलिनीयोग संभवतः सुनार की ठक-ठक की तरह काम करता है। सुनार अपनी छोटी सी हथौड़ी से, धीरे-धीरे चोट पहुंचाता हुआ, सोने को यथावश्यक आकार दे देता है। बड़ी या लोहार वाली चोट से तो मुलायम सोना टूट भी सकता है। इसी तरह से, कुण्डलिनीयोगी भी प्रतिदिन के थोड़े-थोड़े व नियमित अभ्यास से, अपनी कुण्डलिनी को धीरे-धीरे पुष्ट करता हुआ, उसे जागरण की ऊंचाई तक ले जाता है। इसी सिद्धांत के अनुसार ही महान योगी श्री लाहिड़ी महाशय जी भी कुण्डलिनीयोग के बारे में कहा करते थे,"बनत-बनत बन जाए"। जिस तरह से पत्थर पर लगातार व हल्की-हल्की हथौड़ी मारते रहने से, वह धीरे-धीरे कमजोर होता रहता है, और अंत में टूट ही जाता है; उसी तरह से हल्की-हल्की साँसों से कुण्डलिनी धीरे-धीरे पुष्ट होती रहती है, और अंत में प्रचंड हो जाती है। जैसे हवा की शक्ति से चलने वाली, इंजन (engine) की हथौड़ी (piston) का थोड़ा-थोड़ा व लगातार लगने वाला प्रहार, बड़े-बड़े वाहनों के भारी पहियों (tyres) को भी घुमा देता है, उसी तरह से साँसों का हल्का-हल्का व नियमित रूप से लगातार लगने वाला प्रहार, दबी हुई कुण्डलिनी को धीरे-धीरे उजागर करके झकझोर देता है, और उसे क्रियाशील कर देता है। जिस तरह से भूमिखोदकयंत्र (buldozer) बार-बार, थोड़ा-थोड़ा पीछे हटकर मिट्टी को शक्तिशाली

धक्का देता रहता है, उसी तरह से मन व प्राण (साँसें) भी कुण्डलिनी को धक्का देते हुए, बार-बार व थोड़ा-थोड़ा करके पीछे हटते रहते हैं, ताकि वे शक्ति का पुनः-पुनः संचय करके, पुनः-पुनः जोर का धक्का लगा सकें, और कुण्डलिनी को झकझोर सकें। यदि एकसाथ ही बहुत अधिक साधना की जाए, तो योगी के मुलायम मस्तिष्क के ऊपर, और उससे उसके जीवन के ऊपर दुष्प्रभाव भी पड़ सकता है। इसीलिए चक्र पर बहुत अधिक समय तक साँस को नहीं रोकना चाहिए, अन्यथा उससे उस समय ध्यान-शक्ति कुछ कम हो जाती है, नींद सी भी आने लगती है, दम घुटने लगता है, और हो सकता है कि कुछ दीर्घकालिक दुष्प्रभाव भी पड़ता हो।

कुण्डलिनीयोग से शीघ्रतापूर्वक लाभप्राप्ति हेतु, अनुकूल परिस्थितियों का प्राप्त होना अत्यंत आवश्यक होता है। अनुकूल परिस्थितियाँ ईश्वरभक्ति से उपलब्ध ईश्वरकृपा के बिना प्राप्त नहीं होतीं। यदि शविद का आश्रय लिया जाए, तो प्रतिक्षण ही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ भक्ति स्वयं ही होती रहती है, क्योंकि अद्वैत से ही वास्तविक ईश्वरभक्ति हो सकती है। ईश्वर ने अद्वैतशील देहपुरुष, मानवता के विकास के लिए ही बनाए हैं। जब मनुष्य इस बात को ध्यान में रखकर शविद का आचरण करता है, तब सर्वश्रेष्ठ भक्ति स्वयं ही हो जाती है। प्रेमयोगी वज्र को भी कुण्डलिनी-जागरण के समय, संभवतः इसी उपरोक्त कारण से ही अनुकूल परिस्थितियाँ मिली थीं। युक्तियुक्त मानवता व कर्मठता के साथ शविद-पुराणों के २० वर्षों के अभ्यास से, जब उसे अचानक ही गहन एकांतसेवन का स्वयंभूत-अवसर मिला, तब वह स्वयं ही कुण्डलिनी की खोज में प्रवृत्त हो गया। फिर साधारण पुस्तकों व ई-पुस्तकों की सहायता से लगभग १ वर्ष की खोजबीन के बाद, वह कुण्डलिनी के प्रत्यक्ष अनुभव के लिए स्वयं ही कुण्डलिनीयोगसाधना में प्रवृत्त हो गया। यदि वह देर कर देता, तो उसका मन पहले की तरह ही, फिर से साँसारिक जंजालों से भर जाता, जिससे वह योगसिद्धि को उतनी सहजता से न प्राप्त कर पाता। अतः ईश्वरप्रेरणा से ही वह सही समय पर सही निर्णय ले पाया।

वास्तव में गुरु आदि, जो भी साधक की कुण्डलिनी के रूप में विद्यमान होता है, उसके बारे में वह किसी को बता ही नहीं पाता, क्योंकि वह कुण्डलिनी उसकी आत्मा के सर्वाधिक निकट होती है, और अपने आप/अपनी आत्मा के लिए कोई यह कैसे बोले कि मैं अपने आप का ध्यान करता हूँ। जिसके मन में द्रष्टा (अपने) व दृष्य (संसार/कुण्डलिनी) के बीच में जितना अधिक भेद/फाँसला हो, वह उसका उतना ही अधिक ढिंढोरा पीटता है। तभी तो कहते हैं कि जिस से वास्तविक प्यार हो जाता है, "उससे मुझे प्यार है", ऐसा उसके लिए कह ही नहीं सकते, क्योंकि उसका चित्र मन में

पक्की तरह से बस जाता है, और उस प्रेमी का अपना ही रूप बन जाता है। इसलिए कोई पागल ही कहेगा कि मुझे अपने से प्यार है। जिससे प्यार होने का दावा किया जाता है, वास्तव में उससे प्रेम होता ही नहीं, और यदि प्रेम होता भी है, तो उसकी घोषणा की जाने पर वह नष्ट हो जाता है। किसी वस्तु/व्यक्ति के बार-बार के ध्यान से, उसके प्रति चैतन्यमयी/आनंदमयी प्रेम बढ़ता है। यही कुण्डलिनीयोग का मूलभूत सिद्धांत है, तभी तो कुण्डलिनी सबसे प्यारी वस्तु (मानसिक) बन जाती है।

कई लोग सोचते हैं कि संयुक्त परिवार अधिक अच्छे होते हैं, और कई सोचते हैं कि विघटित परिवार अधिक अच्छे होते हैं। वास्तव में आवश्यकतानुसार, दोनों ही, अधिक अच्छे होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुण्डलिनी के विकास के समय, अद्वैत के साथ उच्च कर्मठता, उच्च प्रेम व उच्च व्यावहारिकता की प्राप्ति के लिए, बड़े परिवार लाभदायक होते हैं। परन्तु कुण्डलिनी के अंतिम पोषण व उसके जागरण के लिए, अल्प कर्मठता-व्यावहारिकता के साथ, शाँतियुक्त व एकान्तयुक्त छोटे परिवार अधिक लाभदायक होते हैं। प्रेमयोगी वज्र के साथ भी ये उपरोक्त परिस्थितियाँ ऐसे ही घटित हुई थीं।

कुण्डलिनीयोग वास्तव में यौनयोग के अंतर्गत प्राप्त यौनशक्ति का नियामक (regulator) व नियंत्रक (controller) भी है। यह यौनशक्ति को बचाते हुए, उसे सही दिशा में, अर्थात कुण्डलिनी के पोषण में लगवाता है। वास्तव में आदमी जब विभिन्न कारणों से तनावग्रस्त व थका हुआ सा हो जाता है, तभी उसका मन यौनसंबंधों की ओर भागता है, ताकि वह तुरंत ही शक्ति को प्राप्त कर सके। यद्यपि वह उस यौनशक्ति को उत्पन्न तो कर लेता है, परन्तु उसे खपा नहीं पाता, और शीघ्र ही स्राव के रूप में बर्बाद कर देता है। उससे, शक्ति प्राप्त होने की बजाय, उस आदमी को शरीर की कुछ पुरानी व संचित शक्ति से भी हाथ धोना पड़ता है। एक प्रकार से, वह सौ के चक्कर में पड़कर, एक को भी गँवा देता है। वास्तव में कुण्डलिनी ही वह चैतन्यमयी बैटरी (conscious battery) है, जो यौनशक्ति को अपने अन्दर भंडारित करके रख पाती है, और फिर धीरे-धीरे करके छोड़ती रहती है, जिससे आदमी कई प्रकार के उत्तम कर्मों को, यहाँ तक कि कुण्डलिनी-जागरण व आत्मज्ञान को भी सिद्ध कर लेता है। अपनी इसी शक्ति से तो कुण्डलिनी, साधक के आत्मसंयम को बढ़ाती है, जिससे यौनापराध से भी सुरक्षा हो जाती है। यौनयोग के समय, सर्वप्रथम यदि लगभग १ घंटे तक कुण्डलिनीयोग का किसी भी रूप में अभ्यास किया जाए, तभी कुण्डलिनी-समाधि में दृढ़ता उत्पन्न हो पाती है, जिससे वह दृढ़ संयमशक्ति प्राप्त होती है, जो यौनयोग को सफल बनाती

है। इसका अर्थ यह है कि एक बैठक (single sitting) का साधारण कुण्डलिनी-योगाभ्यास न्यूनतम एक घंटे का तो होना ही चाहिए, तभी वह लाभकारी प्रभाव उत्पन्न कर पाता है। सुबह-शाम के नियमित कुण्डलिनीयोगाभ्यास से, दिवस-रात्रि (स्वप्न) में किए हुए सारे क्रियाकलाप व सोच-विचार स्वतः ही अद्वैतमयी बन जाते हैं। चेत् प्रारम्भे पूर्वोक्तं यबयुमासनबद्धकुण्डलिनीपरिभ्रमणं दीर्घकालपर्यन्तं कृतं तर्हि एव यौनयोगः संयमपूर्णः, शक्तिप्रदः, कुण्डलिनीपोषकः मानवतापूर्णः च। कुण्डलिनी यौनलोलुपतां अपि निवारयति। चेत् व्यवहारकालेषु यौनयोगसहचरेण सहचर्या वा उत्तमव्यवहारः, तदैव सः सा वा यौनयोगे सहायते। साधारणजीवनकाले अपि, चेत् कश्चिदपि उत्तेजनया लिङ्गं प्रसरितं भवति, तर्हि अपि व्यावहारिकोड्डीयानबंधः स्थापितव्यः (शरीरं/प्राणं ऊर्ध्वं प्रति आकृष्य), येन् लिङ्गिस्थता कुण्डलिनी मस्तिष्के विकसती भावितव्या। अनेन लिङ्गं पूर्वावस्थायाः स्वलघ्वाकारे सहसा पुनः निवर्तते। एतद् पुनः-पुनः कृत्वा, कुण्डलिनी मस्तिष्के अतीव पुष्टा जायते। एतदेव तन्त्ररहस्यं, एतदेव तन्त्ररहस्यं। अनेन एव प्रेमयोगी वज्रेण प्रथमदेवीरानीसंगकाले तद्भौतिकस्पर्शबिना एव केवलं यौनोत्तेजनया तद्रूपस्य समाधिस्थितिः लब्धा यथा पूर्वोक्तमपि।

ज्योतिष-शास्त्र, वास्तु-शास्त्र आदि-आदि, जो विभिन्न आध्यात्मिक आचार-विचारों से सम्बंधित शास्त्र व श्लोकादि बने हैं, वे सभी मुख्यतः आसक्ति का नाश करने के लिए ही तो बने हैं, इसलिए शविद के अनुरूप ही हैं। उनकी सहायता से, कोई भी मनमर्जी नहीं चला पाता, जिससे आसक्ति से बचाव स्वतः ही होता रहता है। वास्तव में आसक्ति अधिकाँशतः मनमर्जी के कामों में ही होती है। परन्तु उपरोक्त शास्त्रों से एकमात्र हानि होने की संभावना यही होती है कि ठीक ढंग से समझे बिना ही उनको अपनाने से, कार्य करने की गति बहुत धीमी भी हो सकती है, जिससे त्वरित व सम्पूर्ण विकास बाधित भी हो सकता है। शविद से ऐसा नहीं होता, क्योंकि इसमें समस्यानुसार व आवश्यकतानुसार, मानवता के साथ व मानवता के हित में, कोई भी आचरण, किसी भी प्रकार से किया जा सकता है। शविद सहित उपरोक्त शास्त्रों की सहायता से उत्पन्न अनासक्ति से अद्वैत स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि प्रकाशमान संसार के प्रति किसी की अनासक्ति का सीधा सा अर्थ यही है कि वह अपनी विचारशून्य व स्वाभाविक आत्मा को भी किसी से कम नहीं समझता, अर्थात उसके लिए भाव-अभाव, सभी कुछ बराबर है।

प्रेमयोगी वज्र को कुण्डलिनीजागरण से सर्वाधिक व त्वरित लाभ यह हुआ कि उसका पीछा प्रथम देवीरानी के रूप की मानसिक कुण्डलिनी से छूट गया, क्योंकि उसके स्थान पर तब, उसके

गुरु के रूप की कुण्डलिनी प्रतिष्ठित होने लग गई थी। वैसे यह जागरण के बहुत पहले से ही होना प्रारम्भ हो गया था, जागरण के बाद तो उसमें एकाएक वृद्धि, उसके प्रति विश्वास में वृद्धि व उस सम्बन्ध में आत्मसंतुष्टि ही अनुभव की गई। उसकी नई कुण्डलिनी (वृद्धाध्यात्मिकपुरुष) का जागरण तभी हुआ, जब उसकी पुरानी कुण्डलिनी (प्रथम देवीरानी), समय के थपेड़ों के साथ-साथ, बहुत क्षीण हो गई थी। इसका अर्थ यह है कि कुण्डलिनीजागरण एक सतत व धीरे-धीरे संचित होने वाली (cumulative) प्रक्रिया है, एकदम से (instant) या अचानक से होने वाली प्रक्रिया (on-off system) नहीं है। पूर्व में तो प्रेमयोगी वज्र को ऐसा लगता था कि यह स्त्री-स्वभाव ही है, जिससे वह अपने प्रेमी से बहुत प्रेम व उसकी बहुत सेवा करती है, तभी देवीरानी का मानसिकचित्र उसका हर प्रकार से भला कर रहा था। वह यह बात नहीं समझ पा रहा था कि ऐसा करना किसी भी कुण्डलिनी का स्वभाव है, केवल स्त्रीविशेष-सम्बंधित कुण्डलिनी का ही नहीं। यद्यपि यह बात अलग है कि पुरुष-स्त्री के बीच में स्वाभाविक यौनाकर्षण के कारण, स्त्री के भौतिकरूप की मानसिक कुण्डलिनी, पुरुष के मन में बहुत बलवान होती है। वह सोचता था कि जब किसी का मानसिकचित्र, उसका उतना अधिक भला कर रहा था, तब तो उसका वास्तविक भौतिकरूप और भी अधिक भला करता। इसीलिए वह देवीरानी के भौतिकरूप के प्रति भी बीच-बीच में ललायित हो जाता था। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। ऐसा सर्वोच्चकोटि का भला केवल कुण्डलिनी ही कर सकती है, कोई भौतिकरूप नहीं। इसी सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने के कारण, वह अपनी द्वितीय देवीरानी के भौतिकरूप की तरफ से, अपनी प्रथम देवीरानी की कुण्डलिनी से भी अधिक सहयोग की अपेक्षा रखने लगा था, और वैसा न होने पर बार-बार क्रोधित भी हो जाया करता था। बाद में, जब द्वितीय देवीरानी के भौतिकरूप ने अप्रत्यक्षरूप से उसकी गुरु-कुण्डलिनी के जागृत होने में सहयोग किया, तब जाकर सारी बात उसकी समझ में आई। फिर उसने देखा कि उसकी गुरु-कुण्डलिनी तो उसकी पूर्व की देवीरानी-कुण्डलिनी से भी अधिक, उसका भला कर रही थी, क्योंकि वह गुरु-कुण्डलिनी, देवीरानी-कुण्डलिनी की तरह उत्तेजना भी उत्पन्न नहीं कर रही थी, तथा उसकी तरह असामाजिक भी नहीं थी। वास्तव में स्त्री के भौतिकरूप को इसीलिए महत्ता देते हुए, उसे प्रेम, हितैषिता, सद्प्रेरणा आदि प्रदान करने वाली देवी के रूप में मानकर, उसे मानसिक कुण्डलिनी की समकक्षता दी गई है, क्योंकि उसका वास्तविक भौतिक स्वभाव भी कुण्डलिनी से मिलता जुलता ही है, और कुण्डलिनी-जागरण में सर्वाधिक सहयोग भी करता है।

अद्वैत से कर्म की गुणवत्ता में भी वृद्धि होती है। अद्वैत से व्यर्थ की चित्तवृत्तियों पर स्वतः ही लगाम लगती है। अतः इससे जिस मानसिक शक्ति की बचत होती है, वह कर्म की गुणवत्ता को बढ़ाने में स्वतः ही उपयुक्त होती रहती है। साथ में, कुण्डलिनी भी पुष्ट होती रहती है। यह तो वैसे ही हुआ जैसे, “एक पंथ दो काज”।

कभी-कभी लेखक को लगता है कि यह संसार आत्मज्ञानियों की इच्छा से भी चलता है। जब किसी विशेष परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तब सनातन प्रकृतिदेवी अपनी शक्ति से अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करके, किसी तद्योग्य व्यक्ति को आत्मज्ञानसंपन्न कर देती है। क्योंकि आत्मज्ञानी व्यक्ति तो आप्तकाम व पूर्णकाम हो जाता है, अतः उसे वह देवी, जगहितकारी कामना करने के लिए, अनेक प्रकार से बाध्य करती है। वह उसके जीवन में आभासिक कष्ट, दुःख, पीड़ाएँ व मुसीबतें आदि उत्पन्न कर देती है; जिससे वह बिना मानसिक विकारों के ही, जगत के कल्याण के लिए, इच्छा करने के लिए बाध्य हो जाता है। प्रकृति फिर उसकी उस इच्छा को पूरा करने का अभियान छेड़ देती है। शास्त्रों में जो कहा है कि ब्रम्ह की इच्छा से ही संसार चल रहा है, वह संभवतः ब्रम्हज्ञानियों की इच्छा को भी दर्शाता है। यह भी कह सकते हैं कि ब्रम्ह अपनी इच्छा को ब्रम्हज्ञानियों के माध्यम से भी प्रकट करवाते हैं।

लेखकः अनुभवति यत् संभवतः वज्रस्य आकारप्रकाराभ्यामेव कुण्डलिनीनामजन्म। यदैव वज्रः प्रसारितः लम्बितः च, तदैव कुण्डलिनी तदोपरि आरोपिता। यदैव वज्रः संकुचितः किञ्चिच्च कुण्डलितः, तदैव कुण्डलिनी तत्रतः निस्सृता बन्धैः च मस्तिष्के प्रकटिता। चेत् कदापि लोलुपतया यौनता अनुभूयात्, तर्हि अपि उत्साहं न त्यक्तव्यं। अग्रसरः पुरुषः अधः अपि स्खलति, पुनः उत्तिष्ठति अपि। सदैव मनसि यौनयोगनिष्ठा निर्मितव्या आत्मानम् उत्तिष्ठितुं च प्रयतितव्यं। यह लोकोक्ति कुण्डलिनी के एकाग्र ध्यान के परिपेक्ष्य में ही बनी हुई प्रतीत होती है कि “एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाए”। स्त्रीलिंग में ‘कुण्डलिनी’ नाम, इसीलिए रखा गया प्रतीत होता है, क्योंकि यौनाकर्षण ही सर्वोत्तम समाधिकारक बल है, जिसके कारण स्त्री का समाधि-कुण्डलिनी बन जाना, सर्वाधिक संभावित है, जैसे कि प्रेमयोगी वज्र की कुण्डलिनी के रूप में प्रथम देवीरानी, सरलता, सहजता व दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो गई थी।

आत्मज्ञानी श्री रमन महर्षि के बारे में कहा जाता है कि एक बार उन्होंने बिना किसी दर्दरोधी दवा (anaesthetic) के अपना दांत निकलवाया था, जिसमें भयंकर दर्द होना स्वाभाविक था, परन्तु उन्हें दर्द का आभास नहीं हुआ। प्रेमयोगी वज्र को भी वैसा ही एक अनुभव हुआ था। वह उस

समय आत्मज्ञान के पूर्ण प्रभाव में था, क्योंकि उस समय उसे आत्मज्ञान को अनुभव किए हुए, ३ वर्षों (आत्मज्ञान का पूर्णप्रभावकाल) से कम समय ही बीता था। उसमें भी दवाई का असर नहीं हुआ था, जिससे दांत उखाड़ते समय उसे भयंकर दर्द हुआ था। दन्तचिकित्सक (dentist) ने उसको जोर से दबाकर व उसकी चिल्लाहट को नजरअंदाज करके, उसका दांत बलपूर्वक निकाल दिया। परन्तु उस दर्द से, उसे अपने अन्दर क्रोध आदि कोई भी विकार, लेशमात्र भी अनुभव नहीं हुआ। उसे वह दर्द भी दर्द की तरह नहीं लगा, अपितु अन्य अनुभूतियों के जैसी ही एक सामान्य अनुभूति की तरह लगा। उससे उसके अन्दर अद्वैत छा गया, और उसके मन में आत्मज्ञान के स्मरण की स्पष्टता भी कुछ बढ़ सी गई। साथ में, उसकी समाधि भी अधिक सुदृढ़ हो गई। यद्यपि ये सभी अतिरिक्त सुधार थोड़े समय के लिए ही थे।

संभवतः प्रेमयोगी वज्र २० वर्षों के लम्बे समय में भी, अपने कुण्डलिनीजागरण में इसीलिए सफल हो सका, क्योंकि वह एक पशुचिकित्सक था, और उन २० वर्षों तक निरंतर रूप से लोगों के घर-घर जाकर, उनके पशुओं से सम्बंधित विभिन्न मामलों में उन्हें अपनी सेवाएं देता रहा। उससे वह सदैव ही उच्चतम व्यावहारिकता में स्थित रहा, क्योंकि उससे उसकी विभिन्न क्षेत्रों के लोगों से अत्यधिक निकटता बनी रही। शरीर से सम्बंधित व्यवसाय होने के कारण, उसके मन में शविद स्वयं ही निरंतर रूप से व दृढ़ता से प्रतिष्ठित रहा। इस तरह से हम देख सकते हैं कि कुण्डलिनीजागरण के लिए कितने अधिक महान मानसिक बल की आवश्यकता होती है। इस तरह से, अपने व्यवसाय के अनुसार, कोई भी अपना निजी अद्वैत-दर्शन बना सकता है। क्योंकि शरीर को तो सभी धारण करते हैं, इसलिए शविद तो सभी के लिए ही निजीदर्शन प्रतीत होता है।

कुण्डलिनी से अद्वैत इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि जब हम कुण्डलिनी का ध्यान करते हैं, तब वह हमारी अंधकारमय आत्मा को अपने प्रकाश से भर देती है। उससे हमें अपने आप (आत्मा/स्वभावतः अन्धकाररूप/अभावरूप) व जगत (चित्तवृत्तियाँ/प्रकाशरूप/भावरूप) के बीच में अंतर महसूस नहीं होता, या कम अंतर महसूस होता है। इस तरह से, जब हमें अन्धकार व प्रकाश भी एक जैसे ही प्रकाशरूप लगने लगते हैं, तब विभिन्न प्रकाशों (चित्तवृत्तियों/भावों) के बीच में कैसे अंतर अनुभव हो सकता है। इसी तरह से, उस उत्पन्न अद्वैत से, जब भाव-अभाव आदि सभी कुछ एक जैसा ही प्रतीत होने लगता है, तब किसी विशेष वस्तु-भाव या अभाव के प्रति भी, क्योंकर विशेष लगाव या आसक्ति होगी।

कुण्डलिनी गुप्ताङ्गेषु सर्वाधिकबलशालिनी। तदैव तु यौनयोगे शरीरस्य प्रत्येकसंवेदनासु, विशेषतः गुप्तसंवेदनासु कुण्डलिनी आरोपिता ध्यायिता च। यौनाकर्षणे अपि गुप्ताङ्गेषु एव कुण्डलिनी सर्वाधिकप्रकटिता। एवमेव कुण्डलिनीयोगः एकः कृत्रिमः वा मानवनिर्मितः वा अल्पतरशक्तिशाली यौनयोगः एव।

आध्यात्मिक सफलता के लिए बहुत अधिक दृढ़ निश्चय, लगन, उत्साह, संयम आदि सात्विक व दिव्य गुण चाहिए होते हैं; वैसे ही, जैसे बहुत बड़े लौकिक उद्योग को स्थापित करने के लिए, ये गुण चाहिए होते हैं। इसलिए लौकिक उपलब्धियों पर भी ध्यान होना चाहिए, क्योंकि उनसे ये गुण विकसित हो जाते हैं, जिनसे भविष्य में आध्यात्मिक सफलता मिलने में बहुत सहायता मिलती है।

योग के बीच-बीच में, मन को इधर-उधर (विभिन्न शोर-शराबों,गानों व बातों आदि की ओर) थोड़ा-थोड़ा भागने देना चाहिए, परन्तु प्राणों का बल कुण्डलिनी पर ही रहना चाहिए। इससे, मन बाहर भागने से पैदा हुई शक्ति को अपने साथ लेकर, एकदम से कुण्डलिनी के ऊपर गिर जाता है, और उसे चमका देता है।

प्रेमयोगी वज्र को जब व्यावहारिक अद्वैत का आचरण करते हुए, स्वयं ही लम्बा समय बीत गया, तब वह रूपांतरित जैसा हो गया, और उसका व्यावहारिक अद्वैत भी अव्यावहारिक या प्रगाढ़ अद्वैत में स्वतः ही रूपांतरित हो गया। उससे, पहले तो वह अध्ययनशील बना, जिसमें उसने योग आदि से सम्बंधित पुस्तकें ही पढ़ीं। फिर संतुष्ट होकर, वह योगसाधना में प्रवृत्त हो गया। उसके बीच में, यौनयोग की ओर वह स्वतः ही आकृष्ट हुआ, और उससे सम्बंधित विषय पढ़ने लगा। फिर उन पुस्तकों में पढ़े हुए सर्वोपयुक्त विषयों को व्यवहार में ढालते हुए, वह यौनयोगमिश्रित कुण्डलिनीयोग में प्रवीण हो गया। उसी बीच उसका कुण्डलिनीजागरण भी हो गया।

लेखक ने पहले भी इस पुस्तक में, प्रेमयोगी वज्र के अनुभव से यह सिद्ध किया है कि अद्वैत व कुण्डलिनी साथ-साथ रहते हैं, इसलिए कभी भी कुण्डलिनी का ध्यान करने से, अद्वैत स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। अद्वैत को उत्पन्न करने की या मन को बांधने की यह ऐसी ही एक सरल व अप्रत्यक्ष युक्ति है, जैसी कि पूरे हाथी को न बांधकर, उसकी टांग को ही बांधने की, जिससे पूरा हाथी स्वयं ही आसानी से बंध जाता है। इसलिए योगसाधना से, प्रतिदिन कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए।

यदि कुण्डलिनी, चक्र से इधर-उधर भड़क रही हो, तो उसे उस चक्रस्थित कुण्डलिनी-अग्नि की ज्वाला समझना चाहिए, बेशक वह ज्वाला नीचे की ओर ही क्यों न हो, और चाहे वह ऊपर की

ओर, सिर तक ही क्यों न पहुँच जाए। क्योंकि थोड़े ही समय में कुण्डलिनी स्वयं ही अपनी ज्वाला के मूलस्थान अर्थात उस आधारभूत चक्र (जहाँ पर उस समय उसका ध्यान किया जा रहा हो) पर पहुँच जाती है। योगासन के समय, शरीर के जोड़ों को, अपने फेफड़ों के अन्दर साँस भरते हुए, शरीर के जोड़ों को ऐसे थोड़ा गतिशील अनुभव कर सकते हैं, जैसे कि वे जोड़ अपने अन्दर को साँस खींच रहे हों, और वहाँ पर ध्यायित की जाती हुई कुण्डलिनी को प्रदान कर रहे हों, विशेषकर यदि ध्यान लगाने में कठिनाई आ रही हो। जब कुण्डलिनीयोग करते हुए, योगियों को १-१.५ वर्ष का अभ्यास हो जाता है, तब कई बार वे योगी खड़े होते हुए, बैठते हुए व सोते हुए भी अनायास ही अपने शरीर की वैसी स्थिति बनाते रहते हैं, जिससे विभिन्न जोड़ों में से कोई भी, विशेषकर कमर का जोड़ (स्वाधिष्ठान चक्र के ठीक विपरीत, पीठ में) अधिक से अधिक स्पष्ट हो जाए, और साथ में, उस पर स्थित चक्रासना कुण्डलिनी भी। उस जोड़ की स्पष्टता से व साँसों की बदलती स्थिति से उसी जोड़ के बदलते दबाव/गति से, वे साँसे भी वहाँ पर आसानी से टकराती रहती हैं, जिससे वे साँसें भी कुण्डलिनी को भड़काती रहती हैं। क्योंकि रक्तवाहिनियाँ (blood vessels) एवं संवेदना-वाहिनियाँ (nerves) साथ-साथ होती हैं, इसलिए स्वाभाविक है कि जोड़ों के मुड़ने से या उनकी हलचल से, जब संवेदना-वाहिनियाँ दबाव आदि से क्रियाशील हो जाती हैं, तब रक्तवाहिनियाँ भी क्रियाशील हो जाती हैं। उन्हीं रक्तवाहिनियों से प्रवाहित होता हुआ प्राण, उस संवेदना के साथ-साथ, संवेदना-स्थान (चक्र आदि) पर स्थित कुण्डलिनी को भी पुष्ट कर देता है, वैसे ही जैसे दूब-घास की सिंचाई करने से, उसके ऊपर स्थित कीट की भी सिंचाई खुद ही हो जाती है। योगासन के समय मुख्य ध्येय तो केवल कुण्डलिनी के ध्यान का ही होना चाहिए, भौतिक व्यायाम का नहीं। इसलिए आसन को सर्वोत्तम बनाने की अपेक्षा कुण्डलिनी पर ही ध्यान देना चाहिए। आसन की गुणवत्ता कुण्डलिनी की गुणवत्ता के साथ-साथ स्वयं ही बढ़ती रहती है। आसन की गुणवत्ता पर भी ध्यान दिया जा सकता है, यद्यपि कुण्डलिनी के साथ-साथ, कुण्डलिनी की गुणवत्ता की कीमत पर नहीं। प्रेमयोगी वज्र तो योग के रूप में बहुत साधारण प्रकार के भौतिक व्यायाम भी करता था। वास्तव में, कोई भी भौतिक व्यायाम (विशेषतः खिंचाव-भरे, streching exercises) यदि योग के रूप में किया जाए, तो वह योग ही बन जाता है। शाम को कुण्डलिनीयोग करके, दिन भर का तनाव शाँत हो जाता है। उसके बाद खाना-पीना आदि कर लेना चाहिए, व उसके बाद हल्के-फुल्के मनोरंजन के लिए, संगीत सुन लेना चाहिए या दूरदर्शन

(समाचार) आदि देख लेना चाहिए। यदि योग के बाद पुनः अधिक तनावयुक्त कार्य न किए जाएं, तो पूरी रात शान्ति से व आनंद के साथ व्यतीत हो जाती है।

यदि किसी प्रिय व्यक्ति या देवता के मनुष्याकृत रूप को कुण्डलिनी का रूप देकर, उसका एकाग्र रूप से ध्यान न किया जाए, तब विभिन्न मानवीय हाव-भावों व मनोस्थितियों को, कुण्डलिनी के ऊपर कैसे आरोपित किया जा सकता है? यदि कुण्डलिनी के ऊपर ऐसा आरोपण नहीं किया जाएगा, तब कुण्डलिनी कैसे उत्तरोत्तर रूप से सुदृढ़ होगी? वास्तव में क्रोधभाव के समय, वह मनुष्याकृत कुण्डलिनी भी क्रोधित मनुष्य की तरह ही दिखाई देती है। उससे साधक को अपने क्रोध का पता चल जाता है, और वह उसे फिर नियंत्रित भी कर लेता है। ऐसा ही अन्य भावों के साथ भी समझ लेना चाहिए। इसी तरह से, निरंतर ध्यान तो मनुष्याकृत कुण्डलिनी का ही संभव या सुलभ प्रतीत होता है, क्योंकि वैसा ध्यान समाज में भी स्वीकार्य है, अतः उसे अप्रत्यक्ष सामाजिक-बल (मान्यता का बल) भी मिलता है। यदि कोई अपने मन में, निरंतर रूप से किसी प्रकाशमान बिंदु का या चमकीली घंटी का ध्यान करता है, तो समाज उसे कहाँ स्वीकृति देगा? प्रेमयोगी वज्र की, प्रथम देवीरानी के रूप से बनी कुण्डलिनी को, इक्के-दुक्के; कट्टरता, ईर्ष्या, अहंकार, द्वैत व आसक्ति की मोहमाया में फंसे वर्ग को छोड़कर, लगभग पूरे समाज ने सहर्ष स्वीकार किया। यदि वह चमकीली चट्टान के रूप की कुण्डलिनी को सिद्ध करता, तो अधिकाँश समाज उसे कैसे स्वीकार करता? इससे यह प्रतीत होता है कि मानवता-प्रेम ही सब कुछ है।

जब प्राणों पर महारत हासिल हो जाती है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि कुण्डलिनी का ध्यान मन नहीं, अपितु प्राण कर रहा है। अर्थात मन को लगाने का बोझ कुछ हल्का सा हो जाता है, और पहले की तरह, उसे बलपूर्वक लगाने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रेमयोगी वज्र एक खोजी-वैज्ञानिक प्रकार का व्यक्ति भी था। एक बार उसने जानना चाहा कि क्या केवलमात्र आत्मज्ञान की सहायता से ही, कर्मबंधन से बचाव हो सकता है? उसकी खोज करने के लिए, वह सत्संगति को छोड़कर तथा आसक्तिभाव-द्वैतभाव को साथ लेकर, इस गहन संसार-सागर में कूद पड़ा, यद्यपि शविद का अप्रत्यक्ष व हल्का सा प्रभाव तो, बलपूर्वक उसकी सहायता कर ही रहा था। वैसे भी, उस समय उसे आत्मज्ञान को अनुभव किए हुए, लगभग आठ वर्षों का समय बीत चुका था, और उसके चित्त में आत्मज्ञान की स्मृति भी बहुत धुंधली या नष्टप्राय ही हो चुकी थी। इस तरह, अनासक्ति व अद्वैत के जीवनसहायक आवरण (life supporting jacket) के बिना वह ३ वर्षों में ही आत्मभ्रमित होकर, संसारसागर में डूबने-इतराने लगा। वह आत्मज्ञान को

लगभग पूरी तरह से भूल गया था। वह समझ गया था कि आत्मज्ञान अकेला कुछ नहीं कर सकता है, यदि अद्वैत व अनासक्ति को बलपूर्वक त्याग दिया जाए। अतः ऐसा जानकर, वह शविद की प्रत्यक्ष सहायता लेकर, उस अंधमहासागर से बाहर निकलने का प्रयत्न करने लगा। उस सद्प्रयास की सहायता से, उसे पूरी तरह से निकलने के लिए योग्य बनने में, शविदप्रदर्शित तांत्रिक-कर्मयोग के लगभग १२ वर्ष लग गए। इतने वर्षों के बाद, जब वह तांत्रिक कर्मयोग की थकान से परेशान होकर, एकांतवास के लिए चला गया; तब धीरे-धीरे, साल-छः महीने में ही, उसके मन पर जमी हुई हल्के भ्रम की धूल, काफी हद तक साफ हो गई। आत्म-भ्रम की धूल तो कर्म से अवश्य ही जमती है, बेशक वह कर्म, तांत्रिक-कर्मयोग विधि के साथ ही क्यों न किया जाए, यद्यपि वह धूल अपेक्षाकृत रूप से बहुत पतली होती है, और शीघ्र ही धूल भी जाती है। फिर उसे वैसी ही मुक्ति (liberation) का अहसास पुनः होने लगा, जैसा अहसास उसे क्षणिकात्मज्ञान के बाद हुआ था, यद्यपि आत्मज्ञान उसे जरा भी याद नहीं रहा था। साथ में, उसे कुण्डलिनीजागरण का अनुभव भी हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान अकेला कुछ नहीं कर सकता, अपितु साथ में अद्वैत व अनासक्ति का होना भी आवश्यक है। आत्मज्ञान तो केवल अद्वैत व अनासक्ति को अपनाने का मोक्षरूपी लाभ बताकर, उन्हें अपनाने के लिए प्रेरित ही करता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण तो अनासक्ति व अद्वैत को निरंतर बना कर रखना है, और यदि आत्मज्ञान के बिना भी अद्वैत व अनासक्ति को धारण किया जाए, तब भी मुक्ति संभव प्रतीत होती है। इसी तरह, जो यह कहा जाता है कि पत्नी को पति की सेवा करने से मुक्ति का फल स्वयं ही मिल जाता है, उसका भी यही अर्थ है कि मुक्ति के लिए आत्मज्ञान की आवश्यकता नहीं, अपितु अद्वैतमयी दृष्टिकोण की ही आवश्यकता होती है। वह दृष्टिकोण एक पतिव्रता स्त्री को अपने पति की संगति से स्वयं ही मिल जाता है।

गीता में भी मुख्यतः अनासक्ति का ही गुणगान गाया गया है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्, मा कर्मफलहेतुर्भूः मा संगोऽ त्वकर्मणि। 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते' व 'मा कर्मफलहेतुर्भूः', दोनों को मिलाकर, सीधा सा अर्थ है कि काम भी करते रहना है, और अपने को कर्मफल का हेतु अर्थात कर्ता भी नहीं मानना है। ऐसी स्थिति तो तभी संभव है, यदि अनासक्ति के साथ कर्म किया जाए। 'मा संगोऽ त्वकर्मणि', इसका अर्थ है कि यदि कर्मों के बीच में, विश्राम आदि के कारण, कर्महीन अवस्थाएँ भी आएं, तो भी उनसे आसक्ति नहीं करनी है। यदि गहराई में जाएं, तो पूरे श्लोक का तात्पर्य यह है कि फल का चिन्तन इसलिए नहीं छोड़ना है कि कर्म दुष्प्रभावित होए, अपितु

इसलिए छोड़ना है कि कर्म दुष्प्रभावित न होए। यह तभी संभव है, यदि अनासक्ति के साथ फल का विचार या उसका उपभोग किया जाए। कर्म करते हुए, फल का विचार तो मन में आएगा ही। यदि कोई किसान अनार का बगीचा लगाता है, तो उसके मन में उससे उत्पन्न होने वाले अनारों, उनके विपणन-मूल्यों व उनसे प्राप्त लाभांश से सम्बंधित विचार तो आएँगे ही। वास्तव में वह फल-लाभ से प्रेरित होकर ही बगीचा लगाएगा। यदि वह फल के बारे में विचार-विमर्श नहीं करेगा, तो हानि ही उठाएगा। इसलिए इस श्लोक का भावार्थ यहाँ पर फल के विचारों का त्याग करना नहीं, अपितु फल के विचारों के प्रति अनासक्तिभाव को धारण करना ही प्रतीत होता है। फल के बारे में अधिकार न होने की जो बात कही है, वह फल के प्रति अनासक्ति को उत्पन्न करने के लिए ही कही है। साथ में, यदि वह फल का कोई विचार नहीं करेगा, तब तो ठीक ढंग से काम भी नहीं कर पाएगा, जिससे दूसरा गद्यांश, “मा संगोऽ त्वकर्मणि” खंडित हो जाएगा, क्योंकि फिर उसका लगाव अकर्मण्यता से हो जाएगा। यदि अकर्मण्यता से आसक्ति होगी, तब कर्म नहीं हो पाएंगे, या वे दुष्प्रभावित हो जाएंगे, जिससे ‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’ गद्यान्श का भी खण्डन हो जाएगा। “मा कर्मफलहेतुर्भूः” का अर्थ है कि तू अपने आप को कर्मफल का हेतु (कारण) या उसको उत्पन्न करने वाला या कर्म का कर्ता न समझ। इसका भी यह भावार्थ प्रतीत नहीं होता कि तू अपने को कर्ता न समझ, अपितु यह प्रतीत होता है कि तू अपने को अनासक्ति के साथ कर्ता समझ। क्योंकि यदि वह अपने को कर्ता ही नहीं समझेगा, तो मन लगाकर गुणवत्तायुक्त कर्म भी नहीं कर पाएगा, जिससे उपरोक्त गद्यांश फिर से खंडित हो जाएगा। वास्तव में अनासक्ति के साथ किए गए व विचारे गए सभी कर्म स्वयं ही भस्म हो जाते हैं, अर्थात वे कर्म होते हुए भी कर्म नहीं रहते। इसी तरह से, अनासक्ति के साथ विचारे या भोगे गए फल भी फल नहीं रहते। यदि वह समझेगा कि केवल अद्वैतवान प्रकृति ही कर्ता है, मैं नहीं, तब तो वह काम ही नहीं करेगा, और प्रकृति के सहारे ही बैठा रहेगा। अनासक्ति से यह लाभ होता है कि यदि किन्हीं कारणों से उसे फल न भी मिले, तो भी उसे बंधनकारी दुःख प्राप्त नहीं होता, अर्थात उसका अद्वैतभाव नहीं टूटता, क्योंकि अपने अनासक्तिभाव के कारण, न तो उसने कर्म किए, और इसलिए न ही फल भोगने थे, क्योंकि बिना कर्म के फल कैसे। यदि फल मिल भी जाए, तो भी अनासक्ति से भोगे जाने पर निष्फल ही हुए, अर्थात दोनों अवस्थाओं में एकसमान अद्वैतभाव। फल भोगे, तो भी निष्फल, और यदि नहीं भोगे, तो भी निष्फल। वैसे भी, अद्वैतभाव व अनासक्तिभाव तो सदैव साथ-साथ रहते हैं। उदाहरण के लिए, देहदेश के किसान निरंतर कर्म करते रहते हैं। कई बार उन्हें उचित फल मिलता है, और कई बार

उनकी उपज जंगली जानवरों, उग्रपंथियों, प्राकृतिक आपदाओं व विद्रोहियों की भेंट चढ़ जाती है। उन्हें द्वैत से उत्पन्न बंधनकारी दुःख होता ही नहीं, क्योंकि वे सदैव अद्वैतशील रहे, और उन्होंने कभी आसक्ति की ही नहीं। बिना फल के तो कोई कर्म होता ही नहीं है। कम से कम मानवता के रूप में तो कर्म का फल मिलता ही है। यदि किसी ने आसक्ति करनी है, तो वह मानवतारूपी फल (स्वस्थ शरीर की प्राप्ति, उसका रखरखाव व आधारभूत क्रियाकलाप) में भी करेगा। यदि किसी ने आसक्ति नहीं करनी है, तो वह बड़े से बड़े फल में भी नहीं करेगा। यह सब दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। उपरोक्त विवरण केवलमात्र पुस्तकीय नहीं है, अपितु प्रेमयोगी वज्र ने सभी कुछ स्वयं अनुभव किया था।

प्रातः-साँय के निरंतर अभ्यास से पुष्ट की गई कुण्डलिनी, एक संतुलक (balancer/buffer) का काम करती है, जो साधक की परिवर्तन/द्वैत के झटकों से, शविद की तरह रक्षा करती है। ये द्वैतमयी झटके आत्मा को क्षति पहुंचाते रहते हैं।

महान लोग धार्मिक, साँस्कृतिक, भौमिक व नस्लीय सीमाओं से नहीं बंधे होते हैं। वे वैश्विक व यहाँ तक कि सार्वभौमिक (सम्पूर्णसृष्टिगत) होते हैं। इसलिए उनका संरक्षण होना चाहिए। उनकी कृतियों व रचनाओं का भी संरक्षण किया जाना चाहिए। वे किसी भी क्षेत्र से सम्बंधित हो सकते हैं। वे वैज्ञानिक, योगी, तांत्रिक, दार्शनिक, कलाकार आदि, कुछ भी हो सकते हैं। जिस तरह से विज्ञान ने प्रेमयोगी वज्र को आत्मज्ञान की ओर बढ़ने का बल दिया, उसी तरह से वह औरों को व आने वाली पीढ़ियों को भी दे सकता है। जिस तरह उसे विज्ञान में दर्शन दिखा, उसी तरह औरों को व आने वाली पीढ़ियों को भी दिख सकता है। जिस तरह प्रेमयोगी वज्र को पुस्तकों व ई-पुस्तकों से तंत्रयोग सीखने का, और उससे कुण्डलिनी को जागृत करने का सुअवसर प्राप्त हुआ, उसी तरह उसकी पुस्तक से औरों को व आने वाली पीढ़ियों को भी प्राप्त हो सकता है। जिस तरह उसे विभिन्न ई-सामाजिक स्थानों (e-social sites), फोरमों (forums) व ब्लोगों (blogs) से सहायता मिली, उसी तरह औरों को व आने वाली पीढ़ियों को भी मिल सकती है। इसलिए सभी विद्याएँ व तकनीकें, भविष्य के लिए संरक्षित (conserved) की जानी चाहिए।

जिस तरह गुब्बारे के अन्दर की गर्म हवा, जो उस गुब्बारे को आकाश की ऊँचाइयों तक उठा देती है , वह उसके सिवाय किसी को महसूस नहीं होती; उसी तरह एक आदमी के मन में बसी हुई कुण्डलिनी को भी उस आदमी के अतिरिक्त कोई नहीं जान पाता, जो उसे भौतिक प्रगति के रास्ते से ले जाते हुए, आध्यात्मिक शिखर तक पहुंचा देती है।

कुण्डलिनी को तनाव के समय, अवसाद के समय, थकान के समय, या खाली समय की किसी भी अवस्था में, एक घुमाव (rotation) दिया जा सकता है। उससे मन एकदम से तरोताजा हो जाता है, और मानसिक दोष भी समाप्त हो जाते हैं। उसके लिए, पहले तो स्वाधिष्ठान व मूलाधार में कुण्डलिनी का ध्यान करके, उसे प्राणों से कुछ भड़काया जाता है। फिर साँस रोककर, मूलबंध व उड्डीयान बंध लगाया जाता है। उन बंधों से कुण्डलिनी स्वयं ही उठकर, मस्तिष्क/सहस्रार में पहुँच जाती है। फिर नियमित श्वास लेते हुए, मस्तिष्क में उसका कुछ देर तक ध्यान, श्वासों की कुछ सहायता लेकर किया जाता है। फिर जब मस्तिष्क अधिक भारी जैसा लगने लगता है, तब कुण्डलिनी को आगे के चक्रों से नीचे ले जाते हुए (एकदम से या ध्यान करते हुए, जैसे सुगम लगे), नाभिचक्र तक उतारा जाता है। तब सभी दोष शाँत हो जाते हैं, और व्यक्ति एकदम से तरोताजा हो जाता है। वास्तव में व्यावहारिक कुण्डलिनीयोग की एक कमी को, उस पर आधारित ताओ-निर्दिष्ट माईक्रोकोस्मिक ऑर्बिट (microcosmic orbit of tao) ने पूरा किया है। योग में कुण्डलिनी को सहस्रार से नीचे उतारने को नहीं कहा गया है। संभवतः यह नैष्ठिक योगी के लिए ठीक ही था, क्योंकि उसने लोक-व्यवहार से दूर रहते हुए, केवल कुण्डलिनीजागरण को ही शीघ्रता से सिद्ध करना होता था। यद्यपि लोकव्यावहारिक व्यक्ति को बहुत सी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। वह मस्तिष्क के दबाव को, निरंतर रूप से सहन नहीं कर सकता।

प्रथम देवीरानी से शुद्ध मानसिकप्रेम के समय, जब उसके रूप की कुण्डलिनी, निरंतर रूप से प्रेमयोगी वज्र के मन में, पूर्ण प्रचंडता के साथ प्रज्वलित हो रही थी, उस समय भी वह रूपांतरण (traansformation) के दौर से गुजर रहा था। उसके मन में पिछली सभी बातें व घटनाएँ शिथिल पड़ रही थीं। उसका उनके प्रति आसक्तिभाव व अहंकारभाव भी क्षीण हो रहा था। ऐसा लग रहा था, जैसे कि वे सभी दूर से दूर जा रही थीं। वे होते हुए भी, न होने की तरह लग रही थीं। ऐसा लग रहा था, जैसे कि वे कभी भौतिक थीं ही नहीं, अपितु शुद्ध मानसिक ही थीं। वे सभी, एक दिव्य आनंद के साथ मन में प्रकट होती जा रही थीं, और उत्तरोत्तर क्षीण भी होती जा रही थीं। उन सभी के ऊपर उस प्रथम देवीरानी की कुण्डलिनी हावी होती जा रही थी। वे सभी, उस प्रज्वलित कुण्डलिनी के आगे वैसे ही गौण हो रही थीं, जैसे कि सूर्य के आगे दीपक गौण हो जाता है। उन सभी के साथ, वह कुण्डलिनी चिपकती जा रही थी। प्रेमयोगी वज्र को ऐसा लग रहा था, जैसे कि वे सभी पिछली बातें व घटनाएँ उसके किसी पूर्वजन्म की थीं, जब उसने एक आध्यात्मिक परिवार में जन्म लिया था, परन्तु फिर उसका पुनर्जन्म उस देवीरानी से सम्बंधित किसी वैज्ञानिक

परिवार में हो गया हो, जिससे वह बहुत से लोगों को, विशेषतः अध्ययन से सम्बंधित क्षेत्र वालों को, विचित्र जैसा भी लगता था। अतः वह पुराना जीवन भूलकर, जी-जान से विज्ञान का अध्ययन करने लगा, जिससे उसे कई सफलताएं भी मिलीं। संभवतः इसे ही आत्म-रूपांतरण (self transformation) या द्विजरूपता (द्वि-द्वितीय, ज-जन्म/second birth) कहते हैं। फिर लगभग २० वर्षों के बाद, उसका त्रितीय जन्म हुआ, जब उसके मन में, उसके गुरु की कुण्डलिनी जागृत हुई। उसमें, उसके मन की प्रथम कुण्डलिनी (प्रथम देवीरानी) को प्रतिस्थापित (replace) करने के लिए, उसकी द्वितीय कुण्डलिनी (गुरु) आ गई थी, क्योंकि वह द्वितीय कुण्डलिनी जागृत होकर, प्रथम कुण्डलिनी से भी अधिक शक्तिशाली बन गई थी।

पूर्वोक्त प्रकरण में, जिस तरह से प्रेमयोगी वज्र को अपने गुरु का मानसिक रूप, उनके भौतिक रूप से भी अधिक सत्य व प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ, उसी तरह से किसी भी मानसिक अनुभव को प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इसका यह अर्थ है कि सभी मानसिक अनुभव सत्य होते हैं। इसका यह अर्थ भी है कि शिव, विष्णु, कृष्ण, राम, दुर्गा आदि देवी-देवताओं के सभी रूप सत्य हैं, और योगी लोग उन्हें प्राचीन काल से लेकर, प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते आए हैं। प्रेमयोगी वज्र को जिस समय (कुण्डलिनीजागरण के समय) अपने मन में स्थित गुरु का रूप प्रत्यक्ष हुआ, उस समय स्वाभाविक रूप से, अपने सामने का प्रत्यक्ष दृश्य भी उसे अपने मन में ही अनुभव हुआ; क्योंकि पूर्णतया एकसमान दो अनुभवों को इस तरह से विभक्त नहीं किया जा सकता कि एक बाहरी है, और एक भीतरी। वास्तव में भीतरी अनुभव हम उन्हीं को बोलते हैं, जो बाहरी अनुभवों की अपेक्षा गौण व कम तीव्रता (low intensity) वाले होते हैं। इस परिपेक्ष्य से उसे बाहरी व भीतरी, दोनों अनुभव अपने भीतर ही प्रतीत हुए, क्योंकि अपने उन गुरु के मानसिक रूप को तो वह बाहरी नहीं मान सकता था, जो वहाँ पर थे भी नहीं, और लगभग २० वर्ष पहले ही दिव्यपरलोकवासी भी बन गए थे। उस अनुभवयुक्त स्थान पर हो रही आवाजें आदि तो जैसे उसके अनुभव-पटल पर आई ही नहीं, सिवाय मस्तिष्क के भीतर के विचित्र शोर के, जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है। संभवतः मस्तिष्क की प्राथमिकता तो दृश्य को बना कर रखने की ही होती है, आवाज की बारी तो उसके बाद ही आती है। उस विशाल अनुभव के समय, मस्तिष्क की सारी शक्ति तो उस शक्तिशाली, भौतिक/दृश्यात्मक जैसे अनुभव को बना कर रखने में व्यय हो रही थी, और यहाँ तक कि उसके लिए भी कम पड़ रही थी। संभवतः मस्तिष्क में नाड़ी-रसायनों की बाढ़ (neurochemicals' flood) के कारण ही, वह पूर्वोक्त गन्नाटे के जैसा शोर उत्पन्न हो रहा था।

प्रेमयोगी वज्र के पैरों के अंगूठों से कभी-कभार नाखून भी उखड़ जाया करते थे। न कोई दर्द, न कोई रोग। पूरा नाखून धीरे-धीरे सफेद हो जाया करता था, और ऊपर से उखड़ा हुआ सा रहता था, जिससे उसे काटना पड़ता था। कई बार, कहीं पर उसका थोड़ा सा भाग चिपका रहता था, जिसमें जीवन की लाली होती थी। उस भाग को वैसे ही, बिना काटे छोड़ना पड़ता था। कई स्थानों पर वर्णन आता है कि योग से या क्रियाशील कुण्डलिनी से शरीर में, विशेषकर पैरों के अंगूठों में गर्मी बढ़ जाती है, जिससे ऐसा होता है। संभवतः तभी तो शास्त्रों में गुरु के पैरों के अंगूठों को स्पर्श करने को कहा जाता है, क्योंकि वहाँ से कुण्डलिनी की शक्ति, आसानी से प्राप्त हो जाती है।

पूर्वोक्त क्षणिकात्मज्ञान के बाद, संभवतः प्रेमयोगी वज्र को अद्वैत का बल नहीं मिल रहा था, क्योंकि उस समय उसके पास काम की भी कमी थी। वह अपने घर से दूर, एक निर्वासित सा जीवन जी रहा था। वहाँ पर, उस ग्रामाभ्यस्त प्रेमयोगी को खेत-खलिहान आदि में काम करने का अवसर नहीं मिला। उस समय भिन्न-भिन्न पुस्तकों को पढ़ने का प्रचलन भी नहीं था। न ही उस समय ई-पुस्तकें, इंटरनेट आदि अत्याधुनिक सुविधाएँ ही आई थीं। वास्तव में अद्वैत/द्वैताद्वैत तो कर्मों से, विशेषकर शारीरिक श्रम वाले कर्मों से और सर्वोत्तम रूप से उन कर्मों से, जिनमें मस्तिष्क व शरीर, दोनों का बराबर इस्तेमाल होता हो, उनसे पैदा होता है। अद्वैत से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है, जिससे सर्वोत्तम स्थिरता प्राप्त होती है। यदि तीव्रता व निरंतरता के साथ अद्वैतमयी कर्म उपलब्ध न हों, तो कुण्डलिनी को अद्वैत का पर्याप्त बल नहीं मिलता। इससे वह मन में निरंतर रूप से नहीं बनी रह पाती, जो आत्मज्ञान या कुण्डलिनीजागरण की अत्युच्च मानसिकता के बाद पीड़ादायक होता है। यदि काम भी बहुत हों, परन्तु अद्वैत को साथ में धारण न किया जाए, तब भी पूरा लाभ नहीं मिलता, यद्यपि थोड़ा-बहुत अद्वैतभाव तो प्रेमपूर्ण व भावपूर्ण समाज में स्वयं ही मिल जाता है। अद्वैत की कमी से, अभाव (absence/zero) वाली स्थिति में कुण्डलिनी एकदम से गायब हो जाती है, जो पूर्णताप्राप्त योगी के लिए असहनीय हो जाता है। उस स्थिति को ही कुण्डलिनी का पिंगला में प्रविष्ट होना कहा जाता है। वैसी स्थिति में योगी कर्मलोभी जैसा बनकर, अवसाद में जैसा डूबने लगता है, जिससे सर्वसामान्य सामाजिक व्यवहार व कार्य दुष्प्रभावित हो जाते हैं। इसी तरह भाव (presence/non zero) की स्थिति में कुण्डलिनी बहुत अधिक प्रचंड हो जाती है। उसे कुण्डलिनी का इड़ा नाड़ी (अनुभवात्मक) में प्रविष्ट होना कहा जाता है। वैसी स्थिति में भी मन पूरी तरह से कुण्डलिनी का दास बन कर, कुण्डलिनी के आनंद में डूबा रहता है, और सामाजिक व्यवहारों व दायित्वों पर समुचित ध्यान नहीं दे पाता। अद्वैतभाव से

कुण्डलिनी, भावों व अभावों में, लगभग समान रूप से विद्यमान रहती है, जिससे द्वैत के शक्तिशाली झटकों से सुरक्षा हो जाती है। किसी भी स्तर के द्वैत से झटके तो लगते ही हैं, यद्यपि कुण्डलिनीयुक्त द्वैत से तो वे झटके विवृद्ध (amplify) हो जाते हैं, जिससे हानि होने की संभावना भी बढ़ जाती है। कुण्डलिनी से अद्वैत भी विवृद्ध हो जाता है, यदि अद्वैतभाव बना कर रखा जाए। अद्वैत से जब कुण्डलिनी सभी अवस्थाओं में लगभग एकसमान जैसी स्थिति में रहती है, तब उसे कुण्डलिनी का सुषुम्ना नाड़ी में स्थित होना कहा जाता है। वास्तव में, अभाव में तो कुछ भी विद्यमान नहीं रहता, परन्तु फिर भी, अद्वैत से वह अभाव कष्टदायक नहीं बनता, और न ही लम्बे समय तक रहता है, क्योंकि कुण्डलिनी शीघ्र ही चित्र-विचित्र भावों के साथ वहाँ पहुँच जाती है। कुण्डलिनी का वह भाव भी साधारण भाव की तरह ही आसक्तिकारक होता है, यद्यपि अद्वैत की सहायता से वह भाव स्वप्नवत या उस प्रकार से अनुभव होता है, जिस प्रकार के अनुभव से, अभाव होने पर झटका न लगे। साथ में, वह भाव भी लम्बे समय तक नहीं बना रहता, अपितु शीघ्र ही वहाँ पर अभाव पहुँच जाता है। इस तरह से, भाव व अभाव शीघ्र-शीघ्र आते-जाते रहते हैं, जिससे आसक्ति होने के लिए पर्याप्त समय ही नहीं मिल पाता, अतः आसक्तिजन्य द्वैत से रक्षा होती रहती है। अब तो विज्ञान से भी सिद्ध हो गया है कि मस्तिष्क का आधा भाग भाव में व आधा भाग अभाव में बलवान रहता है। आधे भाग को इड़ा नाड़ी नियंत्रित करती है, और आधे भाग को पिंगला नाड़ी। जब इड़ा व पिंगला, दोनों नाड़ियाँ समान प्रभाव की होती हैं, तब सुषुम्ना नाड़ी का प्रभावी होना कहा जाता है। एक नासिका-छिद्र से इड़ा का सम्बन्ध होता है, और एक से पिंगला का। दोनों नासिका-छिद्रों के समान रूप से खुले रहने से ही सुषुम्ना प्रभावी हो जाती है। वैसे भी शविद के अद्वैत से, दोनों नासिका-छिद्र स्वयं ही अधिकाँश समय खुले रहते हैं, जैसा कि प्रेमयोगी वज्र ने अनुभव किया था। उससे आदमी की सुन्दरता, सामाजिकता, दायित्व-निर्वहन व रचनात्मकता आदि विशेषताओं में भी वृद्धि होती है। व्यावहारिक रूप से भी देखा जाता है कि एक नासिका-छिद्र से साँस लेते हुए, दूसरे छिद्र से रुकावट की आवाज या रुकावट का संकेत भी करने वाला व्यक्ति, कुछ विचित्र सा लगता है। अधिकाँशतः किसी के असमान नासिका-छिद्रों का पता तो स्वयं ही, किसी दिव्य संकेत (intution)/उसके द्वैतभाव से लग जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अद्वैतपूर्ण व्यक्ति ही अधिक सुन्दर व आकर्षक होते हैं। स्वर-विज्ञान के अनुसार, नासिका छिद्रों का सम्बन्ध स्वास्थ्य से होता है। लेखक ने भी इसे सही पाया, जब छोटे-मोटे मानसिक/शारीरिक रोगों से व टीकाकरण से उसके नासिका छिद्रों की चाल कुछ दिनों के लिए

बदल जैसी जाती थी। यह भी कहा जाता है कि कुछ दिनों तक यदि दोनों नासिका-छिद्र निरंतर रूप से बराबर खुले रहें, तो आत्मज्ञान हो जाता है। वास्तव में ऐसा तभी होता है, जब बारम्बार के अभ्यास से अद्वैत बहुत दृढ़ हो जाता है, किसी चमत्कार आदि से नासिका-छिद्र स्वयं नहीं खुल जाते। कृत्रिम विधियों से, जैसे कि योग आदि से भी नासिका-छिद्रों को खोलकर, कुछ अद्वैतभाव उत्पन्न हो जाता है, परन्तु वास्तविक व दृढ़ अद्वैत तो शविद-पुराण आदि अद्वैतशास्त्रों व कर्मों की मिश्रित सहायता से, मन के माध्यम से ही उत्पन्न होता है।

प्रेमयोगी वज्र ने कुण्डलिनीजागरण के समय अनुभव किया था कि वह पूर्णतः कुण्डलिनी-अस्मिता (kundalini-ego) बन गया था। उसके साथ जो सामने के दृश्य थे, वे भी उस कुण्डलिनी-अस्मिता के साथ जुड़ गए थे। इसका अर्थ यह है कि उस समय का जो भी अनुभवात्मक वस्तुभाव-पुंज था, वह प्रेमयोगी वज्र को अपना रूप लग रहा था, बाहर-भीतर अदि का कोई भेद नहीं था। एक बात और है। यदि वह पहले से ही मन में बैठा कर रखता कि वह कुण्डलिनीजागरण के समय ऐसा करेगा या वैसा करेगा, तब संभवतः कुण्डलिनीजागरण होता ही न, क्योंकि वह तभी होता है, जब उसके होने के बारे में कोई भी संभावना मन में न हो, तथा उसके लिए कोई तैयारी न करके रखी गई हो। अर्थात वह अचानक होता है। इसका अर्थ है कि कुण्डलिनीजागरण के समय साधक जो कुछ भी करेगा, स्वभाववश व बिना विचार के ही करेगा। संभवतः अद्वैतमयी स्वभाव के परिपक्व होने पर ही, कुण्डलिनी को पूरी तरह से सहा जा सकता है।

सभी की मानसिक धारणाएं व जीवन-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिए सभी के लिए, एक जैसी साधना-पद्धति, अधिक प्रभावशाली नहीं होती। वेद-पुराण सबके लिए सर्वसामान्य हैं, और लगभग सभी धारणाओं व जीवन-वृत्तियों से सम्बंधित हैं, परन्तु फिर भी उन्हें विशिष्ट जीवन-पद्धति के लिए, उससे सम्बंधित विशिष्ट अद्वैत-पद्धति से भी समृद्ध (enrich) करना अधिक प्रभावशाली होता है। ऐसा ही प्रेमयोगी वज्र ने भी किया था, जिससे उसे शीघ्र ही सफलता मिल पाई थी। व्यवसाय के अनुसार, निजी अद्वैतशास्त्र भी बनाया जा सकता है। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के अनुसार, भिन्न-भिन्न अद्वैत-धारणाओं को मन में बना कर रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी का व्यवसाय व्यावहारिकता, साँसारिकता आदि से भरा हुआ हो; तो उसे तंत्र से व उसके साथ, उस व्यवसाय पर आधारित अद्वैतशास्त्र से सर्वाधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। शविद तो सभी व्यवसायों को अपने अन्दर समाहित करता है, इसलिए यह अद्वैतशास्त्र प्रत्येक मामले में लाभकारी सिद्ध हो सकता है। यदि किसी के व्यवसाय या जीवन-पद्धति में यौनता का अंश अधिक

हो, तो उसे शविद के साथ यौनयोग से अधिक लाभ मिल सकता है। यदि किसी का व्यवसाय आदर्शवाद, नीतिवाद, नियमबद्धता, अनुशासन, तपस्या, इन्द्रिय-नियंत्रण आदि से भरा हो; तो शविद के साथ साधारण योग, भक्ति, ज्ञानयोग आदि उसके लिए अधिक लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं। फिर भी, रुचि के अनुसार, किसी भी साधना-पद्धति या अद्वैतशास्त्र की सहायता ली जा सकती है। दृष्टिकोण पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। प्रेमयोगी वज्र का दृष्टिकोण किशोरावस्था में ही शविद-सम्मत, तंत्र-सम्मत व यौनयोग-सम्मत बन गया था, तभी उसे बाद के वर्षों में, इन्हीं साधना-पद्धतियों से कुण्डलिनीजागरण का अनुभव हुआ। इससे सिद्ध होता है कि जीवन में जितनी शीघ्रता से आध्यात्मिक-दृष्टिकोण की नींव डाल दी जाए, तथा उस दृष्टिकोण से सम्बंधित साधना को बढ़ाते रहने का निरंतर प्रयत्न किया जाए, भविष्य में उतनी ही शीघ्रता से व उतना ही अधिक लाभ मिलता है। तंत्र, यौनयोग व शविद के दृष्टिकोण से प्रेमयोगी वज्र को २० वर्षों में ही कुण्डलिनीजागरण प्राप्त हो गया, वह भी उच्च गुणवत्ता के कर्मों, जीवनचर्याओं, सुविधाओं, साँसारिकताओं व व्यावहारिकताओं के साथ। तो फिर इससे बढ़िया दृष्टिकोण तो कहीं भी दृष्टिपथ में नहीं आता। उसे केवलमात्र एक वर्ष के नियमित कुण्डलिनीयोग और अंतिम दौर के, अतिरिक्त एक माह के यौनयोग से कुण्डलिनीजागरण का अनुभव हो गया। यह एक आश्चर्य है, क्योंकि कहते हैं कि योग के नियमित अभ्यास से भी बहुत वर्ष लग जाते हैं। श्री गोपीकृष्ण को १७ वर्ष लगे थे। प्रेमयोगी वज्र को संभवतः इसीलिए शीघ्रता से हुआ, क्योंकि उसका आधारभूत साधनामय दृष्टिकोण (अद्वैत) बहुत पुराना था, व उसने शविद की भरपूर सहायता ली थी।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम के बाद, यदि थोड़े समय तक (लगभग १५- २० मिनट तक) प्रतीक्षा की जाए, तो बंद नासिका-छिद्र स्वयं ही खुल जाता है, और दोनों नासिका-छिद्रों से, समान रूप से वायु प्रवाहित होने लगती है। उस समय योग करने से विशेष लाभ प्राप्त होता है। इसलिए शेष बचे हुए योग को दूसरी बैठक में भी पूरा किया जा सकता है।

लेखक को एक घटना याद आती है। एक प्रख्यात व सिद्ध तांत्रिक, प्रतिवर्ष उस इलाके का दौरा करता रहता था। एक बार वह वहां की बस्ती की गलियों में घूम रहा था। सभी लोगों ने, विशेषकर स्त्रियों ने डर के मारे घर के दरवाजे अन्दर से बंद कर दिए थे, क्योंकि वह सम्मोहन-विद्या जानता था। एक असावधान पुरुष ने, खिड़की से उस तांत्रिक की आँखों में झाँक लिया। वह अपना पर्स उठाकर व दरवाजे की कुण्डी खोलकर बाहर निकल गया, और उसने अपना पर्स उस तांत्रिक को दे दिया। जब वह वापिस अन्दर आया, तो उसकी पत्नी ने उसे बहुत डांटा, परन्तु वह

सम्मोहित हो चुका था। अतः उसकी पत्नी स्वयं बाहर निकली, व उस तांत्रिक की आँखों की ओर देखे बिना ही, उसने वह पर्स (purse) छुड़ा लिया, और फिर अपने कमरे के अन्दर भागकर, दरवाजे की कुण्डी पुनः लगा दी। वह तांत्रिक जोर-जोर से व प्यार से, बेटा-बेटी आदि संबोधन से पुकारने लगा। उससे उसका सम्मोहित पति फिर बाहर निकल गया। ततः तान्त्रिकः स्वाधोवस्त्रं उत्थाप्य, तं स्ववज्रं दर्शितवान्। ततः सः तं एकाभिमन्त्रितसूत्रं दत्वा, तद्सूत्रं तद्वज्रे बद्धुं उपदिष्टवान्। वास्तव में यौनसम्बन्ध के प्रति आम लोगों का दृष्टिकोण भौतिक होता है, जबकि तांत्रिकों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक होता है। उस बस्ती का कोई भी आदमी उस तांत्रिक से नाराज नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें पता था कि तांत्रिक वैसे ही होते हैं। निस्संदेह, तांत्रिक संसार की दृष्टि में गलत हों, परन्तु उनकी अपनी व ईश्वरीय-सत्य की दृष्टि में वे ठीक होते हैं।

मानसिक-कुण्डलिनीजागरण से आनंद-प्राप्ति का अर्थ है कि आनंद (bliss) मस्तिष्क के अन्दर स्थित जगत में ही निहित होता है, बाहर के स्थूल जगत में नहीं। तभी तो वेद-पुराण आदि, मनोरंजक कथाओं के रूप में बने हैं।

कहा जाता है कि प्यार को बलपूर्वक उत्पन्न नहीं किया जा सकता, परन्तु प्रेमयोगी वज्र का अनुभव कहता है कि तंत्र में प्यार को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। प्रथम देवीरानी के साथ पूर्वोक्त तांत्रिक-सम्बन्ध के बल से, प्रेमयोगी वज्र के मन में अपने गुरु, उन वृद्धाध्यात्मिकपुरुष के प्रति प्यार उत्पन्न हो गया था, जो उसके साथ रहते थे। वैसे आमतौर पर देखा जाता है कि वृद्ध को अधिकाँश लोग ज्यादा पसंद नहीं करते, परन्तु तंत्र ने उस महान रुचि-प्रतिरोध (interest barrier) को भी ध्वस्त कर दिया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुण्डलिनीजागरण का अनुभव जितना अधिक तीव्र, बलशाली, झकझोरने वाला, आनंदमयी व अनुभवात्मक होता है; उतना ही अधिक उससे लाभ प्राप्त होता है; क्योंकि वास्तव में, वह कुण्डलिनीचित्र निरंतररूप से मन में बस जाना चाहिए, और जगत में यह प्रायः देखा जाता है कि जो अनुभव जितना अधिक बलवान होता है, वह उतना ही अधिक मन में बस जाता है।

शक्तिपीठ, भगवती व देवीमाता आदि की अर्चना-अराधना का जो प्रचलन है, वह भी तंत्र-सम्मत ही है। यह प्रचलन अप्रत्यक्षविधि से तंत्रभाव को धारण करना सिखाता है, क्योंकि शिष्ट समाज में सीधे तौर पर तंत्र के बारे में बात करने को अशिष्ट माना जाता है। वास्तव में भगवती माता की अराधना से स्त्रीजाति के प्रति आदरभाव जागता है। स्त्री के प्रति सम्मानभाव से तंत्रभाव

पुष्ट होता है, क्योंकि तंत्रसम्मत दाम्पत्यजीवन के बिना, शरीर की कुण्डलिनीवर्धक शक्ति का दुरुपयोग होने लगता है, जिससे पत्नी, माता की सर्वपुष्टिकरा-भूमिका से च्युत जैसी हो जाती है, जिससे अपनी हानि को देखकर, पति का उसके प्रति सम्मानभाव घटने लगता है। फिर धर्म-रीति के अनुसार, पत्नी के प्रति सम्मानभाव को पुनः जागृत करने के लिए, दंपत्ति, विशेषतः पति स्वतः ही तंत्रभाव की ओर अग्रसर होने लगता है।

कहते हैं कि ब्रम्हचर्य से ज्ञान मिलता है। वास्तव में अधिकाँश लोगों को वास्तविक ब्रम्हचर्य का ज्ञान ही नहीं होता, क्योंकि वास्तविक ब्रम्हचर्य तो तंत्र में ही निहित है, परन्तु वे उल्टा समझते हैं। यदि यौनविमुखता से ही ज्ञान मिलता, तब तो बच्चे व यौनाक्षम, परमज्ञानी होते। यदि यौनविमुखता से ही ज्ञान मिलता, तब तो यौनयोगियों को कतई नहीं मिलता, परन्तु वास्तविकता यह है कि यौनयोग ही ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ साधन है। वास्तव में जितना अधिक यौनद्रव्य का उत्पादन व जितना अधिक उसका संरक्षण, दोनों मिलकर होंगे, उतना ही अधिक बलवान ब्रम्हचर्य माना जाएगा। इससे सिद्ध होता है कि यौनद्रव्योत्पादन की पराकाष्ठा व यौनद्रव्यसंरक्षण की पराकाष्ठा, दोनों मिलकर, ब्रम्हचर्य की पराकाष्ठा बन जाते हैं। यदि उसके साथ कुण्डलिनी भी सम्मिलित हो जाए, तब वह योग की पराकाष्ठा बन जाता है।

जब चक्र पर कुण्डलिनी प्रकट हो जाए, तब उसे ही सीधे रूप में, प्राणों से पुष्ट करते रहना चाहिए। वैसे तो चक्रबिंदु पर साँसों के आघात के ध्यान से भी कुण्डलिनी स्वयं ही वहां पर प्रकट हो जाती है। कुण्डलिनी के ध्यान के साथ-साथ, बीच-बीच में स्वस्थ व बलवान साँसों पर भी ध्यान दिया जाता रहना चाहिए। उससे कुण्डलिनी स्वतः ही, और अधिक चमक जाती है। परन्तु कई बार, कुण्डलिनी को छोड़कर, चक्र-बिंदु पर ध्यान देने से, वह कुण्डलिनी ओझल भी होती रहती है। यद्यपि यदि वह अप्रकट है, तो चक्र-बिन्दु पर ध्यान लगाने से वह प्रकट भी हो जाती है। आसनों या प्राणायामों की विधियों के सम्बन्ध में, बहुत गहराई में नहीं जाना चाहिए। मुख्य ध्येय तो अनुकूल चक्रों पर, कुण्डलिनी के ध्यान का ही होना चाहिए। काम के बीच-बीच में, कुण्डलिनीयोग को करते रहने से भी कुण्डलिनी को बहुत बल मिलता है। उससे, काम से अर्जित मानसिक ऊर्जा (mental energy) कुण्डलिनी को लग कर, उसे पुष्ट करती रहती है। यदि एक बार अपनी साँसों को कुण्डलिनी के ऊपर लक्ष्याँकित (focus/target) करके, उन अपनी गहरी साँसों पर ध्यान देते हुए उन्हें पुष्ट करें, तो वे साँसें स्वयं ही कुण्डलिनी को लगती रहती हैं। यदि कोई व्यक्ति बहुत थका हुआ हो, और वह जल्दी-जल्दी, लम्बी-लम्बी साँसों को लेते हुए (कपालभाति की तरह), मूलाधार पर

कुण्डलिनी का ध्यान करता है, तो वह कुण्डलिनी प्रारम्भ में धुंधली प्रतीत होती है। उसका यह अर्थ होता है कि अभी शरीर में प्राणवायु की कमी है। फिर धीरे-धीरे कुण्डलिनी की स्पष्टता बढ़ती जाती है, जिसका अर्थ होता है कि शरीर में प्राणवायु की कमी पूरी हो रही है। अंत में वह कुण्डलिनी आनंद के साथ चमकदार व स्पष्ट हो जाती है, जिसका अर्थ है कि शरीर में प्राणवायु की कमी पूरी हो गई है। फिर साँस भी धीरे-धीरे चलने लगती है, और उथली भी हो जाती है। इस प्रकार से, कुण्डलिनी प्राणवायु की उपलब्ध मात्रा का दर्पण भी है। वैसे, गहरी मानसिक थकान के बाद, यदि कुण्डलिनी का ध्यान किया जाता है, तो एकदम से कुण्डलिनी भड़क जाती है, थकान समाप्त हो जाती है, तनाव क्षीण हो जाता है, प्राणवायु की कमी महसूस नहीं होती, और साँस अत्यंत धीमी होकर रुक जैसी जाती है। इसका अर्थ है कि उस समय की मानसिक थकान व उससे उत्पन्न शारीरिक तनाव के लिए, प्राणवायु की कमी से अधिक उत्तरदायी तो कुण्डलिनी का अभाव ही है।

कुण्डलिनीजागरण कोई चमत्कार या कोई विशेष वस्तु-भाव नहीं है। यह तो केवलमात्र किसी प्रिय या चिरपरिचित को याद करना भर ही है। जब उस आनंदमयी स्मरण की गहराई एक निश्चित सीमा को पार कर जाती है, तब वही स्मरण कुण्डलिनीजागरण बन जाता है। वास्तव में स्मरण किया गया व्यक्ति, देव आदि ही कुण्डलिनी बन जाता है। वस्तुतः स्मरण व कुण्डलिनीजागरण के बीच में कुछ भी अंतर नहीं है; बस केवल गहराई, आनंद व भाव की मात्रा में ही भिन्नता है। कुण्डलिनीजागरण में स्मरण की गहराई, आनंद व अद्वैत की मात्रा लगभग पूर्ण होती है; जबकि साधारण स्मरण में ये तीनों गुण अल्प मात्रा में होते हैं। एक बार के प्रयास से, कोई भी व्यक्ति स्मरण की उस गहराई तक नहीं पहुँच पाता, जिस गहराई पर वह स्मरण, कुण्डलिनीजागरण बन जाए। इसीलिए कुण्डलिनीयोगसाधना को बनाया गया है, जिसके माध्यम से किसी व्यक्तिविशेष या देवविशेष को पुनः-पुनः स्मरण किया जाता रहे। कालान्तर में, लम्बे समय से किए जा रहे सभी प्रयासों का फल, किसी भी समय, एकसाथ प्रकट हो सकता है, कुण्डलिनीजागरण के रूप में। कुण्डलिनी-जल धीरे-धीरे गर्म होता है, और अंत में उबल कर, कुण्डलिनीजागरण के रूप में प्रस्फुटित हो जाता है। उसके बाद वह कुण्डलिनीजल फिर से ठंडा हो जाता है, और पुनः उबाल खाने के लिए, बहुत समय ले लेता है। जिस तरह से जल एकदम से व सीधा नहीं उबलता, उसी तरह कुण्डलिनीजागरण भी पूर्व की तैयारी के बिना, एकदम से या अचानक नहीं होता।

प्रेमयोगी वज्र के जीवन का बहुत बड़ा भाग पहाड़ों की रम्यता में ही बीता था। पहाड़ों में अधिकाँशतः मौसम के बहुत तीखे झटके लगते रहते हैं, जिसे हम आम भाषा में सर्द-गर्म लगना भी कहते हैं। दिन की धुप में अत्यधिक गर्मी व रात्रिकाल में अत्यधिक ठण्ड पड़ना तो जैसे वहाँ की एक आम बात है। उससे भी, संवेदनशील प्रेमयोगी वज्र को बहुत मानसिक आघात लगता था। परन्तु शविद के बलवान अद्वैत का आश्रय लेने के बाद, उसकी परेशानी बहुत कम हो गई थी, और साथ में, उससे उसकी कुण्डलिनी भी पुष्ट हो रही थी। ऐसी बदलती परिस्थितियों में तो शविद, बड़ी शीघ्रता के साथ, द्वैतरोग के लिए रामबाण का काम करता है, क्योंकि यह तो सिद्ध ही है कि द्वैताद्वैत ही वास्तविक अद्वैत है, और यह भी कि जितना अधिक द्वैत होता है, उतना ही अधिक लाभ शविद के अद्वैत से मिलता है। पहाड़ों में, इस प्रकार के व अन्य प्रकारों के भी, द्वैत के बहुत से झटके (duality-shocks) लगते रहते हैं, तभी तो वहाँ पर अद्वैतभाव से, अतिशीघ्र फल मिलता है। संभवतः इसीलिए पहाड़ों को तपोभूमि कहा जाता है। यद्यपि अंत में, द्वैत को पूर्णतया छोड़कर, शान्ति को अपनाकर, पूर्णनिष्ठा से योगसाधना में तो जुटना ही पड़ता है, तभी कुण्डलिनीजागरण होता है। वास्तव में ऐसा स्वयं ही हो जाता है।

कुण्डलिनीसाधना से योगी अनासक्ति भी सीख जाता है। कोई देवविशेष या व्यक्तिविशेष, साधक की कुण्डलिनी के रूप में तभी प्रतिष्ठित होता है, यदि उसके प्रति आसक्ति न हो। आसक्तियुक्त चिंतन से, शरीर की कार्यप्रणालियाँ दुष्प्रभावित होती हैं, अतः किसी चित्र का ध्यान, उसके प्रति आसक्ति के साथ, अपने मन में निरंतर रूप से नहीं किया जा सकता। इसी तरह, कुण्डलिनीचित्र के बलपूर्वक व निरंतर ध्यान से, उसके प्रति आसक्ति स्वयं ही नष्ट हो जाती है, ताकि शरीर आसक्तिजन्य दुष्प्रभाव से बचा रह सके। साथ में, क्योंकि कुण्डलिनीचित्र के रूप में अधिकाँशतः देव, गुरु आदि इन्द्रियातीत पुरुष ही होते हैं, इसलिए उनके प्रति अनासक्ति होना तो स्वाभाविक ही है। इससे साधक को दैनिक जीवन में भी आसक्ति के महत्त्व का पता चलता है, और वह उसे स्वतः ही अपनाने लगता है।

रोचक पुस्तकों को, विशेषतः पुराणों आदि की तरह रोचक, काल्पनिक व आध्यात्मिक पुस्तकों को पढ़ने से मन का कुण्डलिनीचित्र उनके कथा-प्रसंगों आदि के ऊपर आरोपित होता रहता है। उससे कुण्डलिनी निरंतर रूप से पुष्ट होती रहती है। यदि दूरदर्शन, आकाशवाणी आदि पर वैसे प्रसंगों को वास्तविक दृष्यरूप में देखा-सुना जाए, तब वैसा नहीं होता, क्योंकि तब प्रत्यक्ष देखे

जाने वाले चित्र मन के कुण्डलिनीचित्र के ऊपर हावी हो जाते हैं, जिससे कुण्डलिनी मन से ओझल हो जाती है।

इस पुस्तक में वर्णित की गई सभी बातें व घटनाएँ प्रेमयोगी वज्र को वास्तविक भी लगती हैं, व काल्पनिक भी। इसी तरह, उसे कभी-कभी ये वास्तविक प्रतीत होती हैं; तो कभी-कभी स्वप्न की तरह काल्पनिक, काल्पनिक विशेषतः भौतिक परिवेश व भौतिकवादी/द्वैतयुक्त मनःस्थिति में । यहाँ तक कि इन तथ्यों व घटनाओं से जुड़े हुए अधिकाँश लोग भी इन्हें कोरी कल्पनाएँ ही ठहरा सकते हैं। वे संभवतः वही लोग होंगे, जो मन के अपार साम्राज्य को नहीं समझते, और स्थूल भौतिकता को ही सब कुछ मानते हैं। ऐसे लोगों की तो आजकल भरमार है। मन की गहराइयों में झाँकने वाले लोग तो आजकल विरले ही हैं। भौतिकरूप से भी अधिक उज्ज्वल, स्पष्ट व वास्तविक यह सारा मानसिक घटनाक्रम, गुरु कृपा व देहपुरुष-चिंतन से प्राप्त द्वैताद्वैत व अनासक्ति का ही परिणाम है।

द्वैताद्वैत-दृष्टिकोण ही देहपुरुष का दृष्टिकोण होता है। वास्तव में द्वैताद्वैत से ही वास्तविक अद्वैत उत्पन्न होता है। द्वैताद्वैत के द्वैत का अर्थ यहाँ पर, सभी युक्तियुक्त/स्वाभाविक मानवीय भावों व कर्मों को बदलते हुए रूप में यथावत स्वीकार करना है; और अद्वैत का अर्थ, अपने को बदलते हुए भावों व कर्मों से अप्रभावित अनुभव करना है। सीधे ही रूप में अद्वैत का आचरण करने से द्वैत कायम रहता है, क्योंकि ऐच्छिक अद्वैत तो द्वैत से ही पोषण प्राप्त करता है, अर्थात एक प्रकार से द्वैत ही होता है। देहपुरुष की तरह द्वैत व अद्वैत, दोनों को एकसाथ अपनाना चाहिए, क्योंकि इससे दोनों नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही, जैसे +१ व- १ को मिलाने से दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इससे स्वतोसिद्ध, स्वाभाविक, अनिर्वचनीय व आनंदमयी अद्वैत स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। यदि द्वैत व अद्वैत दोनों को ही नकारा जाएगा, तब तो पुरुष देहपुरुष के स्वभाव के विपरीत जड़वत हो जाएगा, क्योंकि देहपुरुष की तरह साँसारिक कर्म-व्यवहार के लिए द्वैत भी आवश्यक होता है, व अद्वैत भी। अद्वैत तो देहपुरुष के साथ-साथ सम्पूर्ण प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है ही। क्योंकि देहपुरुष व अन्य सभी प्राकृतिक वस्तु-भावों के बीच में आत्मरूप से कोई भी अंतर नहीं है, अतः सिद्ध होता है कि सृष्टिगत, समस्त प्राकृतिक वस्तु-भावों का वास्तविक आत्मस्वरूप, द्वैताद्वैतस्वरूप ही है। सागर अपने जलस्तर के बदलने के साथ कभी नहीं बदलता। इसी तरह, सूर्य अपनी चमक के स्तर के बदलने के साथ कभी नहीं बदलता। सागर के जलस्तर की तरह, पुरुष का मानसिक स्तर भी निरंतर बदलता रहना चाहिए, तभी तो उसे अद्वैत को लागू करने का अवसर मिलेगा, क्योंकि

कौन कहेगा कि सागर अद्वैतस्वरूप है, यदि उसका जलस्तर एकसमान रहे। यदि पुरुष अद्वैत के नाम पर, मन के दोलन को बलपूर्वक रोककर, मन को एक जैसी स्थिति में बना कर रखने की कोशिश करेगा, तो उसे देहपुरुष-चिंतन से प्राप्त अद्वैतनिष्ठा को धारण करने का सुअवसर ही नहीं मिल पाएगा, और साथ में उसके काम भी दुष्प्रभावित हो जाएंगे। वास्तविक अद्वैत वह है, जो द्वैताद्वैत के निरंतर व लम्बे काल के प्रयास के बाद स्वयं व अनायास ही, आनंदमयी शून्यता के साथ उत्पन्न हो जाए। उदाहरण के लिए, प्रेमयोगी वज्र की प्रेमिका (consort) के सखी-समूह में भिन्न-भिन्न रूप-रंगों की देवीरानियाँ थीं। प्रेमयोगी वज्र यद्यपि सभी के मध्य के अंतर को भली भांति समझता था, परन्तु वह किसी के सामने उसे प्रकट नहीं करता था, ताकि किसी भी देवीरानी को तनिक भी आभास न हो पाता, व उनमें से किसी के भी मन को जरा भी ठेस न पहुंचती। यही तो वास्तविक अद्वैत अर्थात द्वैताद्वैत है, जिसमें द्वैत को अच्छी तरह से समझते हुए भी अद्वैतमय दृष्टिकोण अपनाया जाता है। अतः हम देख सकते हैं कि अधिकाँश लोग अद्वैत को गलत ढंग से समझते हैं।

यह शविद नामक दर्शन वैदिक-पौराणिक विषयों में भी सकारात्मक रूप से रुचि उत्पन्न करता है। पुराणों का अनुसरण तो लोग कभी-कभी ही करते हैं, विशेषतः जब कोई विशेष धार्मिक आयोजन, जैसे कि साप्ताहिक पुराणयज्ञ आदि चल रहा हो। प्रतिदिन तो कोई भी पुराणों से अद्वैतलाभ की प्राप्ति नहीं करता। इस कारण से कोई विशेष आध्यात्मिक उन्नति प्रतीत नहीं होती, अपितु एकसमान जैसा आध्यात्मिक स्तर बना रहता है। यद्यपि जो लोग नित्यप्रति पुराणों का पठन-श्रवण करते हैं, उनका अद्वैत भाव सदैव विद्यमान रहता है। साप्ताहिक पुराणयज्ञों से पुराणों को नित्यप्रति पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः समाज को हर प्रकार से स्वस्थ बनाए रखने के लिए, साप्ताहिक पुराणयज्ञ होते रहने चाहिए। शविद, पुराणों से भी अधिक अद्वैतकारी प्रतीत होता है, क्योंकि इसका चिंतन व अनुसरण स्वयं ही नित्य-निरंतर होता रहता है, जिसका कारण है, इसका हमारे शरीर में ही नित्य-निरंतर स्थित रहना; इसीलिए यह कभी भी विस्मृत नहीं होता। अंत में, दोनों का मिश्रित उपयोग ही सर्वोत्तम प्रतीत होता है, क्योंकि 'यत्पिन्डे तत्ब्रम्हाण्डे' के अनुसार, पुराणों के सभी वस्तु-भाव पाठक के शरीर के ऊपर आरोपित होते रहते हैं, जिससे जीवन में सर्वोत्तम प्रकार का अद्वैत दृष्टिकोण सदैव बना रहता है। यह दर्शन एक चीज यह सिखाता है कि मानवीय प्रवृत्ति के बिना, अनासक्ति या द्वैताद्वैत का ज्यादा प्रायोगिक/व्यावहारिक महत्त्व नहीं है।

यह बताता है कि देहपुरुष की तरह ही, मानवतापूर्ण प्रवृत्तियों के बीच में भी द्वैताद्वैत को कायम रखना ही परम फलप्रद व परम सुन्दर है, परम फलप्रद व परम सुन्दर है।

उठ जाग होनहार, प्रकाश हो या अन्धकार।

बाँध तरकस पीठ पर, भर तीर में फुँकार।।

झुका दे शीश दोनों का, कर न पाए फिर कभी भी वार।

उठ जाग होनहार, प्रकाश हो या अन्धकार।।

इस पुस्तक को पढ़ने के लिए आपका धन्यवाद।

शुभमस्तु।

प्रेमयोगी वज्र द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें~

1) Love story of a Yogi- what Patanjali says
2) Kundalini demystified- what Premyogi vajra says
3) कुण्डलिनी विज्ञान- एक आध्यात्मिक मनोविज्ञान
4) The art of self publishing and website creation
5) स्वयंप्रकाशन व वैबसाईट निर्माण की कला
6) कुण्डलिनी रहस्योद्घाटित- प्रेमयोगी वज्र क्या कहता है
7) बहुतकनीकी जैविक खेती एवं वर्षाजल संग्रहण के मूलभूत आधारस्तम्भ- एक खुशहाल एवं विकासशील गाँव की कहानी, एक पर्यावरणप्रेमी योगी की जुबानी
8) ई-रीडर पर मेरी कुण्डलिनी वैबसाईट
9) My kundalini website on e-reader
10) शरीरविज्ञान दर्शन- एक आधुनिक कुण्डलिनी तंत्र (एक योगी की प्रेमकथा)
11) श्रीकृष्णाज्ञाभिनन्दनम
12) सोलन की सर्वहित साधना
13) योगोपनिषदों में राजयोग
14) क्षेत्रपति बीजेश्वर महादेव
15) देवभूमि सोलन
16) मौलिक व्यक्तित्व के प्रेरक सूत्र
17) बघाटेश्वरी माँ शूलिनी
18) म्हारा बघाट
19) भाव सुमन: एक आधुनिक काव्यसुधा सरस
20) Kundalini science~a spiritual psychology

इन उपरोक्त पुस्तकों का वर्णन एमाजोन, ऑथर सेन्ट्रल, ऑथर पेज, प्रेमयोगी वज्र पर उपलब्ध है। इन पुस्तकों का वर्णन उनकी निजी वैबसाईट https://demystifyingkundalini.com/shop/ के वैबपेज "शॉप (लाईब्रेरी)" पर भी उपलब्ध है। साप्ताहिक रूप से नई पोस्ट (विशेषतः कुण्डलिनी से सम्बंधित) प्राप्त करने और नियमित संपर्क में बने रहने के लिए कृपया इस वैबसाईट,"https://demystifyingkundalini.com/" को निःशुल्क रूप में फोलो करें/इसकी सदस्यता लें।

सर्वत्रं शुभमस्तु।